अध्याय १

नव्यन्याय - एक परिचय

नव्यन्याय के व्यापक प्रभाव के कारण भारतीय विद्या तथा दार्शनिक मतप्रणालियों के अध्येताओं के लिए नव्यन्याय का व्यापक परिचय नितान्त आवश्यक है। परन्तु जो लोग परंपरागत अध्ययन से वंचित रहे हैं उनकेलिये नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थों का परिचय पाना अत्यन्त दुरूह है। उन परिभाषिक पदार्थों की सरल तथा सुबोध भाषा में व्याख्या आवश्यक है। इस दृष्टि से कतिपय विद्वानों ने इस प्रकार का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, भीमाचार्य झळकीकर का **न्यायकोश**, इंगल्स का Materials for the Study of Navya-nyāya logic , डॉ. दिनेशचन्द्र गुहा का Navya-nyāya System of Indian logic तथा डॉ. मतिलाल, डॉ. गोपिकामोहन भट्टाचार्य आदि की कृतियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। तथापि इन ग्रन्थों के बावजूद अपेक्षित प्रगति नहीं हो पायी है। इसमें और प्रगति की आवश्यकता को महसूस करते हुए हमने यह प्रयास आरम्भ किया है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में 'न्याय' शब्द का प्रयोग प्राचीनन्याय, बौद्धन्याय जैनन्याय तथा नव्यन्याय के रूप में बहुधा होता है। 'न्याय' शब्द का अर्थ है युक्ति या तर्क। 'न्याय' शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति है ''नीयते अनेन इति न्यायः- नीयते, परिच्छिद्यते (पदार्थाः) अनेन इति।'' न्याय शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक इण् (गतौ) धातु से निष्पन्न होता है। अर्थात्, जिसके आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचा जाय वह न्याय है। महर्षि वात्स्यायन[१] ने न्याय की परिभाषा करते हुए कहा है 'प्रमाणों के आधार पर अर्थ की परीक्षा का नाम न्याय है'। परन्तु न्याय शब्द मुख्यतः गौतम के दर्शन के लिये रूढ हो गया है। महर्षि गौतम द्वारा प्रतिपादित पञ्चावयवों के लिये न्याय शब्द का प्रयोग कर वात्स्यायन ने उसे 'परमोन्याय'[२] संज्ञा प्रदान की और पञ्चावयव तथा उस प्रणालि से दार्शनिक प्रमेयों की स्थापना करनेवाले गौतमीय दर्शन को न्याय दर्शन के रूप में स्थापित किया।

गौतम के कई शताब्दियों के पश्चात् न्यायदर्शन दो शाखाओं में विभक्त हो गया- नव्य तथा प्राचीन। बौद्धों तथा जैनों के साथ लगभग हजार वर्ष के वैचारिक संघर्ष के फलस्वरूप गौतमीय नैयायिकों ने अपने विवेचन को प्रमाणमीमांसा पर केन्द्रित कर दिया, जिसके फलस्वरूप नव्यन्याय का जन्म हुआ। प्राचीन न्याय में पञ्चावयवों के विवेचन के साथ 'वाद' के सभी अंगों के विवेचन के अतिरिक्त पदार्थमीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, तथा ज्ञानमीमांसा भी प्रस्तुत की गयी है, जबकि नव्यन्याय प्राचीन नैयायिकों द्वारा विवेचित कथा (वाद, जल्प, वितण्डा) के सिद्धांतों की उपेक्षा न करते हुए प्रमाण-मीमांसा पर मुख्यतः अपना अवधान केन्द्रित करता है। प्रमाणमीमांसा जिस प्रकार से पारिभाषिक शब्दावली में नव्यन्याय में विवेचित है वैसी शायद किसी भी अन्य न्याय में उपलब्ध नहीं होती।

नव्यन्याय ने पदार्थों के विशेष रूपों का अन्वेषण कर उनकी सर्वशुद्ध परिभाषा करने पर विशेष जोर दिया, ताकि उनके विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति या सन्दिग्धता का अवसर ही न रहे। नव्यनैयायिक मोक्ष या अन्य पुरुषार्थ के प्रति आग्रह को छोड़ कर 'वस्तु' के यथार्थ बोध के प्रति अधिक संवेदनशील हैं।

नव्यन्याय की प्रवृत्ति प्रत्येक पदार्थ को विशेष शब्दों में सन्दिग्धता को अवसर न देते हुए व्यक्त करने की रही है। नव्यन्याय प्रसंगवशात् वस्तु की लम्बी परिभाषा दे कर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को निःसन्दिग्धता के साथ प्रस्तुत करने में प्राचीन न्याय की अपेक्षा अधिक सक्षम है।

उदाहरणार्थ, हम गौतम, गंगेश, रघुनाथ तथा गदाधर द्वारा दिये गये 'प्रतिज्ञा' के लक्षणों को ले सकते हैं। गौतमसूत्र है 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'[३] इस सूत्र में 'प्रतिज्ञा' की उपर्युक्त परिभाषा प्रतिज्ञा के उस स्वरूप को प्रस्तुत नहीं करती जो वाद-विवाद के अवसर पर वादी के तात्पर्य को सन्देह-रहितता के साथ अभिव्यक्ति देती है। गौतम के समान वात्स्यायन और उनके टीकाकारों ने भी इस दृष्टि से पर्याप्त प्रयास किया हुआ दिखायी नहीं देता।

नव्यन्याय के प्रतिष्ठापक गंगेश ने प्रतिज्ञा के स्वरूप के बारे में लम्बी चर्चा प्रस्तुत की है जिसका भाव है कि गौतम का उपर्युक्त प्रतिज्ञा का लक्षण अपूर्ण है, क्योंकि साध्यनिर्देश का अर्थ है 'साध्यकथनमात्र' जो अपने मौलिक स्वरूप में 'वाद' में किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं है।

गंगेश ने प्रतिज्ञा का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है-"उद्देश्यानुमिति-हेतु लिङ्गपरामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वे सति उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्त विषयक शाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम्"[४]।

तथापि इसमें होनेवाली त्रुटियों का परिमार्जन करने के हेतु रघुनाथ शिरोमणि ने उसमें सुधार कर जो प्रतिज्ञालक्षण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है- "प्रकृतन्यायावयवत्वे सति प्रकृतानुमितिपक्षविशेष्यक, प्रकृताननुमितिसाध्यप्रकारक, प्रकृतानुमिपक्ष-विशेष्यतानिरूपित, प्रकृतसाध्यप्रकारताविलक्षणविषयताशून्य शाब्दज्ञानजनकत्वम्"।[५]

इसके पश्चात् गदाधर ने इसमें भी त्रुटी पाने पर अत्यधिक गम्भीरता से विचार कर कई नये तथ्यों का समावेश करते हुए प्रतिज्ञा का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया- पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेद-कावच्छिन्न प्रकारताकानुमितिप्रयोजक न्यायावयवत्वे सति, पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताकानुमितिप्रयोजक न्यायावयवत्वे सति, पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता-निरूपित, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न, साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताक पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्य-तावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताक, पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित, साध्यता-वच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यवावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताशालिनिश्यचयत्वा-वच्छिन्ननिवर्त्य संशयनिवर्तकावच्छेदक विषयताशून्य शाब्दज्ञानजनक-वाक्यत्वम्"।[६]

यह उदाहरण पाठकों को घबड़ाने के लिए नहीं दिया है। उपर्युक्त रोमान्चित करनेवाली पारिभाषिक पदावली में शब्दार्थ-विवेचन की जो सूक्ष्मता है उसकी झलक दिखाने के लिए उसे प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार की सूक्ष्मता नव्यन्याय की प्रमुख विशेषता है। विषय की सूक्ष्मता को प्रदर्शित करने के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है वही उसका वैलक्षण्य है। इसीलिये नव्यन्याय की भाषा को वादभाषा के रूप में समादर प्राप्त हुआ। यद्यपि अन्यान्य सभी शास्त्रों में पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होता है तथापि नव्यन्याय की यह शब्दावली प्रचलित शब्दावली से पूर्णतया भिन्न है। इसमें मुख्यरूप से प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, विषयता, विषयिता, प्रकारता, प्रकारिता, विशेष्यता, विशेष्यिता, संसर्गता, संसर्गिता, कोटिता, निरूपकता, निरूप्यता आदि, इस शास्त्र में वारंवार प्रयुक्त विलक्षण पारिभाषिक शब्द हैं और वे इस शास्त्र को अन्य सभी शास्त्रों से भिन्न शास्त्र के रूप में स्थापित करते हैं। परन्तु केवल इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के द्वारा पदार्थकथन होने से यह विलक्षण शास्त्र नहीं है। क्योंकि पातञ्जलयोगदर्शन के समाधिपाद में ईश्वर का लक्षण करते हुए कहा गया है-"स पूर्वेषामपि गुरूः कालेनवच्छेदात्।"[७] यहाँ तथा इसके भाष्य में भी 'अनवच्छेदक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। तथापि इसकी दृष्टि की सूक्ष्मता भी इसको अन्यों से भिन्न रूप में स्थापित करती है।

उदाहरण के लिए 'द्वि' और 'द्वित्व' शब्द को ही लें। 'द्वि' शब्द का प्रयोग कभी भी एक व्यक्ति के लिये नहीं होगा, परन्तु 'द्वित्ववान्' शब्द का इस प्रकार का प्रयोग होता है, जबकि द्वि और द्वित्ववान् इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है। यह (एक वस्तु) दो है (अयं द्वौ) हम नहीं कह सकते, परन्तु यह (एक वस्तु) द्वित्ववान् है (अयं द्वित्ववान्) कह सकते हैं। इसका अर्थ है कि सामान्यरूप से द्वि और द्वित्ववान् एकार्थक, प्रतीत होने पर भी एकार्थक नहीं हैं।

लेकिन ऐसा क्यों ? इसका रहस्य नव्यन्याय के आधार पर ही समझा या समझाया जा सकता है। जब हम दो (द्वि) शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह जिस 'द्वित्ववान्' अर्थ को प्रदर्शित करता है वह द्वित्व पर्याप्ति रूप हैं। द्वित्व पर्याप्ति रूप सम्बन्ध से एक-साथ दो व्यक्तियों में ही रहता है, एक व्यक्ति में नहीं। यही कारण है कि यह (एक वस्तु) दो हैं या अयं द्वौ इस वाक्य का सार्थ प्रयोग नहीं होता है। परन्तु जब हम 'यह (एक वस्तु) द्वित्ववान् है' या 'अयं द्वित्ववान्' कहते हैं तो यहाँ द्वित्व गुण का आश्रय बोधित होता है, जिसका अर्थ है कि यह (एक वस्तु) दो वस्तुओं के समुदाय का अंग है और इसलिए उसे दो की पर्याप्ति की आवश्यकता नहीं। उन दो वस्तुओं में से एक वस्तु भी द्वित्व का आश्रय होने से 'यह (एक वस्तु) द्वित्ववान् है' या 'अयं द्वित्ववान्' इस प्रयोग में कोई बाधा नहीं है। जब हम कहते हैं यह (एक वस्तु) दो नहीं है' या 'अयं न द्वौ' तब उसका अर्थ होता है कि एक व्यक्ति में द्वित्व पर्याप्ति रूप से नहीं है, परन्तु 'अयं द्वित्ववान्' का अर्थ है कि एक व्यक्ति में भी द्वित्व संख्या समवाय सम्बन्ध से रहती है।

नव्यन्याय की इस पारिभाषिक तकनीकी ने उसके अध्येताओं के लिए अनुत्साह

का सृजन किया है। नव्यन्याय के पारम्परिक अध्ययन में अध्यापक उन-उन ग्रन्थों के अध्ययन के काल में ही उन शब्दों के अर्थ स्पष्ट करते हुए उनके अभ्यास द्वारा उनका यथावत् परिचय कराते हैं। परन्तु जो परम्परा से अध्ययन के बिना नव्यन्याय का अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से करना चाहते हैं उनके लिये उनका परिचय पाना अत्यन्त कष्टकर प्रतीत होता है। और जबतक पारिभाषिक शब्दों के अर्थ की समझ में नहीं आते तबतक उनके उपयोग से अर्थच्छटा की सूक्ष्मता भी कैसे उत्पन्न होती है इसका भी पता नहीं लगता। परिणामतः इस दूरी से ही लोग नव्यन्याय से घबड़ाते हैं।

गौतम के **सूत्र**, वात्स्यायन का **भाष्य**, उद्योगकर का वार्तिक, वाचस्पति की **तात्पर्यटीका** और उदयन की **परिशुद्धि** आदि ग्रन्थ प्राचीन न्याय के माने जाते है, और गंगेश की कृति **तत्त्वचिन्तामणि** से प्रारम्भ होनेवाला न्याय नव्यन्याय कहलाता है। प्राचीन तथा नव्यन्याय के भेद के विषय में कुछ विचारकों की मान्यता है कि आत्मादि प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्रक्रिया के प्रतिपादक गौतम आदि ने निरात्मवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि को स्वीकार करने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि का खण्डन करने के लिए आत्मा की अनुमान के द्वारा सिद्धि प्रदर्शित की। तदर्थ परार्थानुमान-स्वरूप न्याय के पूर्वागों तथा उत्तरोंगों का वर्णन करनेवाले **सूत्र, भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका** तथा **परिशुद्धि** आदि ग्रन्थ प्राचीन हैं तथा प्रमाणमात्र का प्रतिपादन करने वाले गंगेशादि के ग्रन्थ नव्य है। परन्तु प्रमाण मात्र के विवेचन से नव्यन्याय नव्यन्याय नहीं है। प्रमाणों का विवेचन प्रायः सभी दर्शन करते हैं। परन्तु इसकी पारिभाषिक तकनीकी ही इसको नव्यन्याय के रूप में प्रतिष्ठापित करती है।

वैसे देखा जाय तो 'नव्यन्याय' शब्द ही अपने आप में एक पारिभाषिक शब्द है। अलौकिक प्रतिभाशाली गंगेश ने **न्यायभाष्य** और उसकी व्याख्याओं तथा उपव्याख्याओं का मन्थन करके दिङ्नागादि के ग्रन्थों का आलोचन करके उनके सार के रूप में जिस **तत्त्वचिन्तामणि** नामक ग्रन्थ का सृजन किया उससे प्रारम्भ होनेवाला शास्त्र नव्यन्याय के रूप में विख्यात हुआ।

नव्यन्याय की भाषा ही भिन्न नहीं है। उसके सिद्धान्त भी कई स्थलों में प्राचीन न्याय के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। यद्यपि नव्यन्याय मूलरूप से प्राचीन न्याय पर आधारित है, तथापि दृष्टिकोण की भिन्नता से उन दोनों के सिद्धान्तों में जगह जगह पार्थक्य आया है। जहाँतक पदार्थ-विवेचन का प्रश्न है वहाँ नव्यनैयायिकों ने प्राचीन न्याय को मान्य वैशेषिक पदार्थों को विशेष रूप से आत्मसात कर अपने शास्त्र की नींव रखी है।

नव्यन्याय के सृजन के पश्चात् इसका प्रभाव विभिन्न शास्त्रों पर बड़े व्यापक रूप से पड़ा है। इस शास्त्र के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारतीय विद्या के लगभर हर क्षेत्र को इसने प्रभावित यिया है। नव्यन्याय संकल्पनाओं और पारिभाषिक शब्दावली का ठीक परिचय होने के बिना धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, तन्त्रशास्त्र तथा अन्य दर्शनों के कई मान्य ग्रन्थों का अध्ययन सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए मधुसूदन सरस्वती की **अद्वैतसिद्धि**, गंगाभट्ट का भाट्ट **चिन्तामणि**, **चित्सुखी** (चित्सुखाचार्य

कृत न्यायमकरंद की व्याख्या), **दायभागप्रबोधिनी** (श्रीकृष्ण तर्कालंकार की **दायभाग** की व्याख्या), महेश्वर न्यायालंकार की **काव्यप्रकाशव्याख्या**, नागेश भट्ट कृत **परिभाषेन्दुशेखर** तथा **मञ्जूषा**, गंगाधर कविराज की चरकसंहित की व्याख्या **जल्पकल्पतरू** आदि ग्रन्थों को ले सकते हैं। इन ग्रन्थों का तथा इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों के अध्ययन के लिये नव्यन्याय की पूर्वपीठिका, उसके द्वारा प्रस्तुत विभिन्न संकल्पनाएँ तथा पारिभाषिक शब्दावली की जानकारी नितान्त आवश्यक है।

नव्यन्याय में पद-पद पर आनेवाले तथा नव्यन्याय की विलक्षणता को परिपुष्ट करनेवाले उपर्युक्त उधृत और तत्सम पारिभाषिक शब्द ही केवल आचार्य गंगेश की न्याय को देन नहीं है। गंगेश पूर्व भी **कुसुमाञ्जलि** आदि कई ग्रन्थों के रचयिता उदयन ने भी इनका प्रयोग किया है। **न्यायकुसुमाञ्जलि** में उदयनाचार्य ने प्रतियोगिता के स्वरूप को भी परिभाषित किया है।[८] इसलिए गंगेश इन्हें सर्वप्रथम प्रस्तुत करनेवाले नहीं हैं। परन्तु गंगेश का **तत्त्वचिन्तामणि** तथा उसकी टीकाओं और उपटीकाओं में बहुतता से उनका प्रयोग और विवेचन होने से उन्हें नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्द माना जाता है। **तत्त्वचिन्तामणि** की रचना के बाद ही विभिन्न शास्त्रों ने भी इसका प्रयोग शुरू किया। गंगेश ने प्रथम इनको एक विलक्षणता के साथ अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत कर अपने शास्त्र की विलक्षण शास्त्र के रूप में स्थापन की। इसीलिए गंगेश को नव्यन्याय का संस्थापक माना जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस शास्त्र का बीजवपन उदयनाचार्य ने ही किया था। अतः उदयन ही इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। परन्तु इससे आचार्य गंगेश का महत्त्व कम नहीं होता, भले ही आचार्य उदयन नव्यन्याय के प्रवर्तक हों। कारण बीजवपन के पश्चात् उसे पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय आचार्य गंगेश को ही है।

वैशेषिकों के सप्तपदार्थों का प्रचलन भी न्याय के क्षेत्र में उदयन से ही प्रारम्भ हो गया था। आत्मतत्त्व के मनन को मोक्ष के कारण के रूप में स्वीकार किये जाने पर आत्मा के आत्मेतर पदार्थों के भेद के अनुमान के लिये आत्मतर समस्त पदार्थों का ज्ञान आवश्यक होने से नव्यनैयायिकों ने समस्त विश्व का सात पदार्थों में समेटनेवाले वैशेषिकों के सप्तपदार्थों के आधार पर आत्मा को इतर भिन्न सिद्ध करना सुकर समझा है। प्राचीन न्याय के सोलह पदार्थों में समस्त विश्व समाविष्ट नहीं है। यद्यपि उसके द्वारा स्वीकृत प्रमेय पदार्थ में विश्व का समस्त प्रपञ्च समाविष्ट होता है तथापि सूत्रस्थ प्रमेय पद पारिभाषिक है और इसमें योगार्थ का ग्रहण नहीं होता है। सूत्रस्थ प्रमेय पद आत्मादि द्वादश पदार्थों का वाचक है आत्मा तथा आत्मेतर सकल पदार्थ वैशषिको के ही सात पदार्थों में समाविष्ट होते हैं, जैसी कि वैशषिकों की प्रतिज्ञा है। जबकि न्यायसूत्रकार के पदार्थों में जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ समाविष्ट नहीं है। इसीलिये भाष्यकार वात्स्यायन ने स्वयं कहा है कि वैशेषिकों के सप्तपदार्थान्तर्गत असंख्य प्रमेय हैं।[९] अतः आत्मा का इतर-भिन्न के रूप में आनुमानिक प्रत्यय इतर-भेद के प्रतियोगी इतर पदार्थ के ज्ञान के बिना सम्भव न होने से नव्यनैयायिकों ने सम्पूर्ण विश्व को समाविष्ट कर लेनेवाली

वैशेषिको की पदार्थमीमांसा को प्राथमिकता प्रदान की ।

गंगेश से प्रारम्भ होनेवाला नव्यन्याय का सम्प्रदाय तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्याओं और उपव्याख्याओं के साथ आगे बढ़कर के नदी के प्रावृट्कालीन प्रवाह के समान वेगवान् होकर मध्यकालीन बौद्धादि विचारधारोओं को छिन्न-भिन्न कर के सम्पूर्ण भारतीय विद्या के क्षेत्र में प्रवाहशील बना ।

गंगेश के बाद नवद्वीप के वासुदेव सार्वभौम, तार्किक शिरोमणि रघुनाथ, भवानन्द सिद्धान्तवागीश, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने न्यायगंगा को अपनी अपनी कृतियों से प्रवहणशीलता प्रदान की । इनके अतिरिक्त मिथिला के पक्षधर मिश्र, वर्धमान उपाध्याय, यज्ञपति उपाध्याय, रूचिदत्त, भगीरथ ठाकुर, महेश ठाकुर आदि ने नव्यन्याय के ग्रन्थों की रचना कर के इस सम्प्रदाय को गौरवान्वित किया ।

नव्यन्याय की मतप्रणाली तथा उसके द्वारा प्रणीत पारिभाषिक पदार्थों के सम्बन्ध में उपयुक्त पृष्ठभूमि के रूप में उपर्युक्त संक्षिप्त प्रास्ताविक के पश्चात् नव्यन्याय के द्वारा अपनायी गयी परिभाषा के सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण किस तरह का रहा यह समझना लाभप्रद होगा । इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं और उनका विवेचन किये बिना नव्यन्याय-प्रणीत पारिभाषिक पदार्थों की चर्चा करना तथा उसका दार्शनिक और वैचारिक महत्त्व समझ लेना लाभप्रद नहीं हो सकता । इसलिये नव्यनैयायिकों के द्वारा अपनायी नयी परिभाषा के पीछे उनकी जो दृष्टि कार्यरत रही उसकी चर्चा करेंगे।

नव्यन्याय का परिभाषा-विषयक दृष्टिकोण

नव्यन्याय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पाठकों के सामने रखी । इस अध्याय में नव्यन्याय का परिभाषा-विषयक दृष्टिकोण संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करना चाहते हैं ।

(भाषा या शब्द मानव को प्रकृति की अनुपम देन है । शब्द से मनुष्य वस्तु ओं के विषय में परिचय प्राप्त करता है तथा विचारों का सम्प्रेषण करता है । माता-पिता, गुरूजनों आदि के शब्द-प्रयोग के आधार पर ही मानव प्राणि सांसारिक पदार्थो का ज्ञान प्राप्त कर उनका व्यवहार करता है। यदि भाषा न होती तो भाषिक बोध के न होने से अन्धे के समान मानव लोक-व्यवहार में असमर्थ हो जाता । इसलिये दण्डि ने कहा है -

> इदमन्धं तमःकृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥[१०]

विचार करने पर दण्डि की उपर्युक्त उक्ति सत्य प्रतीत होती है । सर्वप्रथम बाल्यावस्था में माता-पिता के शब्द प्रयोग से वस्तुओं का परिचय प्राप्त होता है । उसके अनन्तर विद्यालय, महाविद्यालय में गुरुओं के अध्यापन से अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है । शब्द-प्रयोग से ही अपने अज्ञान तथा संशय को व्यक्त कर के ज्ञान-सम्पादन का रास्ता प्रशस्त किया जाता है । गुरुओं के अध्यापन तथा ग्रन्थों के अध्ययन से मानव ज्ञान की गरिमा को आत्मसात् कर के लौकिक विषयों में निष्णात बनता है । शब्दमय ज्ञानराशि से प्राप्त सदसद्विवेक के फलस्वरूप मनुष्य हेयोपादेयतत्वों को समझ कर अनुकूल

के प्रति आग्रही तथा प्रतिकूल के प्रति विद्वेषी बनता है।

इस प्रकार मानवीय जगत् का बहुत सारा लौकिक और अलौकिक व्यवहार शब्द पर आधारित है। जैसा कि आचार्य दण्डि ने कहा है -

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥[१२]

शब्द से होनेवाले अर्थ के अन्वय के ज्ञान को ही शाब्दबोध कहते हैं। प्रात्यक्षिक, आनुमानिक, मानस आदि बोध के अनेक प्रकार होते हैं। जिसमें शब्द बोध का प्रधान रूप से माध्यम बनता है या जो बोध मुख्यतः शब्द से उद्भूत होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शब्द को मात्र सुनने से शाब्दबोध नहीं होता। उसकी एक शास्त्रीय प्रक्रिया होती है। सबसे पहले व्यक्ति किसी भी भाषा के शब्द को सुनता है। तदनन्तर शब्द उससे सम्बन्धित अर्थ को सुननेवाले व्यक्ति के मानस-पटल पर उपस्थित करता है और उसके बाद उपस्थित अर्थों के परस्पर अन्वय या सम्बन्ध का उस व्यक्ति को ज्ञान होता है। इसी प्रकार के सम्बन्ध या अन्वय के ज्ञान को शाब्द बोध या अन्वय-बोध कहा जाता है। किसी भी वाक्य को सुनने पर उस वाक्य में कथित पदार्थ हमारे लिये वाक्य सुनने के पहले पूर्वज्ञात ही होते है, या होने चाहिये। केवल उन पदार्थों का अन्वय नूतन होता है, जो कि हमें नये रूप में ज्ञात होता है। परन्तु जो भाषा हमें आती है उसी के पदों को या शब्दों को सुनने पर हमें शाब्दबोध होता है, और जो भाषा हमें नहीं आती उसके शब्दों को सुनने पर शाब्दाबोध नहीं होता। इसका कारण यह है की शब्द में अपने अर्थ का बोध कराने का एक सामर्थ्य होता है। इस सामर्थ्य से युक्त शब्द सार्थक तथा उससे रहित शब्द निरर्थक माने जाते है। उस सामर्थ्य का ज्ञान रहने से अज्ञात भाषा के शब्दप्रयोग सुनने के बावजूद उनसे शाब्दबोध नहीं होता। शब्द के अर्थविषयक बोध के इसी सामर्थ्य को नैयायिक वृत्ति[१३] कहते है। तथा उस वृत्ति को वे संकेत (शक्ति) और लक्षणा के दो रूपों में स्वीकार करते हैं।

साहित्यिक वर्ग[१४] के लोग उपर्युक्त और नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत संकेत (शक्ति) और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना को भी शब्द की स्वतन्त्र वृत्ति मानते हैं। नैयायिक व्यञ्जना से होनेवाले बोध को शब्दज्ञान से होनेवाला अन्वय बोध न मानकर उसे आनुमानिक बोध मानते है।

पद-वृत्ति पदार्थ-बोध को उत्पन्न करनेवाली शक्ति होते हुए भी यह अग्नि में रहनेवाली दाहकता शक्ति से भिन्न स्वभाव की है। अग्नि में ज्वलनशक्ति या ज्वलन का सामर्थ्य हमें अज्ञान रहने पर भी अग्नि अपने सम्पर्क में आनेवाले किसी भी ज्वलनशील पदार्थ को भस्मसात् करता है। परन्तु पद की वृत्तिरूप शक्ति यदि हमें अज्ञात है, तो उससे होनेवाला पदार्थ-बोध भी अज्ञात ही हुआ करता है। अतः जो व्यक्ति पद की पदार्थ-स्मारक शक्ति को जानता है उसे ही उक्त पद के श्रवण के बाद पदार्थ का स्मरण होकर पदार्थों के अन्वय का बोध होता है।

नैयायिकों के द्वारा पद-संकेत भी दो मुख्य प्रकार का माना गया है - आजानिक

और आधुनिक ।[१५] आजानिक संकेत से तात्पर्य उस संकेत से है जो लौकिक पुरुष से कल्पित न होकर परमेश्वर द्वारा कल्पित या अनादि है । इसी आजानिक संकेत को नैयायिक प्रधानतः शक्ति कहते है [१६] आधुनिक संकेत तथा लक्षणा शब्द की इस प्रकार की शक्ति से भिन्न वृत्तियाँ हैं ।

मीमांसाकों के मत में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध के रूप में ग्रहण किय जाता है तथा यह सम्बन्ध या शक्ति-रूप पदार्थ एक स्वतंत्र पदार्थ है ऐसा भी माना जाता है ।

आलंकारिक अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों को ही शक्ति कहते है, जबकि नैयायिक केवल अभिधा-वृत्ति को ही शक्ति कहते हैं ।

संकेत (शक्ति) को समझने के अनेक उपाय का साधन बतलाये गये हैं [१८]

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यायहारतश्च ।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इनके उदाहरण **न्यायसिद्धान्त मुक्तावली** आदि ग्रन्थों में स्पष्टता से प्रतिपादित हैं और जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि उनका अध्ययन वे उक्त ग्रन्थों से करें ।

संकेत दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है-"इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो" तथा 'यह अर्थ इस शब्द वे होनेवाले बोध का विषय हो' याने, विशिष्ट शब्द से विशिष्ट अर्थ का ही बोध होगा तथा विशिष्ट अर्थ का बोध कराने के लिये विशिष्ट शब्द का ही उपयोग करना होगा । उदाहरणार्थ, 'गो' शब्द से गाय (सास्नादि से युक्त पशु) ज्ञान हो, तथा उपर्युक्त सास्नादि से युक्त पशु गो शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध का विषय हो । इस प्रकार की ईश्वर इच्छा को या अनादि संकेत को नैयायिक आजानिक संकेत मानते हैं। अतः आजानिक संकेत से जो शब्द जिस अर्थ के बोध को उत्पन्न करता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक माना जाता है । जैसे, मनुष्य शब्द मनुष्यरूप बुद्धिमान प्राणि रूप अर्थ को प्रस्तुत करता है, अतः मनुष्य शब्द उक्त अर्थ का वाचक होता है । क्योंकि ईश्वर-संकेत शक्ति है तथा शक्ति के द्वारा ही अर्थ-बोधक पद को न्याय में वाचक माना जाता है । इसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य गदाधर[१९] ने किया है । पारिभाषिक पद पारिभाषिक ही होता है । उसे नैयायिक वाचक नहीं मानते ।

अनेक अवसरों पर शक्त पदों के प्रयोग से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है, अथवा प्रयुक्त शक्तपदों से व्यक्त किये गये पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं होता हैं । परंतु वक्ता के तात्पर्य को समझकर वहाँ शक्यार्थ सम्बन्ध रूप लक्षणा [२०] नामक वृत्ति के आधार पर लक्ष्यार्थ की उपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है । लाक्षणिक अर्थ के बोधक शब्द को लक्षक तथा उससे बोध्य अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते है । उदाहरणार्थ, लक्षणा को व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण अनेक बार दिया जाता है -"गंगायां घोषः" (गंगा पर अहीर का घर है) । इस वाक्य के 'गंगा' पद से उसके शक्यार्थ गंगा-प्रवाह का बोध होने पर उस प्रवाह का घोष पदार्थ (अहीर के घर) के साथ आसानी से सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है । अतः गंगा पद से लक्षणा के आधार पर गंगा से सम्बन्धित
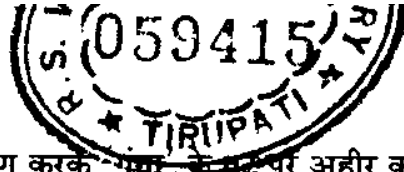
उसके तट का ग्रहण करके [illegible] पर अहीर का घर है यह अन्वय बोध किया जाता है। यहाँ 'गंगा' पद लक्षक तथा गंगा तट लक्ष्यार्थ माना जाता है।

दूसरे प्रकार का संकेत परमेश्वर से भिन्न किसी भी व्यक्ति के द्वारा कल्पित होता है, या वह अनादि नहीं हुआ करता। वह किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा के द्वारा प्रयुक्त किया हुआ होता है और इसी प्रकार के संकते को 'परिभाषा''[२१] कहते हैं। इस संकेत के द्वारा जो पद जिस अर्थ विशेष को व्यक्त करता है उस पद को पारिभाषिक अर्थात् परिभाषा से सम्बन्धित पद तथा उससे अभिव्यक्त पदार्थ को, वह परिभाषा से सम्बन्धित होने की वजह से, पारिभाषिक पदार्थ कहा जाता है। संक्षेपतः, पारिभाषिक पदार्थ माने पारिभाषिक पद से अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ है।

नैयायिक पद चार प्रकार के होते हैं ऐसा मानते है [२२] योग, रूढ, योगरूढ तथा योगिकरूढ। इनमें से योग की अपेक्षा न रखने वाले संकेत वाले पद को पारिभाषिक कहते है [२३] 'मण्डप' पद योग है क्योंकि यह पद 'मण्ड' और 'पाति' इन दो भिन्न शब्दों के योग से बना है। इस शब्द के संकेत को समझने के लिये इस शब्द के घटक-शब्दों के संकेती को समझना आवश्यक होता है उकर्युक्त 'मण्डप' पद का संकेत योग के संकेत की अपेक्षा रखता है। अतः वह 'योगानपेक्ष्य' संकेत नहीं है और इसलिए वह पारिभाषिक भी नहीं है। पारिभाषिक पद रूढ पद का ही एक प्रकार है। रूढ पद [२४] नैमितिक, पारिभाषिक तथा औपाधिक भेद से तीन प्रकार के होते है। याने हरेक पारिभाषिक पद रूढ पद होता है, किन्तु हरेक रूढ-पद पारिभाषिक नहीं होता।

परिभाषा (योगानपेक्ष्य संकेत) दो प्रकार की होती है लौकिक तथा शास्त्रीय। लौकिक परिभाषा वह है जो किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा लोकव्यवहार के लिये कल्पित होती है या प्रयुक्त की जाती है, जैसे, 'रामनगर', 'सह्याद्रि', 'हरिजन' आदि। शास्त्रीय परिभाषा वह है जो किन्ही शास्त्रकारों के द्वारा शास्त्रीय नियमों या तथ्यों के स्पष्टीकणार्थ संकेतित की हुई होती है, जैसे, विख्यात वैयाकरण पाणिनी के द्वारा प्रयुक्त 'नदी', 'वृद्धि', 'गुण' आदि ।

आचार्य गदाधर[२५] के अनुसार आधुनिक संकेत ही परिभाषा का लक्षण है। अतः परिभाषा एक ही प्रकार की होती है, चाहे वह शास्त्रकारों के द्वारा संकेतित हो या सामान्य व्यक्ति के द्वारा। उसका लौकिक और शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार का वर्गीकरण अनावश्यक तथा गौरवोत्पादक है। वे परिभाषा को ईश्वर संकेत से भिन्न संकेत के रूप में ग्रहण करते है। इस प्रकार की भिन्नता शास्त्रीय तथा लौकिक परिभाषाओं में समान रूप से विद्यमान होने के कारण उनके मतानुसार उसका द्वैविध्य अनावश्यक है।

'नदी', 'वृद्धि', 'गुण' आदि पाणिनी के द्वारा संकेतित पारिभाषिक पद है। पाणिनीय व्याकरण में 'नदी' पद दीर्घ एकारान्त, ओकारान्त स्त्रीलिंगी शब्द का संकेत करता है, तथा 'वृद्धि' पद आ, आर्. ऐ. औ को संकेतित करता है। इस प्रकार के पारिभाषिक पदों की कल्पना करके जहाँ दीर्घ एकारान्त या ओकारान्त स्त्रीलिंगी शब्द को कहना हो वहाँ उसके प्रतीक की रूप में वे 'नदी' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार

लगभग सभी शास्त्रकारों के द्वारा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग स्पष्टीकरण की सरलता की दृष्टि से तत्-तत् शास्त्रों में किया जाता है।

इसी प्रकार लोकव्यवहार में भी लाघव की दृष्टि से 'गाँव', 'नगर', 'नदी', 'पर्वत', 'जाति', आदि विशेष परिभाषाओं की कल्पना करके उन पारिभाषिक पदों का यथास्थान प्रयोग करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय तथा लौकिक इन दोनों प्रकार के व्यवहारों में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि गाँव, नगर, नदी, आदि (के) नाम पारिभाषिक होते हुए भी व्यक्तियों के उनके पिता के द्वारा रखे गये राम, श्याम, देवदत्त आदि नाम पारिभाषिक नही माने जाते। उन्हें कुछ नैयायिक वाचक ही मानते है। क्योंकि 'बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' यह ईश्वर संकेत होने से वह नाम ईश्वर सांकेतिक पद ही माना जाता है और उसे पारिभाषिक नहीं गिना जाता। न्याय सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर वेदकर्ता होने से सभी वैदिक आदेश ईश्वरीय आदेश है। 'बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' इस वैदिक वाक्य में आया हुआ 'नाम' शब्द नाममात्र का वाचक है जिसमें राम, श्याम, गोविन्द आदि सभी नाम समाविष्ट है। इसलिए राम, श्याम, गोविन्द आदि सभी नामों के पीछे परमेश्वर की इच्छा रहने से वे सभी पद वाचक माने जाते है। परंतु गांधीजी जैसे आधुनिक व्यक्ति-विशेष के द्वारा कल्पित 'हरिजन' इत्यादि संज्ञायें ईश्वरेच्छारूप शक्ति युक्त न होने से उन्हें पारिभाषिक संज्ञा ही माना जाता है। एक ही पद एक अर्थ में वाचक और दूसरे अर्थ में पारिभाषिक हो सकता है। जिस अर्थ में वह ईश्वर संकेतित हो उस अर्थ में वह वाचक होता है तथा जिस अर्थ में वह किसी आधुनिक (याने ईश्वर से भिन्न) व्यक्ति-विशेष के द्वारा संकेतित हो उस अर्थ में वह पारिभाषिक होता है। उदाहरणार्थ, 'पक्षता' पद या 'हरिजन' पद। 'पक्षता' पद पक्ष के स्वभाव के अर्थ में वाचक है परन्तु साध्य संशय या सिपाधयिषा के अभाव से युक्त (साध्य की) सिद्धि के अभाव के अर्थ में पारिभाषिक है। वैसे ही 'हरिजन' पद वैष्णवजन के अर्थ में वाचक है तथा तथाकथित असवर्ण व्यक्ति के अर्थ में पारिभाषिक है।

एक मत के अनुसार यह कहा जाता है कि 'बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' इस साधारण इच्छा के आधार पर पिता के द्वारा रखे गये सभी नाम राम, श्याम, गोविन्द आदि यदि उक्त ईश्वर इच्छा के विषय होने से वाचक माने जाय तो 'शब्द से अर्थबोध हो' इस साधारण इच्छा के विषय सार्थक शब्दमात्र होने से सभी सार्थक शब्दों में भिन्न-भिन्न अर्थो की वाचकता स्वीकार करने पर सभी सार्थक शब्द वाचक ही मानने होंगे, और परिणामतः कोई शब्द पारिभाषिक या लाक्षणिक नहीं होगा। अतः शब्द-विशेष की आनुपूर्वी के आधार पर विशिष्ट प्रकार का ईश्वर सन्केत ही सार्वत्रिकतया स्वीकार करना होगा। इस प्रकार किसी भी भाषा में पारिभाषिक पद ही नहीं होंगे। इसलिये पारिभाषिक संज्ञाओं को इस प्रकार पूर्णतः हटा देने के बजाय यह स्वीकार करना अधिक श्रेयस्कर है कि पिता के द्वारा रखे गये राम, श्याम, देवदत्त इत्यादि नामों में पिता का ही संकेत होता है और इसके कारण पिता के द्वारा रखे गये पुत्र आदि के नाम वाचक

न होकर पारिभाषिक हैं।

परन्तु गदाधर भट्टाचार्य [२६] को यह मत मान्य नहीं है। क्योंकि शक्तिवाद में विशिष्टबोध की इच्छा से ईश्वर-उच्चरित पद को वाचक कहनेवाले के मत के खण्डन में जो वाचकता के लक्षण की अव्याप्ति उन्होने प्रदर्शित की है उससे यह स्पष्ट है कि उक्त नामों में गदाधर को वाचकता ही अभीष्ट हैं, पारिभाषिकता नहीं।

जगदीश तर्कालंकार[२७] ने दो वस्तुओं में न रहनेवाले विशेषण के आश्रय की पारिभाषिक संज्ञा स्वीकार की है। उनके मतानुसार जिस प्रकार आकाश, डित्थ आदि पद पारिभाषिक हैं, परन्तु देवदत्तत्व, रामत्व, श्यामत्व आदि जाति के, आश्रयों-देवदत्त राम, श्याम आदि-में संकेतित देवदत्त, राम, श्याम आदि पद पारिभाषिक ही हैं, क्योंकि ये सभी आधुनिक व्यक्ति (पिता) के द्वारा संकेतित हैं। आधुनिक संकेत शक्ति नहीं है, मात्र नित्य संकेत ही शक्ति है। या यूं कहें, अपरिवर्तनीय संकेत शक्ति है, परिवर्तनीय संकेत परिभाषा है। पिता के द्वारा रखे गये देवदत्त आदि नामों के पीछे ईश्वर-संकेत है ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। ''बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे'' यह वैदिक वाक्य पितृकर्तव्यता का निर्देशक माना गया है। किसी भी पद को शक्त पद बनने के लिये उसे उसके पूर्व भी उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ होना चाहिये। पुत्र-जन्म के अनन्तर पुत्र के लिये तत्काल-प्रयुक्त नाम उसके पूर्व उसके लिये प्रयुक्त नहीं होता और अतः वह वाचक नहीं है, अपितु पारिभाषिक है। इसलिये पिता के द्वारा रखे गये या शास्त्रकारों के द्वारा दिये गये नदी, वृद्धि आदि नामों में सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। इस प्रकार आधुनिक व्यक्ति-विशेष के द्वारा प्रवर्तित नामों के समान शास्त्रकारों के द्वारा कल्पित विशेष अर्थ के प्रतिपादक शब्द समान रीति से पारिभाषिक शब्द हैं।

कहीं-कहीं एक ही शब्द विभिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों के द्वारा प्रयुक्त होता है। वह शब्द उस अर्थ में उस शास्त्र का पारिभाषिक शब्द माना जाता है। जैसे, एक ही 'प्रकृति' शब्द सांख्य दर्शन में मूल प्रकृति अर्थात् सत्त्व रज और तम इन त्रिगुणों की साम्यावस्था के अर्थ में,वेदान्त में माया के अर्थ में, न्याय-वैशेषिक में अदृष्ट के अर्थ में, साहित्यशास्त्र में वस्तु के स्वभाव के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अथवा एक ही 'सत्त्व' शब्द बौद्धदर्शन में अर्थक्रियासामर्थ्य, सांख्यदर्शन में सत्त्वगुण, न्याय में द्रव्य, गुण और कर्म में रहनेवाली सत्ता के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों में अलग अलग अर्थो में प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग सभी शास्त्रों में उन-उन शास्त्रों को संकल्पनाओं को प्रस्तुत तथा स्पष्ट करने में होता है। हरेक शास्त्र की परिभाषा सामान्यतः उस शास्त्र के सांकल्पनिक ढाँचे में ढली हुई होती है। सभी शास्त्रों में एक ही प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि सभी शास्त्रो का सांकल्पनिक ढाँचा एक ही प्रकार का नहीं होता। साथ-साथ उनके प्रतिपाद्य विषय तथा प्रतिपादन के मार्ग भिन्न होते हैं। यदि सभी शास्त्र एक ही प्रकार की संकल्पनाएँ तथा पारिभाषिक शब्दावली को स्वीकार कर ले तो उन्हें शायद एक ही प्रकार का सांकल्पनिक

ढाँचा अपनाना पड़ेगा और दूसरी ओर उनके बौद्धिक विकास के सारे रास्ते अवरुद्ध हो जायेंगे। यह एक आत्मघाती प्रयास होगा और उसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति तथा विकास के अन्यान्य मार्ग भी अवरुद्ध हो जायेंगे। विचार-भिन्नता ही ज्ञान के विकास का आधार है। उसके लिये विभिन्न सांकल्पनिक ढाँचों को अपनाया जाना तथा विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया जाना आवश्यक है।

जहाँ तक नव्यन्याय की पारिभाषिक पदावली का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि नव्यनैयायिकों के ये विशिष्ट शब्द अर्थों के ही प्रतिपादक है। उनके बीच नैयायिकों के द्वारा जिस प्रकार के संकेत को स्वीकार किया गया उसके आधार पर न्याय या अन्य किसी भी दर्शन की संकल्पनाओं का सुस्पष्ट रूप सामने रखा जा सकता है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत परिभाषा को भी उसके सांकल्पनिक ढाँचे की पृष्ठभूमि का आधार मिला है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत परिभाषा का उसके द्वारा स्वीकृत सांकल्पनिक ढाँचे से पूर्णतः अलगाव किया जा सकता है या नहीं इस प्रश्न की चर्चा हम इस ग्रंथ में नहीं करेंगे। यहाँ हमारा मन्तव्य नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक पदार्थों के विवेचन तक ही सीमित है। लेकिन संभवतः यह स्वीकार किया गया है कि नव्यन्याय के द्वारा प्रवर्तित परिभाषा अन्यान्य दार्शनिक तथा वैचारिक परंपराओं से समीप है। शायद यही कारण है कि नव्यन्याय के विकास के साथ उसकी उत्तरोत्तर विकसित हुई पदावली का स्वीकार तथा प्रयोग प्रायः सभी भारतीय विद्याओं के विद्वानों के द्वारा लिखित अन्यान्य ग्रन्थों में किया गया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि किसी भी शास्त्र के सिद्धान्तों का यथोचित स्पष्टीकरण करने के लिये नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत पदावली का प्रयोग करना ही सर्वथा उचित तथा उपयुक्त है। अन्य दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों से नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्द स्वभावतः बिलकुल भिन्न हैं। इस प्रकार की स्वाभाविक भिन्नता के बावजूद सामान्यतः यह स्वीकार किया गया कि नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किसी भी शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों को हानि या क्षति पहुँचाये बिना उन्हें उनका अधिक सूक्ष्मता से अध्ययन तथा चिन्तन किये जाने की ओर अग्रसारित करता है। इसके कारण पर अब संक्षेप में विचार करेंगे।

वैशेषिक जैसे अन्य शास्त्रों में स्वीकृत 'सामान्य', 'समवाय' आदि पारिभाषिक शब्दों के अलावा प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, पर्याप्ति आदि अनेक विचित्र तथा विलक्षण शब्द नव्यन्याय की विशिष्ट देन है। नव्यन्याय में पद-पदपर प्रयुक्त किये गये ये पारिभाषिक शब्द उसकी विलक्षणता को पुष्ट करते हैं तथा इसकी परिपक्वता को सुदृढ आधार प्रदान करते हैं। नव्यनैयायिकों की इसके पीछे की दृष्टि सार्वभौमिकता की रही है। उनका मन्तव्य संभवतः यह रहा कि उनके द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक पदार्थ सम्प्रदाय-निरपेक्ष हैं, जब कि सांख्य आदि अन्य दर्शनों के द्वारा स्वीकृत 'प्रकृति', 'सत्त्व' आदि पदार्थ सम्प्रदाय-निरपेक्ष नहीं है। जैसे पाणिनी के द्वारा प्रणीत पारिभाषिक शब्दावली (संस्कृत जैसी किसी भी) भाषा के व्याकरण का स्पष्टीकरण करने के लिये सभी शास्त्रकारों के द्वारा अपनायी गयी, उसी तरह वैचारिक व्याकरण के स्तर पर नव्यन्याय

के द्वारा प्रवर्तित पारिभाषिक शब्दावली अन्यान्य शास्त्रकारों के द्वारा तत्-तत् शास्त्रों में प्रयुक्त संकल्पनाओं तथा विचारों के स्पष्टीकरण के कार्य में प्रयुक्त की गयी। यही शायद कारण है कि आयुर्वेद से लेकर तन्त्र तक सभी वैचारिक तथा दार्शनिक परंपराओं ने इसे आत्मसात् करके अपने-अपने शास्त्रों को सुदृढ आधार प्रदान किया।

नव्यन्याय के द्वारा प्रवर्तित परिभाषा के स्वरूप का और उसके पीछे रहे दृष्टिकोण का हमने ऊपर संक्षिप्त परिचय पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। इस पृष्ठभूमि पर अब अगले अंश से 'प्रतियोगिता' तथा 'अनुयोगिता' नामक पारिभाषिक पदार्थों से प्रारम्भ कर के नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत अन्यान्य पारिभाषिक पदार्थों की चर्चा का आरम्भ करेंगे।

टिप्पणियाँ

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। न्यायसूत्र, **वात्स्यायनभाष्य** १-१-१

२. तत्रैव

३. **न्यायसूत्र** १-१-३३

४. **तत्त्वचिन्तामणि**, अवयवप्रकरणे

५. **तत्त्वचिन्तामणि दीधिति**, प्रतिज्ञालक्षणे

६. **तत्त्वचिन्तामणिदीधितिगादाधरी**, प्रतिज्ञालक्षणे

७. **पातञ्जलयोगसूत्र**, १-२६

८. अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता। **न्यायकुसुमांजलि**, ३-२

९. अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चापरिसङ्ख्येयम्। **न्यायसूत्रवात्स्यायनभाष्य**, १-१-१०

१०. **काव्यादर्श**

११. वही

१२. गदाधर; संकेतोलक्षणाचाय; पदवृत्तिः। शक्तिवादे

१३. जगदीश; स्यादेतत्, मुखं विकासितस्मितमित्यत्र विकासित पदेन... तस्य लक्षणामूलव्यञ्जनया वृत्त्या बोध्यत इति रूढादिवद् व्यञ्जकमपि शब्दान्तरमास्येयम्। - **शब्दशक्तिप्रकाशिका**

१४. भर्तृहरि; आजानिकश्चाधुनिकः सङ्केतो द्विविधो मतः। नित्य आजानिकस्तत्र (च) या शक्तिरिति गीयते॥ - **वाक्यपदीये**

१५. विश्वनाथ पञ्चानन; शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। साचास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा रूपः। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि**, शब्दखण्डे

१६. जयन्त भट्ट; **न्यायमञ्जरी**, आन्हिक ५

❑❑❑

अध्याय २
प्रतियोगिता

सांसर्गिक प्रतियोगिता

नव्यन्याय में 'प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग अत्यधिक पाया है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत कई पदार्थों की व्याख्या इसी शब्द के आधार पर की जाती है। जैसे, कार्यत्वम् = प्रागभावप्रतियोगित्वम्[१], कारणत्वम् = कार्याव्ययहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्, नित्यत्वम् = ध्वंसाप्रतियोगित्वे सति प्रागभावा-प्रतियोतित्वम्[२], प्रकारत्वम् = भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम[३], व्याप्तिः = सकलसाध्य-वन्निष्ठात्यन्ताभावा-प्रतियोगित्वम[४] इत्यादि इत्यादि। इसके अतिरिक्त विभिन्न पदार्थों के लक्षणों में भी नव्यन्याय में प्रतियोगिता अन्तःप्रविष्ट रहती है ऐसा स्वीकार किया गया है।[५] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतियोगिता' को नव्यन्याय में एक पारिभाषिक पदार्थ के रूप में ही नहीं बल्कि अन्यान्य पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट करने के साधन के रूप में भी स्वीकार किया गया है। अतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'प्रतियोगिता' शब्द का क्या अर्थ है और उसका पदार्थों के स्वरूप के स्पष्टीकरण में किस प्रकार प्रयोग किया जाता है ? नव्यन्याय में प्रतियोगिता मुख्यतः दो प्रकार की स्वीकार की गयी है : सांसर्गिक प्रतियोगिता (संसर्ग याने सम्बन्ध के आधार पर स्पष्ट की जानेवाली) और अभावीय प्रतियोगिता (अभाव के आधार पर स्पष्ट की जानेवाली)। इस अध्याय में सांसर्गिक प्रतियोगिता का विवेचन किया है और अभावीय प्रतियोगिता का विवेचन किया जायेगा।

सामान्यरूप से व्यवहार में भी 'प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे वादविवाद प्रतियोगिता, खेलकुद प्रतियोगिता, चुनाव प्रतियोगिता आदि। यहाँ 'प्रतियोगिता' शब्द का अर्थ है होड़ या स्पर्धा। लगभग यही अर्थ नव्यन्याय में भी स्वीकार किया गया है। लगभग ऐसा इसलिये कहा कि विरोधी में रहने वाली विशेषता के अर्थ में 'प्रतियोगिता' यह शब्द नव्यन्याय में भी प्रयुक्त होता हैं। होड़ या स्पर्धा में विरोध की भावना होने से उसे प्रतियोगिता कहा जाता है। परन्तु न्याय में विरोधी में रहनेवाले धर्म या शक्ति के अर्थ में तो इसका प्रयोग होता ही है। लेकिन सम्बन्धी में रहनेवाली धर्म या शक्ति के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता हैं।

'प्रतियोगी शब्द का सामान्य अर्थ विरोध है। विरोध जिनमें होता है वे सभी समान रूप से प्रतियोगी कहलाते हैं, जैसे किसी भी स्पर्धा में भाग लेनेवाले सभी स्पर्धक एक-दूसरे के प्रतियोगी कहलाते हैं। परन्तु नव्य-न्याय में 'प्रतियोग' यह पारिभाषिक शब्द है और यहाँ जिन दो (वस्तु या पदार्थो) में 'विरोध' बतलाया जाता है उनमें से एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी कहलाता है। 'प्रतियोगिन्' शब्द के बाद भावार्थक 'त्व'

लगाने से प्रतियोगित्व तथा 'तल्' प्रत्यय लगाने से प्रतियोगिता शब्द निष्पन्न होता हैं। 'प्रतियोगित्व' तथा 'प्रतियोगिता' स्थूल रूप से समानार्थक शब्द हैं।

सामान्य रूप से प्रतियोगी शब्द विरोधी के अर्थ में रूढ होने पर भी नव्यन्याय में यह शब्द अभाव के विरोधी (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय के मतानुसार हरेक कार्य उसके प्रागभाव का प्रतियोगी माना जाता है।) तथा सम्बन्ध के सम्बन्धी के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[६] यहाँ एक तो अभाव के द्वारा उसके विरोधी पदार्थ के या तो सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धी के निरूपित किये जाने से तात्पर्य है। इसलिये प्रतियोगी के स्वरूप या धर्म के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'प्रतियोगिता' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं: सांसर्गिक (सम्बन्ध के द्वारा निरूपित) प्रतियोगिता तथा अभावीय (अभाव के द्वारा निरूपित होनेवाली) प्रतियोगिता। सांसर्गिक प्रतियोगिता से मतलब है सम्बन्ध के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला पदार्थ का धर्म या प्रतियोगिता, तथा अभावीय प्रतियोगिता से मतलब है अभाव केद्वारा अभिव्यक्त होनेवाला पदार्थ का धर्म या प्रतियोगिता। यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्यायमतानुसार किसी भी धर्मी का ज्ञान उसके धर्मो के द्वारा होता हैं। लेकिन जिन धर्मो के द्वारा इस प्रकार का ज्ञान होता है वे एक तो अभाव के द्वारा अभिव्यक्त हुए हों या सम्बन्ध के द्वारा। याने धर्मी के धर्म का जो ज्ञान हमें होता है, वह उक्त धर्म एक तो अभाव के द्वारा निरूपित किया जाने से होता है या संबंध के द्वारा। इसलिए अभावीय तथा सांसर्गिक प्रतियोगिता याने धर्म का न्यायशास्त्र में अनन्यसाधारण महत्त्व है।

लेकिन यह 'प्रतियोगिता' क्या वस्तु है ? या कौनसा पदार्थ है ? इसके विषय में नव्यन्याय में बहुत मतभेद हैं। कुछ लोग इसे 'घडे में पानी है' 'पानी में घडा नहीं है' इस प्रकार के प्रतीतिभिन्नता के आधार पर सिद्ध होने वाला, या यों कहें कि इस प्रकार की प्रतीति भिन्नता के नियामक स्वरूपसम्बन्ध का एक प्रकार मानते हैं, जबकि अन्य लोग इसे एक भिन्न पदार्थ मानते हैं जो न प्रतियोगी है और न प्रतियोगी का विशेष धर्म ही है।

सांसर्गिक प्रतियोगिता का निरूपण न्याय के ग्रंथों में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है, जैसे 'शब्दशक्ति' को पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध या अर्थानुयोगिक पदप्रतियोगिक सम्बन्ध।[७] (पद और अर्थ इनमें से कौन किसका निरूपक माना जाय इस आधार पर पद अनुयोगिक या प्रतियोगिक, तथा अर्थ को प्रतियोगी या अनुयोगी स्वीकार किया जायगा।'अनुयोगी' और 'प्रतियोगी' इन परिभाषिक पदों का अर्थ आगे स्पष्ट किया जायगा।) मतलब यह हुआ कि पद और पदार्थ के बीच होनेवाले शब्दशक्तिरूप सम्बन्ध का पद या अर्थ प्रतियोगी या अनुयोगी बनाता है। पद में या अर्थ में रहनेवाली जो प्रतियोगिता है वह सांसर्गिक याने सम्बन्ध के द्वारा निरूपित प्रतियोगिता है। इसी प्रकार द्रव्य और उसके गुणों में रहनेवाले समवाय सम्बन्ध का भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। द्रव्य और उसके गुणों का समवाय सम्बन्ध न्याय में स्वीकार किया गया है। यहाँ गुण में रहनेवाली जो समवाय की सम्बन्धिता है वह सांसर्गिक प्रतियोगिता है।

सम्बन्ध होने के लिए कम-से-कम दो वस्तु या पदार्थों की आवश्यकता होती

है। याने, सम्बन्ध दो वस्तु या पदार्थों में हुआ करता है, जैसे, घडे में जल है। यहाँ घडा और जल इनमें होने वाला सम्बन्ध घडा और जल इन दोनों में रहता है, क्योंकि घडा और जल उक्त सम्बन्ध के सम्बन्धी हैं। कोई वस्तु किसी सम्बन्ध से कहीं रहती है, जैसे जल घडे में रहता है, घडा जल में नहीं। या भूमि पर मनुष्य निवास करता है, मनुष्यों पर भूमि निवास नहीं करती। इसका कारण क्या है ? यदि केवल सम्बन्ध का ही प्रश्न होता, इस प्रकार की प्रतीति का अगर केवल सम्बन्ध ही नियामक होता, तो सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में समान रूप से रहता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में जिस प्रकार जल घडे से सम्बन्धित है वैसे घडा जल से, या जैसे मनुष्य भूमि से सम्बन्धित है वैसे भूमि मनुष्यों से। परन्तु व्यवहार में 'घडे में जल है' या भूमिपर मनुष्य रहते हैं यही प्रयोग होता है, 'जल में घडा है' या 'मनुष्य पर भूमि है' इस प्रकार का नही। यहाँ मुख्य बिन्दु यह है कि इस प्रकार की भिन्न प्रतीतियों का किसी सम्भ्रान्ति को उत्पन्न न होने देते हुए स्पष्टीकरण किया जाना चाहिये। न्याय के मतानुसार इस प्रकार की भिन्न प्रतीतियों का स्पष्टीकरण उनके निरूपक प्रतियोगी और अनुयोगियों में होने वाले भेद के आधार पर किया जा सकता है। सम्बन्ध का एक संबंधी अनुयोगी होता है तथा दूसरा संबंधी प्रतियोगी होता है। जिस सम्बन्ध का जो प्रतियोगी होता है वह उस सम्बन्ध से दूसरे सम्बन्धो में रहता है, तथा दूसरा सम्बन्धी, चूँकि उसमें पहला सम्बन्धी रहता है इसलिये, अनुयोगी बनता है। मनुष्य भूमि पर रहते हैं। अतः मनुष्य और भूमि के बीच होने वाले सम्बन्ध के मनुष्य प्रतियोगी हैं तथा भूमि अनुयोगी है। जहाँ सम्बन्धियों में आश्रित तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रतीत होता है वहां आश्रित प्रतियोगी तथा आश्रय अनुयोगी माना जाता है, क्योंकि आश्रित आश्रय में रहता है, आश्रय आश्रित में नहीं रहत है। तथापि यहाँ यह ध्यातव्य है कि सम्बन्धियों में होनेवाले सम्बन्ध का ज्ञान होने के लिये उनकी आश्रित तथा आश्रय रूप प्रतीति होना अनिवार्य नहीं है। इस बिन्दु का अधिक स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक होती है। (याने संबंधियों का हमें होनेवाला ज्ञान संबंध के द्वारा होता है) अर्थात्, जिसका सम्बन्ध जहाँ (जिससे) होता है वहाँ वह उस सम्बन्ध से रहता है। जैसे, जल का सम्बन्ध घडे से होता है इसलिये जल घडे में रहता है। जिसका सम्बन्ध होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, और जिससे सम्बन्ध होता है वह उस संबंध का अनुयोगी कहलाता है। जब हम 'जिसका सम्बन्ध' कहते हैं तो वहाँ 'जिसका' कैसे पहचाना जाय ? स्वीकार किया गया है कि जिस शब्द के बाद हम सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करते हैं वह शब्द 'जिसका' का परिचायक हैं। लेकिन वह संबंध क्या है ? उत्तर में बताया गया है कि वही सम्बन्ध सांसर्गिक प्रतियोगिता है और वह सम्बन्ध विशिष्ट सम्बन्धी में अर्थात् उस संबंध के प्रतियोगी में रहता हैं।

ऊपर हमने कहा कि सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक होता है। लेकिन केवल सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक नहीं होती। वैसे देखा

जाय तो जल एक संयोगी है। लेकिन जल संयोगी होने पर भी वह अन्य किसी भी संयोगी से संयुक्त नहीं हो सकता। जैसे, संयोगी होने की वजह से संयोग सम्बन्ध जल में रहने पर भी उसमें संयोग सम्बन्ध से अग्नि की सत्ता नहीं रह सकती, क्योंकि जल में संयोग सम्बन्ध से अग्नि रह ही नहीं सकता। अर्थात्, जल में रहनेवाले संयोग सम्बन्ध का अग्नि प्रतियोगी नहीं हो सकता। इसलिये जल में संयोग सम्बन्ध के रहने पर भी अग्नि जल में नहीं है। अग्नि जिसका प्रतियोगी (सम्बन्धी) है ऐसा संयोग सम्बन्ध जल में नहीं रहता है, इसलिये अग्नि भी जल में नहीं रहता।

'अग्निमान् पर्वत' यह प्रतीति दो प्रकार की होती है। एक में किसी एक (विशिष्ट) पर्वत पर अग्नि प्रतीत होता है, तथा दूसरी में पर्वत मात्र पर (यनि किसी भी पर्वत पर अर्थात् सभी पर्वतों पर) अग्नि प्रतीत होता है। (न्याय की परिभाषा में इनमें से पहली प्रतीति 'सामानाधिकरण्येन विशिष्टबुद्धि' है तो दूसरी 'अवच्छेदकावच्छेदेन विशिष्टबुद्धि' है।) तथापि आपाततः देखने पर इन दोनों प्रतीतियों का बाह्य आकार समान दिखायी देता है। परन्तु अधिक विश्लेषण करने पर दोनों में होनेवाली भिन्नता को व्यक्त करनेवाले तत्त्व सामने आते है। जैसे, गाय का दूध और भैस का दूध रूप, रंग आदि में बाह्यतः समान होने पर भी विश्लेषण के आधार पर उनके भेद-तत्त्व प्रकट हो जाते हैं। किसी एक विशिष्ट पर्वत पर अग्नि प्रतीत होने पर तथा पर्वत मात्र पर (यनि किसी भी पर्वत पर) अग्नि प्रतीत होने पर अग्नि के पर्वत के साथ रहने वाले संयोग सम्बन्ध में भेद हो जाता है। जब पर्वत की किसी इकाई पर (यान विशिष्ट पर्वत पर) अग्नि प्रतीत होता है उस समय अग्नि का और उक्त पर्वत का शुद्ध संयोग सम्बन्ध प्रतीत होता है, तथा जब पर्वत मात्र पर (याने किसी भी पर्वत पर) अग्नि प्रतीत होता है तो वहाँ अग्नि का पर्वत के साथ होनेवाले संयोग से पर्वतत्व धर्म व्याप्त हो जाता है, और वह संयोग हरेक पर्वत के साथ जुडने वाला याने जहाँ-जहाँ पर्वतत्व विद्यमान है वहाँ-वहाँ रहने वाला संयोग होता है। इसके विपरीत जब अग्नि और पर्वत में केवल संयोग प्रतीत होता है तब उस संयोग में रहनेवाली संसर्गता नामक शक्ति शुद्ध संयोगत्व रूप धर्म से नियन्त्रित होती है। चूंकि संयोग एक संसर्ग (सम्बन्ध) है अतः उसमें रहनेवाली शक्ति संसर्गता संयोगत्व से नियन्त्रित होती है। लेकिन पर्वत मात्र पर (याने किसी भी पर्वत पर) अग्नि की प्रतीति में संयोग में रहनेवाली संसर्गता शुद्ध संयोगत्व से नियमित नहीं होती है। (कारण शुद्ध संयोग यह विशिष्ट पर्वत और अग्नि में होनेवाला संसर्ग है, किसी भी पर्वत और अग्नि में होनेवाला संसर्ग नहीं) अपितु वह (संसर्गता) पर्वतत्व जहाँ-जहाँ रहता है वहाँ-वहाँ रहनेवाले अग्नि-संयोग के धर्म से नियमित होती है। पर्वत मात्र पर अग्नि प्रतीत होने पर अग्नि का पर्वत के साथ होनेवाली संयोग वह होता है जो जहाँ-जहाँ पर्वतत्व धर्म विद्यमान रहता है वहाँ-वहाँ पाया जानेवाला होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ शुद्ध संयोग प्रतीत होता है वहाँ संयोग में रहनेवाली संसर्गता नामक शक्ति केवल संयोगत्व रूप धर्म से नियमित होती है, परन्तु जहाँ-जहाँ पर्वतत्व है (पर्वतत्वव्यापक) वहाँ-वहाँ रहनेवाला संयोग प्रतीत होती है, उसी समय उसके दूसरे घटक में उसी वस्तु का अभाव प्रतीत हो सकता

है। इन दो प्रतीतियों में कोई विरोध नहीं है। परन्तु जब आश्रय मात्र में आश्रित वस्तु की सत्ता प्रतीत होती है, अर्थात् जब सभी पर्वतों में अग्नि की सत्ता प्रतीत होती है तब एक भी पर्वत पर अग्नि का अभाव प्रतीत नहीं हो सकता। जहाँ वस्तुसत्ता या वस्तु के अभाव की सत्ता (विशिष्ट प्रकार के) सभी आश्रयों में प्रतीत होता है वहाँ पर ही इस प्रकार की प्रतीति का उसके विरोधी की सत्ता के ज्ञान के साथ विरोध होता है।

आश्रय की किसी एक इकाई में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि और आश्रय मात्र में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि में रहनेवाली विलक्षणता (भेद) को हम निम्नलिखित तरह से अच्छी तरह समझ सकते है :

१)आश्रित की किसी एक इकाई में वस्तुसत्ता का बोध- (कोई एक) पर्वत अग्निमान है।
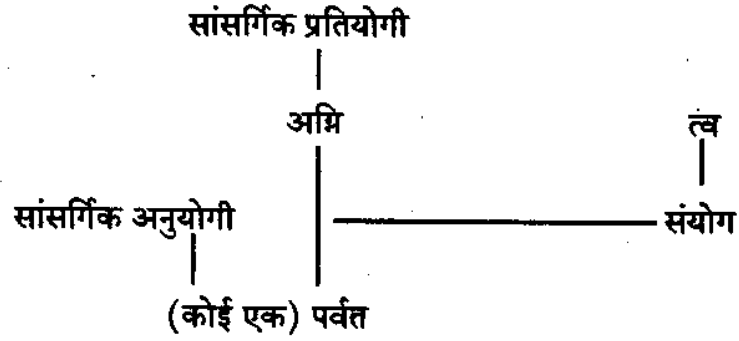
२) आश्रय मात्र में वस्तुसत्ता का बोध - (हरेक) पर्वत अग्निमान् है।
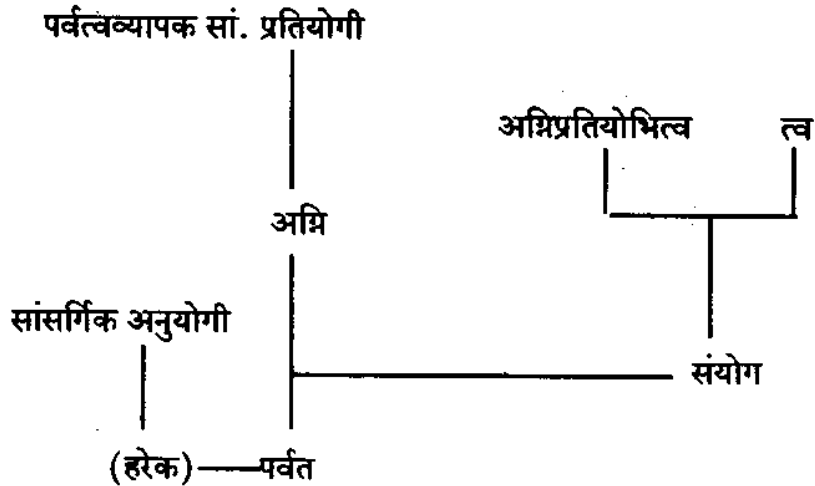
अग्निका संयोग जब प्रतीत होता है तब इस प्रकार के संयोग में रहनेवाली संसर्गता 'पर्वतत्व जहाँ-जहाँ रहता है वहाँ-वहाँ रहनेवाले अग्नि-प्रतियोगित्व' तथा 'संयोगत्व' इन दो धर्मो से नियमित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांसर्गिक प्रतियोगिता माने बिना और उसकी भिन्नता को स्वीकार किये बिना 'पर्वतमात्र पर अग्नि है' और 'किसी एक विशिष्ट पर्वत पर अग्नि है' इन दोनों प्रतीतियों का हम भेद नहीं कर सकते। क्योंकि सामान्य रूप से इन दो प्रतीतियों का आकार 'पर्वतः अग्निमान्' यही होते हुए भी ये दो प्रतीतियाँ भिन्न हैं और उन्हें इस प्रकार भिन्न प्रतीतियाँ दिखाने का साधन सांसर्गिक प्रतियोगिता है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कभी-कभी एक आश्रय में किसी वस्तु-विशेष की प्रतीति (सामानाधिकरण्येन विशिष्टबुद्धि) में वस्तु-विशेष का सम्बन्ध के प्रतियोगी के रूप में ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि 'अग्नि प्रतियोगीवाले संयोग सम्बन्ध से पर्वत द्रव्यवान् है' तो उस ज्ञान में विषय होनेवाले संयोग में रहनेवाली 'संसर्गता' संयोगत्व के साथ ही 'अग्निप्रतियोगिकत्व' धर्म से भी नियमित होती है। इसलिये एक आश्रय में आश्रित को व्यक्त करने वाली प्रतीति में भी कभी-कभी संसर्गता (संयोग) के धर्म (अग्निप्रतियोगित्व) से नियमित होती है। इसलिये जहाँ संसर्गता युद्ध संयोगत्व से नियमित होती है वही बोध एक आश्रय में वस्तुसत्ता का प्रतिवादक बोध नहीं है, अपितु जिस ज्ञान में संसर्ग में प्रतीत होनेवाली संसर्गता आश्रय के धर्म से व्याप्त आश्रित प्रतियोगित्व से नियमित नहीं होती वही बोध आश्रय (एक) में होनेवाला आश्रित का बोध कहलाता है। आश्रय मात्र में आश्रित के बोध में आश्रित के सम्बन्ध में रहनेवाली संसर्गता आश्रय के धर्म (नियामक) व्यापक आश्रित प्रतियोगिकत्व से नियमित होती है। पर्वत मात्र में अग्निज्ञान में अग्निसंयोग में रहनेवाली संसर्गता 'पर्वतत्व व्यापक अग्निप्रतियोगिकत्व' से भी नियमित होती है।

आश्रय की (किसी एक) इकाई में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि और आश्रय मात्र में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि में रहनेवाली विलक्षणता ही आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि और आश्रित वस्तु के अभाव की सत्ता को बुद्धि में विरोध प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिये पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान, पर्वत में अग्नि के अभाव की सत्ता के ज्ञान का विरोधक होता है; परन्तु किसी एक पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान किसी (अन्य) एक पर्वत में अग्नि के अभाव के ज्ञान का विरोधी नहीं होता। आश्रय के एक घटक में जब आश्रित वस्तु की सत्ता निम्न स्थिति में विरोध नहीं है।
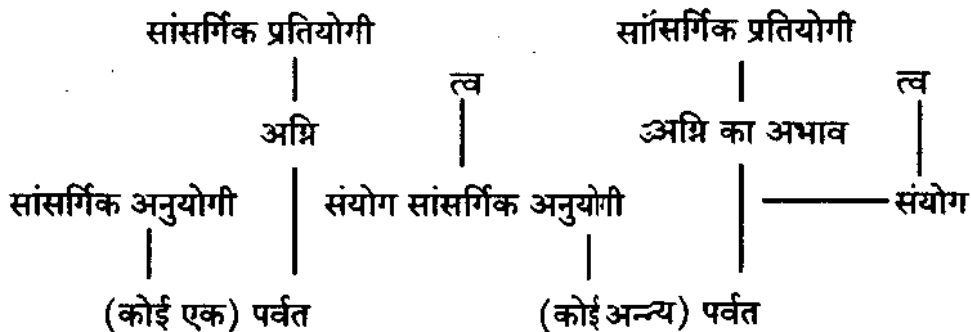
परंतु निम्न स्थिति में विरोध है।

(१)

अथवा

(२)
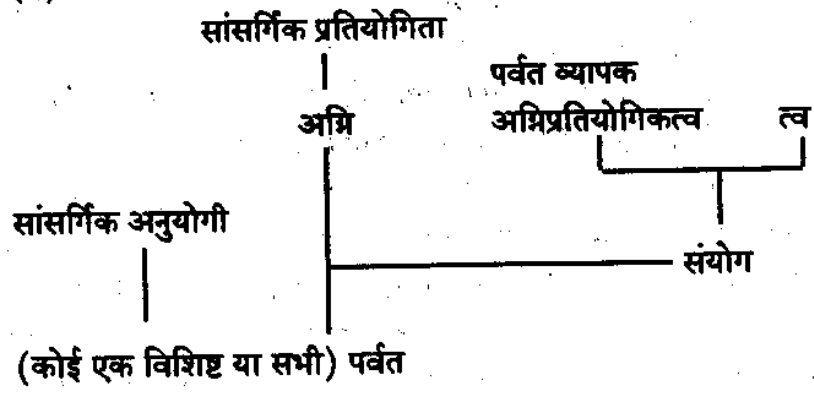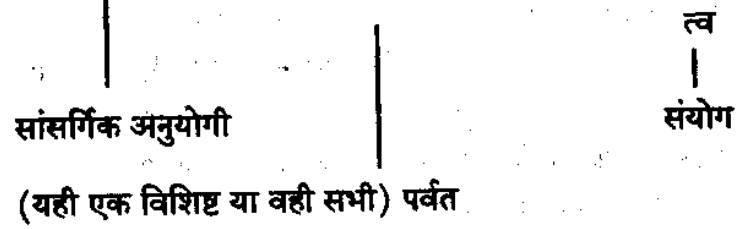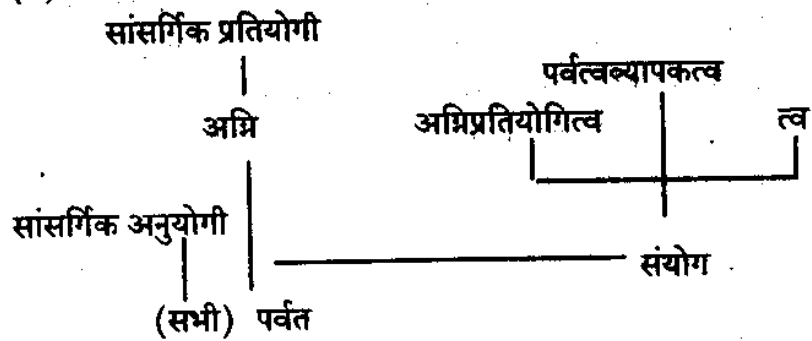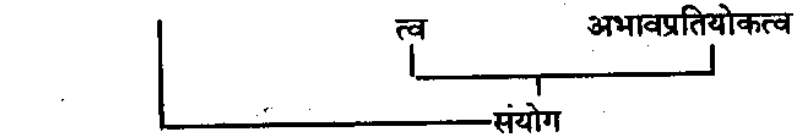
सांसर्गिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता का पृथक् स्वरूप उनके व्यवहार पर आधारित है। जैसा कि जगदीश ने सिद्धान्तलक्षण में कहा है- "संयोगः (अत्र) पर्वते वन्हेः सम्बन्धः न तु वन्हे पर्वतस्य", अर्थात् (यहाँ) पर्वत के साथ अग्नि का संयोग (निहित) है, अग्नि के साथ पर्वत का नहीं। इस प्रकार के प्रतीतिव्यवहार के आधारे पर सम्बन्ध का कोई प्रतियोगी होता है और कोई अनुयोगी होता है। सम्बन्ध का निरूपण जिससे होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है। सम्बन्ध उसके प्रतियोगी के द्वारा निरूप्य है। यद्यपि सम्बन्ध उसके अनुयोगी तथा प्रतियोगी में समान रूप से रहता है, तथापि उसका निरूपण जिसके द्वारा होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी कहलाता है और उसमें रहनेवाली प्रतियोगिता को सांसर्गिक प्रतियोगिता कहा जाता है। यह स्वरूप सम्बन्ध का ही एक विशेष प्रकार है या कि भिन्न वस्तु यह एक अलग विचार-बिन्दु है।

प्रतियोगिता और अनुयोगिता को स्वरूप सम्बन्ध मानने वालों के मत में उसके स्वरूप का प्रतिपादन करना सुगम नहीं है। अतः इन्हें स्वतन्त्र पदार्थ मानना ही उचित प्रतीत होता है।[८]

यहां पर प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि सांसर्गिक प्रतियोगिता को आधेयता-रूप तथा सांसर्गिक अनुयोगिता को आधारता-रूप क्यों न माना जाय, क्योंकि "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में अग्नि की आधेय तथा पर्वत ती आधार रूप में प्रतीति होती है। अतः आधेय में आधेयता और आधार में आधारता होनी चाहिए। इनमें भिन्न उपर्युक्त प्रतीयोगिता और अनुयोगिता नहीं है। इसलिए सांसर्गिक अनुयोगिता को आधारता-रूप और सांसर्गिक प्रतियोगिता को आधेयता-रूप मानना ही ठीक होगा। इस विषय में नव्य नैयायिकों का कथन है कि जहाँ आश्रय और आश्रित वस्तुओं में वृत्तिनियामक सम्बन्ध होता है (वृत्तिनियामक सम्बन्ध की चर्चा अन्य प्रसंग में विस्तार से करगें। यहाँ इतना ध्यान में लेना पर्याप्त है कि आधारत्व या आधयेत्व एक प्रकार का वृत्तिनियामक संबंध है। इसके अलावा संयोग, समवाय, कालिक, या दैशिक विशेषणता भी वृत्तिनियामक संबंध हैं। इनकी चर्चा बाद में करेगे।) वहाँ आधारता और आधेयता की प्रतीति होती है; वहाँ वृत्तिनियामक (वृत्ति-नियामक) सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध के (इसकी भी चर्चा बाद में करेंगे) सम्बन्धियों में जहाँ आधाराधेय भाव प्रतीत नहीं होता है। वहाँ आधारता और आधेयता के स्थान पर प्रतियोगिता और अनुयोगिता का ही ग्रहण होता है। अतः सांसर्गिक प्रतियोगिता और सांसर्गिक अनुयोगिता को आधेयता और आधारता से भिन्न प्रकार की शक्तियाँ मानना अनिवार्य है।

नव्यन्याय में प्रतियोगी पद का उपयोग निरूपक के अर्थ में भी पाया जाता है।[९] "हेत्वधिकरणतानिरूपित आधेयता" के स्थान पर "हेत्वधिकरणताप्रतियोगिक आधेयता" का प्रयोग भी किया है। यहाँ अधिकरणता और आधेयता के मध्य (बीच में) 'प्रतियोगि-अनुयोगि भाव' से तात्पर्य न हो कर उनके निरूप्य-निरूपकभाव (इसकी भी चर्चा बाद में करेंगे।) से तात्पर्य है।

सांसर्गिक प्रतियोगिता का ज्ञान सम्बन्ध के रूप में भी होता है। जैसे,

घटसंयोगवद्-भूतलम् इस ज्ञान में संयोग का जो घट के साथ संबंध प्रतीत होता है वह प्रतियोगिता सम्बन्ध ही है, क्योंकि घट संयोग का तात्पर्य घट-प्रतियोगिक संयोग है। इसलिये संयोग और घट के बीच जो सम्बन्ध है वह प्रतियोगिता सम्बन्ध है।

सामान्य रूप से विचार करने पर सांसर्गिक प्रतियोगिता और सांसर्गिक अनुयोगिता सम्बन्धिता से भिन्न नहीं है। परन्तु उन सम्बन्धिताओं का विश्लेषण करने पर तथा उनमें होनेवाला अन्तर्गत भेद खोजने पर उन्हें प्रतियोगिता और अनुयोगिता के रूप में ही अलग करना पड़ेगा। इस प्रकार सांसर्गिक प्रतियोगिता और सांसर्गिक अनुयोग्ता नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत स्वतन्त्र पारिभाषिक पदार्थ हैं।

जिस प्रकार 'योग' शब्द के साथ 'प्रति' उपसर्ग लगाने से विरोध यह अर्थ बनता है उसी प्रकार योग (सम्बन्ध) के सम्बन्धियों के साथ 'प्रति' तथा 'अनु' को जोड़ कर उक्त सम्बन्ध के दो सम्बन्धियों में भेद किया जाता है।

टिप्पणियाँ

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी, प्रत्यक्षखण्डे
२. वही
३. जगदीश तर्कालङ्कार; तर्कामृतम्
४. तत्त्वचिन्तामणि, पूर्वपक्षव्याप्ति, व्याप्तिप्रकरणे
५. तत्त्वचिन्तामणि, सिद्धान्तव्याप्ति प्रकरण
६. तत्र विशिष्टबुद्धौ प्रकारतया भासमानं संसर्गस्य प्रतियोगि, विशेष्यतया भासमानं संसर्गस्यानुयोगीति भेदः। वाचस्पत्यम्
७. कृष्णकान्त; शक्तिवादटीका
८. रघुनाथ तर्कवागीश; अतिरिक्त एव पदार्थ इत्यैकदेशिनः। सिद्धान्तलक्षण, दीधिति
९. गदाधर भट्टाचार्य; निरूपकत्वं चात्र यदि प्रतियोगित्वम्........। सामान्य निरुक्ति, गादाधरी

अध्याय : ३

अभावीय प्रतियोगिता

पूर्वमें यह दिखाया गया था कि प्रतियोगिता दो प्रकार की होती है : सांसर्गिक प्रतियोगिता एवं अभावीय प्रतियोगिता। इनमें से सांसर्गिक प्रतियोगिता की चर्चा प्रस्तुत की। अब अभावीय प्रतियोगिता के कुछ पहलू प्रस्तुत करेंगे।

सम्बन्ध के समान ही अभाव का एक प्रतियोगि तथा दूसरा अनुयोगी होता है। जो अभाव जिसका विरोधी होता है, वह उसका अभाव कहा जाता है, जैसे घट का अभाव, मनुष्य का अभाव इत्यादि। जिस रूप से जिसके सम्बन्धी के रूप में अभाव प्रतीत होता है वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है। "यस्य अभावः स (तस्य अभावस्य) प्रतियोगी"। जहाँ पर घट का अभाव होता है वहाँ घट नहीं रहता है। इसलिए घटाभाव घट का विरोधी होता है। चूंकि यह अभाव घट का होता है इसलिए घट इसका प्रतियोगी होता है, जैसे मनुष्याभाव का मनुष्य प्रतिमोगी होता है। जहाँ अभाव रहता है वह उस अभाव का अनुयोगी होता है, जैसे भूमि पर घट का अभाव होने पर भूमि उसका अनुयोगी कहलाती है। प्रतियोगी में वर्तमान शक्ति का नाम प्रतियोगिता तथा अनुयोगी में विद्यमान शक्ति का नाम अनुयोगिता है। इस प्रकार अभाव को रोकने वाली शक्ति का नाम अभावीय प्रतियोगिता है। उपर कहा गया था कि प्रतियोगिन् शब्द के बाद भावर्थक 'त्व' प्रत्यय से प्रतियोगित्व शब्द तथा 'तल्' प्रत्यय से प्रतियोगिता शब्द निष्पन्न होता है। जब अभाव के सन्दर्भ में प्रतियोगिता शब्द का विचार किया जाता है तब प्रतियोगी शब्द का अर्थ विरोध लिया जाता है।" "प्रतियोगी विरोधः। सोऽस्यास्तीति प्रतियोगी। तस्य भावः प्रतियोगित्वमिति।" उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर प्रतियोगित्व शब्द का अर्थ विरोधित्व यह निष्पन्न होता है। परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतियोगिता शब्द का सामान्य अर्थ विरोधित्व होने पर भी न्याय में अभाव की विरोधिता के रूप में ही इसका प्रयोग होता है, सामान्य विरोधिता के अर्थ में नहीं। इसलिए नव्यन्याय में प्रतियोगिता तथा प्रतिबन्धकता ये दो अलग पारिभाषिक पदार्थ या शक्तियाँ हैं।

प्रतियोगी शब्द का अर्थ अभाव-विरोधी के रूप में ग्रहण करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ विरोध किस प्रकार का है ? विरोध दो प्रकार का होता है: सहानवस्थान-लक्षण तथा वध्यघातकभाव-लक्षण। जैसे, जल और अग्नि में होनेवाला विरोध सहानवस्थानरूप (याने जो चीजे एकसाथ नहीं रह सकती उनमें होनेनाला विरोध) है, तथा अहि और नकुल में होनेवाला विरोध वध्यवात कभावरूप है। घट और उसके अभाव में होनेवाला विरोध वध्यघातकभावरूप विरोध नहीं है, क्योंकि न तो घट का अभाव घट का घातक है और न ही वध्य है। इसलिए यहाँ हमे सहानव-स्थानरूप विरोध का ही विचार करना पड़ेगा।

अभाव और उसके प्रतियोगी में सहानवस्थानरूप विरोध मानने पर 'गुण और कर्म से भिन्न में रहनेवाली सत्ता नहीं रहती'' इस अभाव के प्रतियोगी 'गुण और कर्म से भिन्न में रहनेवाली सत्ता' में उपर्युक्त विरोधित्व घटित नहीं होता है। 'विशिष्ट शुद्धान्नातिरिच्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध सत्ता और विशिष्ट सत्ता में कोई भेद नहीं होता है। इसलिए विशिष्ट सत्ता के अभाव के आश्रय गुण में विशिष्ट सत्ता वर्तमान होने से विशिष्ट तथा उसके अभाव में सहानस्थानरूप विरोध न होने से विशिष्ट सत्ता, विशिष्ट सत्ता के अभाव की प्रतियोगी नहीं मानी जायगी।

दूसरी बात यह है कि प्रतियोगिता को सहानवस्थानरूप विरोधिता के रूप, में ग्रहण करने पर सभी अवृत्ति पदार्थ (कहीं पर भी आश्रित न होने वाले आकाश काल, आत्मा आदि विभु पदार्थ) सभी प्रकार के अभावों के प्रतियोगी हो जायेंगे क्योंकि सभी प्रकार के अभावों के साथ उनका सहानवस्थान है। अगर इसे स्वीकार किया तो घटाभाव का प्रतियोगी गगन, या रूपाभाव का प्रतियोगी आत्मा इत्यादि हो जायेंगे।

इसी प्रकार घट-भेद के प्रतियोगी घट में तथा उसके भेद में सहानवस्थान लक्षण विरोध नहीं है, क्योंकि घट-भेद के आश्रयभूत में घट विद्यमान रहता है। तथा समवायेन घटाभाव के आश्रय में कालिकेन घट विद्यमान रहता है। भेद स्थल में सहानवस्थान का अर्थ सहसम्बन्धित्व मान लेने पर तथा वृत्तिता को सम्बन्ध से नियन्त्रित करने पर उपर्युक्त दोषों का समाधान होने पर भी अनाश्रित पदार्थों में सभी अभावों की प्रतियोगिता की आपत्ति का समाधान नहीं होता है।

आचार्य गंगेश [१] ने भी सहानवस्थान-रूप विरोधिता को प्रतियोगिता के रूप में स्वीकार करने का विरोध किया है। उनके मतानुसार गोत्व और अश्वत्व के समान सहानस्थानरूप विरोधित्व प्रतियोगिता का अर्थ नहीं है। अश्वत्व और गोत्व में सहानवस्थान होने पर भी उनमें प्रतियोगी-अनुयोगी-भाव नहीं माना जाता। तथा अन्यान्याभाव के प्रतियोगी में भी वह नहीं है। इसलिए उनके मतानुसार अधिकरण और अभाव का जैसे स्वरूप सम्बन्ध है वैसे ही प्रतियोगिता और अनुयोगिता भी विशेष प्रकार के स्वरूप सम्बन्ध है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

इस मत में प्रतियोगिता स्वरूप-सम्बन्ध-रूप मानने पर प्रतियोगी और प्रतियोगिता में जो आधार-आधेय-भाव ज्ञात होता है उसकी संगति न लगने से तथा प्रतियोगिता के स्वरूप का निर्वचन अशक्यप्राय होने से उसे स्वतन्त्र पारिभाषिक पदार्थ मानना ही उचित प्रतीत होता है।

न्याय मत में अभाव (अ) प्रतियोगी समान-अधिकरण तथा (ब) प्रतियोगि व्यधिकरण इन दो मुख्य प्रकार का होता है।[२] प्रतियोगि समानाधिकरण अभाव में सहावस्थानलक्षण विरोध सम्भव ही नहीं है। जैसे, कपिसंयोगाभाव को नैयायिक प्रतियोगी समानाधिकरण मानते है। एक ही वृक्ष में कपि का संयोग तथा कपि-संयोग का अभाव दोनों ही रहते हैं। अतः उनमें सह-अवस्थान है। इसलिए प्रतियोगी का अर्थ उपर्युक्त

प्रकार का विरोध मानना उचित नहीं है।

कुछ लोग प्रतिकूल सम्बन्ध का होना ही प्रतियोगिता है[१] ऐसा स्वीकार करते हैं। जैसे, घट के अभाव का घट के साथ होनेवाला सम्बन्ध स्वरूप सम्बन्ध है। उक्त सम्बन्ध का प्रतिकूल सम्बन्ध संयोग है। वह घट के साथ होने से घट अभाव का प्रतियोगी कहलाता है। यहाँ सम्बन्ध में प्रतिकूलता अभाव के सन्दर्भ में है जो कि सहानस्थान लक्षण विरोध के रूप में जाननी चाहिए। सम्बन्ध का होना सांसर्गिक प्रतियोगिता सम्बन्ध से अभीष्ट है। प्रतिकूल सम्बन्ध की सांसर्गिक प्रतियोगिता घट में होने से घट में अभावीय प्रतियोगिता रहती है ऐसा स्वीकार किया जाता है

परन्तु यह मत भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व का अभाव गुण में है' इस स्थल में समवाय जो द्रव्यत्व का है वही गुणत्व और कर्मत्व का भी है। द्रव्यत्वाभाव के आश्रय गुण में वही समवाय विद्यमान होने से वह समवाय सम्बन्ध द्रव्यत्वाभाव के सम्बन्ध का प्रतिकूल सम्बन्ध है ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता सकता। इस प्रकार द्रव्यत्व प्रतियोगिक समवाय द्रव्यत्वाभाव का प्रतिकूल न होने से द्रव्यत्व में द्रव्यत्वाभाव की उक्त प्रतियोगिता नहीं रहेगी।

दूसरी बात यह है कि समवाय सम्बन्ध से गगनाभाव अथवा संयोग सम्बन्ध से गुण का अभाव, जोकि केवलान्वीय अभाव माने जाते हैं, उनमें कोई भी सम्बन्ध प्रतिकूल सम्बन्ध न होनेस से प्रतिकूल सम्बन्ध तथा उससे प्रदर्शित सांसर्गिक प्रतियोगित्व से उस सम्बन्ध का होना अप्रसिद्ध होने से उक्त अभाव की प्रतियोगिता गगन आदि में सिद्ध नहीं होगी।

यद्यपि यहाँ की प्रतिकूलता सहानवस्थानलक्षण विरोध के रूप में न मान कर उस ज्ञान की प्रतिबन्धकता को नियमित करनेवाली प्रकारता को नियन्त्रित करने वाले सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया तो भी गगन में उक्त प्रतिकूल सम्बन्ध-स्वरूप प्रतियोगिता की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार के अनेक दोष इस मत में सम्भावित हैं।

प्रतियोगिता का क्या स्वरूप है इसके विवेचन के पूर्व यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतियोगिता नामक पदार्थ को मानने की आवश्यकता ही क्या है ? घटाभाव बुद्धि को नैयायिक विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि बुद्धि मानते है। अर्थात् इसमें घटत्व से युक्त घट का वैशिष्ट्य (आश्रितत्व) अभाव में ज्ञात होता है। अभाव-बुद्धि चूंकि विशिष्ट-वैशिष्ट्यवाली बुद्धि है अतः इसे विशेषणविशेष्य और उनके बीच होनेवाले सम्बन्ध विषयक होना चाहिये, क्योंकि यह संयोग सम्बन्ध से घट भूमि पर है इस प्रकार की एक विशिष्ट बुद्धि के समान है। संयोग से घट भूमि पर है इस बुद्धि के विषय घट, भूमि तथा उनमें होनेवाला संयोग ये तीनों है।'घटाभाव' इस बुद्धि के भी उसी प्रकार तीन विषय होने चाहिए-विशेषण, विशेष्य और उनमें होनेवाला सम्बन्ध। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय के मतानुसार हरेक ज्ञान में प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता इन तीनों की प्रतीति होनी चाहिए) यहाँ घट विशेषण है, अभाव विशेष्य है। लेकिन उनके बीच में होनेवाला

सम्बन्ध क्या है ? यही प्रतियोगिता सम्बन्ध है, जो सभी तथाकथित प्रचलित सम्बन्धों से भिन्न है। नैयायिक मानते हैं कि अभाव का प्रत्यय विशिष्ट वैशिष्ट्य की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता[४] किसी भी अभाव का ज्ञान प्रतियोगी से विशेषित होनेवाले अभाव का ज्ञान है। इस प्रकार अभाव तथा उसके प्रतियोगी में विशेष्य-विशेषण-भाव होने से उसका नियामक एक सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। इसे प्रतियोगिता अथवा प्रतियोगिता निरूपकत्व या प्रतियोगिताकत्व कह सकते हैं। क्योंकि प्रतियोगिता और अभाव के बीच में निरूपक-निरूप्य-भाव है। अभाव निरूपक होता है, तथा प्रतियोगिता अभाव से निरूप्य है तथा विशिष्ट शर्तों की पूर्तता होने पर निरूपित होती हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि घटाभाव बुद्धि को विशिष्ट वैशिण्टयावगाहि बुद्धि के रूप में क्यों माना जाय ? इसके बजाय उसे विशेष्य का विशेषण, और यहाँ भी दूसरा विशेषण (विशेष्ये विशेषणं तथापि विशेषणान्तरम्।) इस रूप में ही क्यों न स्वीकार किया जाय ? अर्थात्, जब घटाभाव प्रतीत होता है तो पहले अभाव, उसमें विशेषण के रूप में घट तथा उसमें विशेषणान्तर के रूप में घटत्व प्रतीत होता है ऐसा मानने पर विशिष्टबुद्धि का नियमन करने वाले 'प्रतियोगिता' नामक स्वतन्त्र सम्बन्ध की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। इसमें कल्पना-लाघव है। परन्तु नैयायिक मानते हैं कि 'घटवद्भूतलम्' आदि प्रतीति का विश्लेषण तो उपर्युक्त पद्धति से कदाचित् सम्भव है। तथापि अभाव की प्रतीति के विश्लेषण को उपर्युक्त पद्धति लागू नहीं की जा सकती। अभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष विशेष्य-विशेषण और विशेषणान्तर इस क्रम से सम्भव नहीं है।[५] क्योंकि अभाव-बुद्धि प्रतियोगी बुद्धि-सापेक्ष है। प्रतियोगी को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से अभाव का प्रत्यक्ष कहीं भी अनुभवसिद्ध नहीं है। इसलिये कोई नैयायिक अभाव के प्रत्यक्ष को विशेष्य के विशेषण इस रूप में स्वीकार नहीं करता है।

प्रतियोगिता की आवश्यकता को इस आधार पर स्वीकार करने के बाद उसके स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। नैयायिक जो सात पदार्थ स्वीकार करते हैं उनमें इसका समावेश होता है अथवा नहीं ? यदि नहीं, तो फिर वह कौनसा पदार्थ है? इस प्रकार के इसके सम्बन्ध में नैयायिकों में पर्याप्त मतभेद हैं।

कुछ नैयायिक मानते हैं कि अभाव की प्रतियोगिता स्वरूप सम्बन्ध ही है।[६] तथापि यदि यह स्वरूप है तो किसका स्वरूप है ऐसा एक प्रश्न खड़ा हो जाता है। नैयायिकों का एक समुदाय मानता है[७] कि प्रतियोगिता कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, अपितु प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेदक (प्रतियोगिता को नियमित करने वाला तत्त्व) का ही स्वरूप है। अभाव को प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेदक रूप मानने पर इसे अतिरिक्त पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस अभाव का प्रतियोगी जिस पदार्थ के अन्तर्गत आता है, अथवा प्रतियोगिता का अवच्छेदक जिस पदार्थ के अन्तर्गत आता है, अथवा प्रतियोगिता का अवच्छेदक जिस पदार्थ में गिना जाता है वही प्रतियोगिता है। उदाहरण के लिये घटाभाव का प्रतियोगी घट एक द्रव्य होने से वही घट ही उक्त

प्रतियोगिता है, या प्रतियोगितावच्छेदक-रूप में मानने की स्थिति में घटत्व ही प्रतियोगिता का स्वरूप है, चूंकि घटत्व की प्रतियोगिता का अवच्छेदक या नियामक है और यह सप्त पदार्थान्तर्गत सामान्य (जाति) पदार्थ है। इस प्रकार प्रतियोगिता का इस मतानुसार सप्त पदार्थान्तर्गत अन्तर्भाव हो जाने के कारण वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

परन्तु दूसरे नैयायिकों को इस सिद्धान्त पर आक्षेप है। उनका कहना है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगी-रूप मानने पर सामान्याभाव और विशेषाभाव में भेद करना कठिन हो जायगा। जैसे, घट का अभाव यह घट-मात्र का (याने हरेक घट का) अभाव है, तथा नील घट का अभाव यह एक विशेष (प्रकार एक) घट का अभाव है।[८] दोनों ही अभावों की प्रतियोगिता प्रतियोगी-रूप होने पर नील घट रूप प्रतियोगी घटरूप प्रतियोगी से भिन्न न होने से घटाभाव और नील घटाभाव में होनेवाला भेद समझाया नहीं जा सकेगा, क्योंकि नील घट भी घट ही है।

दूसरी बात यह है कि यदि घटाभाव की प्रतियोगिता को घटस्वरूप मान लिया तो घट घटाभाव की प्रतियोगितावान् है का अर्थ होगा घट घटवान् है, जो कि अनुभवविरूद्ध है। उसी प्रकार प्रतियोगिता को प्रतियोगितावच्छेदक (घटत्व) के रूप में मानना भी उसी प्रकार अनुभव-विरूद्ध होगा। क्योंकि द्वितीय सिद्धान्त में उपर्युक्त प्रतीति का अर्थ होगा 'घटत्व घटत्व का अवच्छेदक है' जो अस्वीकार्य है।

नैयायिकों[९] का एक सम्प्रदाय यह भी मानता है कि प्रतियोगिता केवल प्रतियोगी-रूप न हो कर प्रतियोगी तथा अभाव इन दोनों के रूप है। जैसे, घटाभाव की प्रतियोगिता घटरूप भी है और घटाभाव रूप भी है। इस प्रकार प्रतियोगिता प्रतियोगी रूप तथा अभाव रूप मानने पर विशेषाभाव और सामान्याभाव की एकता की आपत्ति भी नहीं होती है। प्रतियोगी-रूप प्रतियोगिता के एक होने पर भी नीलघटाभाव और घटाभाव की भिन्नता के कारण उक्त अभावों में भेद हो जाता है, क्योंकि अभाव की भिन्नता का आधार प्रतियोगिता की भिन्नता ही है प्रतियोगी की भिन्नता नहीं। नीलघटाभाव तथा घटाभाव में प्रतियोगी की भिन्नता नहीं है।

प्रतियोगिता को अभाव-मात्र स्वरूप भी नहीं मान सकते। क्योंकि समनियत अभावों[१०] (एक ही स्थान में रहनेवाले अभावी) को एक मानने पर तद्रूप के अभाव की प्रतियोगिता और तद्रस के अभाव की प्रतियोगिताओं में कोई अन्तर नहीं होगा। अतः उन्हें उभयरूप मानने पर उपर्युक्त अभावों की प्रतीतियों में भेद किया जा सकेगा।

परन्तु इस मत में एक गम्भीर दोष है। उदाहरण के रूप में सत्तावान् का अभाव या जातिमान् का अभाव को ही लें। यदि प्रतियोगिता प्रतियोगी और उसका अभाव दोनों ही है तो वह प्रतियोगिता द्रव्य में कैसे रहेगी, क्योंकि सत्तावान् गुण या कर्म का अभाव द्रव्य में नहीं रहता है। इसलिये प्रतियोगी और उसका अभाव इस उभय की प्रतियोगिता द्रव्य में नहीं रहेगी।

उदयनाचार्य[११] ने प्रतियोगिता का अभावाभाव के रूप में स्वीकार किया है।

घटाभावाभाव ही घटाभाव की प्रतियोगिता हैं। इसी स्वरूप का समर्थन गंगेश तथा उनके रघुनाथ, मथुरानाथ प्रभृति अनुयायियों ने किया है।

परन्तु अभावाभाव को प्रतियोगिता मानने पर अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होते हैं। जैसे, घटान्योन्याभाव का प्रतियोगी घट है, परन्तु घटान्योन्याभावभाव घट-स्वरूप न हो कर प्रतियोगिताच्छेदक घटत्व-रूप होता है। इसलिये घटान्योन्याभाव का प्रतियोगी घट नहीं होगा तथा घटत्व हो जायेगा। इस प्रकार अव्याप्ति और अनुपपत्ति रूप दो दोष होते हैं। इस दोष के निवारण का प्रयास रघुनाथ ने किया है। उनका कथन है कि ''अभावविरहात्मत्वम्'' इस पद में आये 'विरह' शब्द का अर्थ अभाव नहीं है अपितु 'अज्ञान के विरोधी ज्ञान का विषय' यह अर्थ है। तादाम्य सम्बन्ध से प्रतियोगी का ज्ञान अन्योन्याभाव के ज्ञान का विरोध [१२] करता है। (यहाँ विरोध का तात्पर्य इतना ही है कि एक समय में ये दोनों एक साथ नहीं रहते हैं) उस ज्ञान का विषय प्रतियोगी घट है और यही विषयत्व प्रतियोगिता पदार्थ है।

इस प्रकार विरह का परिष्कार करके प्रतियोगिता को अभावविरहात्मक मानने पर विरह पद के विशेष रूप से लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण करने पर लक्षणा पत्ति तथा उक्त रूप से प्रतियोगिता मानने पर कायिक गौरव दोष भी उत्पन्न होता है। नवीन नैयायिक गगन को गगनाभावाभाव नहीं मानते क्योंकि गगन अनाश्रित पदार्थ है।[१३] इसलिये प्रतियोगिता को अतिरिक्त पारिभाषिक पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है, जैसे एकदेशियों ने प्रतिपादन किया है।

अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता विशिष्ट सम्बन्ध तथा विशिष्ट धर्म से नियमित होती है।[१४] एक स्थान में एक सम्बन्ध से वस्तु के रहने पर दूसरे सम्बन्ध से उसी वस्तु का अभाव उसी स्थान पर रहता है। जैसे, भूमि पर संयोग सम्बन्ध से रहनेवाले घट का अभाव समवाय सम्बन्ध से उसी भूमि पर रहता है। उसी प्रकार एक स्थान में एक रूप से रहने वाले का उसी स्थान में दूसरे रूप से अभाव रहता है। जैसे, श्वेत गो के आश्रय गो-शाला में गोत्वरूप से वर्तमान गो का रक्त गोत्वरूप से गोत्व और अश्वत्व इन दोनों रूपों से अभाव रहता है। गो के रहने पर अश्व के न होने से गो और अश्व दोनों का अभाव है। एक के रहने पर भी उभय का अभाव अवश्य रहता है। इस प्रकार से अभावों में सम्बन्धविशेष के कारण तथा धर्म (तात्त्विक रूप)-विशेष के कारण भिन्नता परिलक्षित होती है।

अभाव में प्रतीत होनेवाली इस प्रकार की भिन्नता का कारण प्रतियोगिता की भिन्नता मानी जाती है।[१५] अभाव की प्रतियोगिता किसी विशेष सम्बन्ध तथा किसी विशेष धर्म से नियमित होती है। उस सम्बन्ध को तथा उस धर्म को प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) माना जाता है। जैसे, जब भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट का अभाव प्रतीत होता है (क्योंकि घट भूतल पर संयोग सम्बन्ध से रहता है) तब घट के अभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से तथा घटत्व धर्म से नियमित होती है। उस

प्रतियोगिता के दो नियामक हैं: एक, समवाय सम्बन्ध तथा दूसरा, घटत्व धर्म। समवाय सम्बन्ध से प्रतीत होनेवाले घटाभाव को न्याय की परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है: ''समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावः।'' अर्थात्, समवाय सम्बन्ध तथा घटत्वधर्म से नियमित होनेवाली प्रतियोगिता को संकेतित करनेवाला अभाव।

सम्बन्ध को इस प्रकार प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) मानने का क्या कारण है इसका विचार भी आवश्यक है। सामान्य रूप किसी भी वस्तु का अभाव कहीं पर नहीं है। नैयायिकों के मतानुसार उनके द्वारा स्वीकृत सम्बन्धों (जो अनुभवगम्य हैं) में से किसी न किसी सम्बन्ध से कोई भी वस्तु सर्वत्र रहती है। कम-से-कम कालिक सम्बन्ध से अनित्य वस्तु सर्वत्र रहती है। अतः जब किसी वस्तु का अभाव हम कहते हैं तो किसी विशेष सम्बन्ध से वस्तु का अभाव ही हमें अभिप्रेत होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि हमारे अभाव प्रत्यय में अन्ततः सम्बन्ध प्रविष्ट होता है, जो कि अभाव की प्रतियोगिता को प्रभावित करता है। जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ नहीं रहती वही सम्बन्ध उस अभाव की प्रतियोगिता को वहाँ नियमित करता है। इसलिये प्रतियोगिता का वह नियामक (अवच्छेदक) सम्बन्ध कहलाता है। उदाहरण के लिये, ''भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट नहीं'' इस प्रत्यय में समवाय सम्बन्ध भूतल पर घटाभाव को दिखला कर उसकी प्रतियोगिता को प्रभावित करता है इसलिये घटाभाव की उक्त प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से नियमित मानी जानी है। समवाय सम्बन्ध ही उक्त प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध है।

सम्बन्ध के समान ही धर्म (तात्त्विक स्वरूप) भी प्रतियोगिता का नियामक होता है। यदि धर्म को प्रतियोगिता का नियामक नहीं मानें तो घटाभाव, नीलघटाभाव और घट (तथा) गौ उभयाभाव आदि में कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि इन तीनों अभावों का प्रतियोगी घट है। इसलिये प्रतियोगीभेद के आधार पर उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता हैं। इनमें होने वाले भेद का आधार इनकी प्रतियोगिताओं में होनेवाला भेद है, और यह भेद भिन्न-भिन्न नियामकों से नियन्त्रित होता है। उक्त तीनों अभावों की प्रतियोगिता का नियामक भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। घटभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व नीलत्वविशिष्ट घटत्व है, तथा घट (और) गौ उभयाभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व घटत्व तथा गोत्व यह उभयत्व है।

इस प्रकार अभावों में भेद सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिता को सम्बन्ध तथा धर्म (तत्त्व) से नियमित मानना आवश्यक है। अनुभवसिद्ध अभावों की भिन्नता की उपपत्ति प्रतियोगिताओं की भिन्नता के बिना नहीं हो सकती तथा प्रतियोगिताओं की भिन्नता उनके नियामक सम्बन्धों और धर्मों की भिन्नता के बिना स्थापित नहीं की जा सकती।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि अत्यन्ताभाव की ही प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित होती है, ध्वंसाभाव या प्रागभाव की नहीं।[११] इसका कारण यह है कि वस्तु अन्य सम्बन्ध

से अत्यन्ताभावकालीन हो सकती है, परन्तु वह किसी भी सम्बन्ध से ध्वंस या प्रागभाव-कालीन नहीं हो सकती। अतः ध्वंस या प्रागभाव के विषय में उनकी प्रतियोगिताओं को सम्बन्ध से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। चूंकि अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता हमेशा तादात्म्य सम्बन्ध से नियन्त्रित होती है इसलिये उसे भी किसी अन्य सम्बन्ध से नियमित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

जब हम प्रतियोगिता को किसी सम्बन्ध या धर्म से नियमित करते हैं तब वह उसका नियामक सम्बन्ध या धर्म होता है। उसका तात्पर्य यह होता है कि प्रतियोगी की उस सम्बन्ध या उस रूप से हमें सत्ता अभिप्रेत होती है तथा उस रूप या उस सम्बन्ध से प्रतियोगी की सत्ता न रहने पर उसका अभाव हमें प्रतीत होता है।

अभावीय प्रतियोगिता की चर्चा करने के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि हमने इस अध्याय में प्रस्तुत की। अब इसके आधार पर में अभावीय प्रतियोगिता के अन्यान्य पहलुओं की चर्चा करेंगे।

उपर में यह बतालाया गया था कि अभाव में प्रतीत होने वाली भिन्नता का कारण प्रतियोगिता की भिन्नता है।[१७] नव्य-न्याय में अनेक प्रकार के अभाव माने गये हैं। अभाव के चार मुख्य भेद-प्रागभाव, ध्वंस, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव ये तो सर्व विश्रुत हैं ही। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अभाव नव्य-न्याप में चर्चित हैं। जैसे, सामान्याभाव, विशेषाभाव, सामान्यरूपेण विशेषाभाव, विशेष रूपेण सामान्याभाव, उभयाभाव, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव, प्रतियोगिसमानाधिकरणाभाव, प्रतियोगि-व्यधिकरणाभाव आदि आदि। इन सब अभावों में होने वाली भिन्नता का नियामक तत्-तत् प्रतियोगिताओं का भेद ही है। अतः अभावीय प्रतियोगिता की चर्चा करने के सन्दर्भ में इन प्रतियोगिताओं के भिन्न-भिन्न नियामक कौनसे हैं और उन्हें इस प्रकार क्यों स्वीकार करना पड़ता है इसका विश्लेषण करना पड़ेगा। प्रस्तुत अध्याय में सामान्याभावीय, तथा सामान्यरूपेण विशेषाभावीय प्रतियोगिता की भी चर्चा की है। उभायाभावीय, अन्यताभावीय आदि प्रकार के प्रतियोगिताओं की चर्चा भी करेंगे।

पूर्व में कहा गया था कि अत्यन्ताभाव की ही प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित होती है, प्रागभाव या ध्वंस की नहीं। जिस प्रकार ध्वंस की प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती उसी प्रकार वह किसी (तात्त्विक) धर्म से भी निमित नहीं होती। ध्वंस की प्रतियोगिता को धर्म से नियमित मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[१८] इसका तात्पर्य यह है कि जब हम कहते हैं कि 'यहाँ गौ का अभाव है' तब उसका तात्पर्य यह होता हय कि गोत्व का आश्रय कुछ भी वहाँ नहीं हैं, गौ के न रहने पर उसके अभाव की प्रतीति में कोई बाधा नहीं है। परन्तु जब हमें 'गौ मर गयी' ऐसी प्रतीति होती है तो किसी एक गौ के ध्वंस (मृत्यु) की ही प्रतीति होती है, गो व्यक्ति-मात्र के ध्वंस की नहीं, क्योंकि गो व्यक्ति-मात्र का ध्वंस सम्भव ही नहीं है। जब गो ध्वंस प्रतीत होता है तो किसी एक ही गो का ध्वंस प्रतीत होता है, गो-मात्र का ध्वंस प्रतीत नहीं होता। अतः

ध्वंस की प्रतियोगिता को सम्बन्धावछिन्न की तरह धर्मावछिन्न माने की कोई अनिवार्यता नहीं है। ध्वंस की तरह प्रागभाव की प्रतियोगिता भी धर्मावछिन्न नहीं होती है।'यहाँ गौ पैदा होगी' यह जो गौ के प्रागभाव की प्रतीति है वह गो-सामान्य के प्रागभाव की प्रतीति नहीं है, अपितु किसी एक विशिष्ट गौ के अभाव की प्रतीति है। इसलिए उक्त अभाव की प्रतियोगिता भी गोत्व सामान्य धर्म से नियमित नहीं है। गौ मात्र का ध्वंस या गौ-मात्र का प्रागभाव प्रतीत नहीं होता है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि गोत्व जैसा सामान्य नव्य-न्याय के मतानुसार नित्य है) लेकिन उक्त परिस्थियों में क्रमशः गो प्रतियोगिक ध्वंस एवं गो प्रतियोगिक प्रागभाव प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की प्रतियोगिताएँ ही क्यों धर्म से नियमित होती हैं ? यदि उन्हें उक्त सामान्य-धर्मों से नियमित न मानें तो क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि बाध-निश्चय में रहने वाली प्रतिबन्धकता के आधार पर भेद और अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को धर्म से नियमित मानना आवश्यक है।[१९] गो की आश्रयता के ज्ञान का विरोधी गो-प्रतियोगिक अभाव की आश्रयता का निश्चय नहीं है; गो-प्रतियोगिक अभाव का निश्चय किसी एक गो के अभाव का निश्चय भी हो सकता है। उसी प्रकार गोत्व के साथ रहने वाली प्रतियोगिता वाले अभाव का निश्चय भी उसका विरोधी नहीं है, क्योंकि 'सभी गोऐं वहाँ नहीं हैं' इस प्रकार का निश्चय भी उक्त प्रकार के गो की आश्रयता के निश्चय का विरोधी हो जायगा। इसलिये गो-सत्ता के निश्चय का विरोधी निश्चय गोत्व से नियमित गो के अभाव का निश्चय ही होगा। अतः अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को सामान्य धर्म से नियमित मानना अनिवार्य है।

तत् (संकेतित, विशिष्ट) गो के अस्तित्व के ज्ञान में संकेतित गो के अभाव को अस्तिता का ज्ञान विरोधी होता है। वहाँ उस गो के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के समान उस गो के ध्वंस की प्रतियोगिता को भी तत् गोत्व (उस गो का स्वरूप)-धर्म से नियमित मानना आवश्यक नहीं हैं, क्यों कि जब किसी एक सम्बन्ध (उदाहरणतः संयोग) से गो के अभाव का अस्तित्व ज्ञात होने पर भी दूसरे किसी सम्बन्ध (उदाहरणतः कालिक) से उस गो का ज्ञान होने में कोई बाधा न होने से सम्बन्ध-विशेष के आधार पर ही अत्यन्ताभाव के विरोध का निर्णय किया जाता है। चूंकि ध्वंस की प्रतियोगिता किसी सम्बन्ध से नियमित न होने से ध्वंस की प्रतियोगिता को उक्त प्रतियोगिता में समाविष्ट नहीं कर सकते।[२०] दूसरी बात यह भी है कि कुछ नैयायिक इसे अभाव का प्रकार न मान कर उसे अखण्डोपाधि अर्थात् अनुयोगिता का एक प्रकार मानते हैं। इसलिये उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव में उसका समावेश नहीं किया जाता।

यहाँ प्रश्न यह है कि किसी भी अभाव की प्रतियोगिता को धर्म से नियमित माना ही क्यों जाय ? और उसका उत्तर यह दिया गया है कि विना प्रतियोगिता को धर्म से नियमित किये प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव ही नहीं बनता है। परन्तु अभाव की प्रतियोगिता को निरवच्छिन्न (किसी भी धर्म से नियमित नहीं) सम्बन्ध के रूप में उपस्थित किया जा

सकता है। उदाहरणार्थ, 'देवदत्तविशिष्ट-गृह' इस बोध में निरवच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित देवदत्त में पर्याप्त रूप से रहने वाली अवच्छेदकता से प्रदर्शित प्रकारता से प्रदर्शित अभावत्व से नियन्त्रित विशेष्यता से नियमित स्वरूप सम्बन्ध से नियमित अभावत्व से नियमित प्रकारता से प्रदर्शित गृहत्व से नियमित विशेष्यताशाली निश्चय को प्रतिबन्धक मानने पर प्रतियोगिता को धर्म से नियमित किये बिना ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव व्याख्यात हो सकता है। तथापि उक्त समस्या का यह उचित सामाधान नहीं है। अभाव के साथ जिसका सम्बन्ध स्थापित होता है उस सम्बन्धि बनने वाला प्रतियोगिता-सम्बन्ध सम्बधिता के नियन्त्रक धर्म से नियन्त्रित ही होता है। इसलिये निरवच्छिन्न प्रतियोगिता को सम्बन्ध के रूप में उपस्थित करना सम्भव ही नहीं हैं।[२१]

कुछ नैयायिकों का कथन है कि बाध निश्चय की प्रतिबन्धकता में विवाद होने पर भी बाधनिश्चयाभाव को कार्यमात्र में कारण मानने के बारे में कोई विवाद नहीं है।[२२] बाधनिश्चय का अभाव जो कारण बनता है वह बाधनिश्चयत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता से प्रदर्शित अभाव के रूप में ही। अन्यथा किसी भी वस्तु के बाध-निश्चय का अभाव होने पर देवदत्ताश्रयता का बोध होने लगेगा। लेकिन ऐसा नहीं होता है। देवदत्ताभाव के निश्चायक का अभाव होने पर ही देवदत्त का अस्तित्व ज्ञात होता हैं।

परन्तु कुछ नैयायिकों का कथन है कि अत्यन्ताभाव की तरह ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता भी धर्मावच्छिन्न होती है।[२३] जैसे, प्रलय काल में गो का ध्वंस होने पर जो गो नष्ट हुई यह बोध होता है उसमें गो-सामान्य का ध्वंस प्रतीत होता है। इसलिये इसे हम गोत्वावच्छिन्नाभाव कह सकते हैं। चूँकि प्रलय काल में अन्य किसी गो का अस्तित्व न होने से और उपर्युक्त ध्वंस गौ-मात्र का ध्वंस होने से वह सामान्याभाव ही है। प्रलय के सम्बन्ध में नैयायिकों की दो धारणाएँ हैं: एक धारणा यह है कि वेदादि में प्रलय खण्ड प्रलय हैं जिसमें एक ब्रह्माण्ड का विनाश होने पर भी ब्रह्माण्डान्तर रहता है। एक ब्रह्माण्ड की गौओं का विनाश होने पर दूसरे ब्रह्माण्डों में गौ विद्यमान होने से गो-सामान्य का ध्वंस नहीं होता है, गो-विशेषों का ही ध्वंस होता है। इसलिये गोत्व प्रागभाव और ध्वंस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है।

दूसरी धारणा यह है कि प्रलय खण्ड-प्रलय और महा-प्रलय भेद से दो प्रकार का होता है। जिसमें सभी जन्य भावों का विनाश होता हैं ऐसे महाप्रलय में गो-सामान्य के ध्वंस का आश्रय हो सकता है। उस अवस्था में ध्वंस की प्रतियोगिता को सामान्यधर्मावच्छिन्न मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु सृष्टि की अन्य किसी अवस्था में होने वाले गो-ध्वंस की प्रतियोगिता को (गोत्व) सामान्य धर्म से नियमित मानना अनावश्यक है।

सामान्याभाव और विशेषाभाव में होने वाला भेद उनकी प्रतियोगिताओं और उनके अवच्छेदक धर्मों में होने वाले भेद के आधार पर स्पष्ट किया जाता है। परन्तु यहाँ भी प्रश्न यह है कि सामान्याभाव और यावद्विशेषाभाव में होने वाली प्रतियोगिताओं

की भिन्नता का आधार क्या है ? घट-सामान्य का अभाव जहाँ रहता है वहाँ सभी घट-विशेषों का अभाव रहता ही है। घट-सामान्यभाव की प्रतियोगिता भी सभी घटों में रहती है, तथा यावद् (याने सभी) घट-विशेषाभावों की प्रतियोगिता भी सभी घटों में रहती है, तो इन में अन्तर या भेद क्या है ? नैयायिकों का कथन है[२४] कि घट-सामान्याभाव की प्रतियोगिता सभी घटों में एक ही है, जबकि यावद्-विशेषाभाव की प्रतियोगिता प्रत्येक (विशेष घट) में भिन्न है। क्योंकि सामान्याभावीय प्रतिगिता से भिन्न प्रतियोगिता प्रत्येकाश्रय में भिन्न होती है।[२५] जब हम घट-सामान्याभाव की प्रतीति करते हैं तो घटत्व धर्म से नियमित एक ही प्रतियोगिता घट-मात्र में मानी जाती है। इसके विपरीत रक्तघट, पीत घट आदि तत् तत् विशेषों के अभाव की प्रतियोगिता उनके सापेक्ष नियन्त्रक भिन्न धर्मों के कारण भिन्न भिन्न होती है। परन्तु नैयायिकों का एक सम्प्रदाय स्वरूप-सम्बन्धरूप प्रतियोगिता को सामान्याभाव-स्थल में भी प्रतियोगिता भेद से भिन्न मानता है।[२६]

उपर कहा गया था कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही सम्बन्ध से नियन्त्रित होती है, ध्वंस या प्रागभाव की नहीं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता भी सभी सम्बन्धः से नियन्त्रित नही होती है। केवल वृत्तिनियामक सम्बन्ध से ही प्रतियोगिता नियन्त्रित होती है, वृत्यनियामक (जो वृत्तिनियामक नहीं होता ऐसा) सम्बन्ध से नहीं[२७] नैयायिकों ने जो अनेक प्रकार की सम्बन्ध की संकल्पनाएँ स्वीकृत की हैं उनमें से कुछ ही सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं लेकिन अधिकतर सम्बन्ध वृत्यनियामक हैं। जिन सम्बन्धों से आधार आधेय भाव प्रतीत होता है उसे ही वे लोग वृत्तिनियामक सम्बन्ध मानते हैं, इसके विपरीत जिनसे केवल सम्बन्धिता प्रतीत होती है वे सभी वृत्यनियामक सम्बन्ध हैं।[२८] वृत्तिनियामक सम्बन्धों में घट का भूतल के साथ संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध प्रमुख हैं।

लेकिन वृत्तिनियामक सम्बन्ध ही अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का नियन्त्रक क्यों होता है, वृत्यनियामक सम्बन्ध इस प्रकार नियन्त्रक क्यों नहीं होता ? इसके बारे में नियम यह हैं कि जिस सम्बन्ध से जहाँ किसी वस्तु की आश्रयता प्रतीत होती है उसी सम्बन्ध से वहाँ उस वस्तु के न रहने पर उसका अभाव प्रतीत होता है। जैसे, मेज पर पुस्तक यदि संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होती है तो पुस्तक वहाँ न रहने से उसका अभाव उसी सम्बन्ध से प्रतीत होता है। इसलिये संयोग सम्बन्ध पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता को प्रस्तुत प्रसंग में नियन्त्रित करता है। संयोग चूँकि यहाँ आधार-आधये स्वरूप की स्पष्ट करता है इसलिये उसे वृत्तिनियामक सम्बन्ध स्वीकार किया हैं और उसके द्वारा वस्तु की आश्रयता को व्यक्त किये जाने के कारण वह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है। उसी प्रकार जो सम्बन्ध इस तरह आश्रयता को उद्घाटित नहीं करते वे प्रतियोगिता के नियामक नहीं होते हैं। इसलिये वृत्यनियाकम सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि अत्यान्ताभाव की प्रतियोगिता का नियामक वही सम्बन्ध हो सकता है जो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव को उद्घाटित करेगा और इस प्रकार

वृत्तिनियामक सम्बन्धों के द्वारा ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव उद्घाटित किया जाने के कारण उन्हें प्रतियोगिता के नियामक कहा जाता है, वृत्यनियामक सम्बन्धों को नहीं।

सामान्याभाव की प्रतियोगिता को प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप या प्रतियोगिता स्वरूप माना गया है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि समवाय सम्बन्ध से अग्नि के प्रतियोगिता अग्नित्व स्वरूप है तो संयोग सम्बन्ध से अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता भी अग्नित्व स्वरूप है अग्नित्व एक ही है तो जो प्रतियोगिता समवाय से नियन्त्रित है वही संयोग से भी नियन्त्रित है। अतः सभी सम्बन्ध प्रतियोगिता के नियन्त्रक है वही संयोग से भी नियन्त्रित है। इसके विषय में नैयायिकों का कथन है प्रतियोगिता प्रतियोगिरूप हो अथवा प्रतियोगिताच्छेदकरूप हो, किसी भी अभाव की प्रतियोगिता किसी विशिष्ट धर्म सम्बन्ध से ही नियन्त्रित होती है, सभी धर्मों और सम्बन्धों से नियन्त्रित नहीं होती है, । क्योंकि ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि समवाय से नियमित अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता संयोग से नियमित नहीं होती है।[२९] अतः प्रतियोगिता का स्वरूप कुछ भी हो, वह किसी विशिष्ट सम्बन्ध से तथा विशिष्ट धर्म से ही नियमित होती है।

तथापि कुछ नैयायिक प्रतियोगिता को वृत्यनियामक सम्बन्ध से भी नियमित मानते हैं।[३०] उनका कथन है कि ''चैत्र धनी है'' इस प्रतीति में धन चैत्र में स्वामित्व रूप सम्बन्ध से प्रतीत होता है, तो 'चैत्र निर्धन है' इस प्रतीति में चैत्र में धन का अत्यन्ताभाव जो बोधित होता है उसकी प्रतियोगिता स्वामित्व रूप सम्बन्ध से नियमित होती है। अन्यथा 'चैत्र धनी है' इस बुद्धि का विरोध चैत्र निर्धन है यह बुद्धि नहीं करेगी। अतः वृत्यनियामक स्वामित्व सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) मानना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि अन्योन्याभाव के स्वरूप के प्रसंग में नैयायिक तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। परन्तु पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तादात्म्य सम्बन्ध भी वृत्यनियामक सम्बन्ध है। अतः वह किसी भी प्रतियोगिता का नियामक नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याभाव का उक्त लक्षण दूषित हो जाता है। अतः वृत्यनियामक तादात्म्य सम्बन्ध भी प्रतियोगिता का नियामक होता है। परन्तु दूसरे पक्ष का कथन है कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित मानना आवश्यक है क्यों कि उसके बिना प्रतिबध्य और प्रतिबन्धक भाव नहीं बनता है। वह बात भेद के साथ नहीं चरितार्थ होती। अतः भेद की प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित मानने की आवश्यकता नहीं है।[३१] तथापि फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अन्योन्याभाव का लक्षण क्या होगा ? उक्त मत में ध्वंसत्वादि के समान अन्योन्याभावत्व भी एक स्वतन्त्र अखण्ड याने अविश्लेष्य उपाधि है।[३२]

इसके विपरीत दूसरे पक्ष का कथन है कि प्रतीति के बल से ही अर्थ-सिद्धि होती है। यदि तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव अन्योन्याभाव है यह प्रतीति प्रामाणिक है तो तादात्म्य सम्बन्ध को वह वृत्यनियामक होने के बावजूद भी

प्रतियोगिता का नियामक मानना अनिवार्य है।[३३] इसलिये वृत्यनियामक सम्बन्ध नियमतः प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य से भिन्न वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता। वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता इस सामान्य नियम के लिये तादात्म्य सम्बन्ध अपवाद है। हाँ, तादात्म्य सम्बन्ध यह सम्बन्ध ही है या नहीं इसकी चर्चा इस प्रश्न की चर्चा से भिन्न है। सम्बन्ध की चर्चा करते समय इसका विचार किया जायगा।

सामान्याभाव (घट-मात्र का अभाव) के सम्बन्ध में दूसरा एक विचारणीय विषय यह है कि सामान्याभाव की प्रतियोगिता का स्वरूप क्या है ? हम जानते हैं कि प्रतियोगिता के स्वरूप के सम्बन्ध मे नैयायिकों के तीन मत है:

(१) प्रतियोगिता प्रतियोगीरूप होती है।

(२) प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक (नियामक) रूप होती है। तथा

(३) प्रतियोगिता स्वतन्त्र पदार्थ है।

इनमें से प्रथम पक्ष का कथन है कि प्रतियोगिता स्वरूप सम्बन्ध है। परन्तु उसे किसका स्वरूप मानेः अभाव का, प्रतियोगि का, या प्रतियोगितावच्छेदक का ? प्रतियोगिता अभाव स्वरूप नहीं हो सकती। इस बात को पिछले लेख में स्पष्ट किया गया है। प्रतियोगिता को यदि प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप मानें तो धूम के अभाव की प्रतियोगिता धूमत्व-स्वरूप होगी और धूमत्व रूप से प्रमेय के अभाव की प्रतियोगिता भी धूमत्व रूप होगी। अर्थात्, दोनों अभावों की प्रतियोगिताओं की एकता होने से उक्त अभावों की भी एकता स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिये इस मत के अनुयायियों का कथन है कि स्वरूप-सम्बन्धात्मिका प्रतियोगिता प्रतियोगीरूप है। अतः प्रतियोगिता सामान्याभाव के सम्बन्ध में प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न है।

दूसरे मत के अनुसार स्वरूप-सम्बन्धातमक प्रतियोगिता सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता के नियामक धर्म-स्वरूप ही है।[३४] उनका कथन यह है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगि-स्वरूप मानने पर प्रतियोगिता प्रतिव्यक्ति-भेद से अनेक हो जाने के कारण कल्पना-गौरव दोष उत्पन्न होता है। तथा, सब में समान रूप से रहने वाला अनुगत स्वरूप भी प्रतियोगिता का नहीं रह पाता हैं। दूसरी बात यह है कि प्रतियोगि और प्रतियोगिता के एक होने पर उनमें आधार-आधेय नहीं बनता है। तात्पर्य यह है कि प्रतियोगिता का स्पष्टीकरण करते समय "प्रतियोगिता यस्यास्तीति स प्रतियोगी" अर्थात्, जिसमें प्रतियोगिता रहती है (याने प्रतियोगिता जिसका धर्म है) उसे प्रतियोगी कहा कहा जाता है, याने प्रतियोगिता आधेय है तथा प्रतियोगी आधार है इसे ध्यान में रखना चाहिये। जब प्रतियोगिता प्रतियोगी स्वरूप होगी तो 'स्व' 'स्व' का आधार नहीं हो सकता है, या कोई भी व्यक्ति अपने ही कंधों पर किसी भी स्थिती में खड़ा नहीं हो सकता इस प्रकार की प्रतीति बाधित होगी। इसलिये प्रतियोगिता को प्रतियोगि-रूप मानने के

बजाय उसे प्रतियोगितावच्छेदकधर्म (यथा घटत्व)-रूप मानना चाहिये, जिससे प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव के लिये आवश्यक आधार-आधेय व्यवस्था दूषित नहीं होती तथा प्रतियोगिता का प्रतियोगी-मात्र में अनुगत होनेवाला स्वरूप भी प्रस्फुटित होता है।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रतियोगिता को प्रतियोगीस्वरूप मानें तो प्रतियोगिता के नियामक से नियमित के साथ अभाव का विरोध नहीं हो सकेगा। क्योंकि जैसे अग्नि के अभाव की अग्निरूप प्रतियोगिता अग्नित्व से युक्त है वैसे ही द्रव्यत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों से भी युक्त है। द्रव्यत्व से युक्त के साथ अग्नि के अभाव का कोई विरोध नहीं है। अतः प्रतियोगिता को प्रतियोगीरूप मानने के बजाय उसे प्रतियोगितावच्छेदकरूप मानने पर उक्त प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होता है। उस मत में अग्नित्व-रूप प्रतियोगिताश्रय के साथ (याने अग्नि के साथ) अग्नि के अभाव का विरोध स्पष्ट है।

तीसरी एक बात जो बतायी जाती है वह यह है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगी-स्वरूप मानें तो घट-सामान्याभाव और घट-विशेषाभाव में कोई भेद नहीं रह जायगा, क्यों कि दोनों का भी प्रतियोगी घट ही है।[३५] यहाँ प्रतियोगिता को अतिरिक्तरूप मानने वालों का कथन यह है कि सामान्याभाव और विशेषाभाव में अन्तर यह है कि प्रतियोगिता सामान्याभाव-स्थल में सभी प्रतियोगियों में एक ही है, जब कि विशेषाभाव-स्थल में वह प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न है। अतः सामान्याभाव और विशेषाभाव में, इस पक्ष को स्वीकार करने पर भेद हो जाता है तथा उनके अवच्छेदक धर्मों में भी भेद हो जाता है । इसलिये प्रतियोगिता को अरिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करना ही अधिक युक्तियुक्त है।

प्राचीन नैयायिकों का यह भी मत है कि सामान्याभाव की प्रतियोगिता क प्रतियोगि तथा प्रतियोगितावच्छेदक ये दोनों ही रूप हैं, परन्तु विशेषाभावीय प्रतियोगिता केवल प्रतियोगी-स्वरूप ही है।[३६] यदि इसे विशेष धर्म-रूप मानें तो सामान्यरूपेण विशेषाभाव में कोई अन्तर नहीं रहेगा और ये दोनों एकही हैं ऐसा स्वीकार करना अयुक्त है।

कुछ नैयायिक सामान्याभाव और विशेषाभाव के अलावा सामान्य रूप से विशेष का अभाव भी स्वीकार करते हैं[३७] अग्नि का अभाव यह अग्नि-सामान्याभाव है तथा द्रव्यत्व -रूप से अग्नि का अभाव यह सामान्य रूप से विशेष का अभाव हैं। द्रव्यत्व यह अग्नि का सामान्य धर्म है। उसी प्रकार अग्नि प्रमेय होने से प्रमेत्व-रूप से अग्नि का अभाव सामान्य रूप से अग्नि का अभाव है। लेकिन प्रश्न यह है कि इस प्रकार के विलक्षण अभाव की प्रतीति होती है क्या ? यदि होती है तो वह क्यों होती है ?

हम यह जानते हैं कि अभाव की विलक्षणता का आधार प्रतिबन्धक बुद्धि ही है। अग्नि की बुद्धि के साथ अग्न्याभाव की बुद्धि विरोधक होती है, इसलिये अग्नि का अभाव एक स्वतंत्र पदार्थ है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि सर्वत्र प्रतियोगिमत्ता की बुद्धि के साथ प्रतियोगी के अभाव की बुद्धि विरोधी होती है क्या ? इस पर नैयायिक कहते हैं कि नहीं, ऐसा निरपवादतया नहीं होता है। कुछ अभावबुद्धियाँ ऐसी भी होती हैं जिन

का प्रतियोगिबोध के साथ विरोध नहीं होता है। उदाहरणार्थ, जहाँ अग्नि की आश्रयता ज्ञात होती है वहीं पर जलत्व रूप से अग्नि का अभाव प्रतीत होता है, या जहाँ मनुष्य की आश्रयता ज्ञात होती है वहीं पर पशुत्व रूप से मनुष्य का अभाव ज्ञात होता है। न्यायशास्त्र की परिभाषा में इसे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहते हैं। इसके सम्बन्ध में नैयायिकों में काफी मतभेद हैं, जिनका विवेचन यथास्थान किया जायगा। इसलिए नैयायिकों का यह कथन है कि प्रतियोगी में प्रकार-स्वरूप धर्म से युक्त प्रतियोगिता के नियन्त्रक धर्म से युक्त प्रतियोगिमत्ताबुद्धि के साथ ही अभाववत्ता बोध का विरोध होता है।[३८] अर्थात्, 'अग्निमान्' इस बोध के साथ जो कि प्रतियोगी में प्रकार-स्वरूप अग्नित्व से युक्त अग्नि के साथ अग्नि के अभाव का ज्ञान प्रतिबद्ध होता है। अतः जहाँ अग्नि-बुद्धि है वहाँ अग्नि के अभाव की बुद्धि याने अग्नित्वेन अग्नि के अभाव की बुद्धि नहीं होती है, परन्तु जहाँ अग्निबुद्धि है वहाँ भी द्रव्यत्वेन अग्नि के अभाव की बुद्धि होने में कोई बाधा नहीं है। इससे यह ज्ञात हैं कि यह अभाव अग्नि के अभाव से विलक्षण अभाव है। इसे ही नैयायिक सामान्यधर्मेण विशेषाभाव कहते हैं। यह सामान्याभाव से विलक्षण है, क्योंकि जहाँ वस्तु के विद्यमान होने पर वस्तु के सामान्याभाव की बुद्धि नहीं होती है वहाँ उसके सामान्य रूप से विशेषाभाव की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।

यहाँ यह नहीं कह सकते कि अग्नित्व ही प्रतियोगितावच्छेदक है। द्रव्यत्व का अग्नि के साथ सम्बन्ध मात्र बोधित होता है, क्योंकि जिसे अग्निमान् यह निश्चय रहता है उसे भी उसी स्थान पर द्रव्यत्व रूप से अग्नि नहीं है यह प्रतीति होती है (जिसे अग्नि के द्रव्य होने का ज्ञान नहीं है)। इसलिए द्रव्यत्व को उक्त अभाव की प्रतियोगिता का नियामक मानना आवश्यक है। क्योंकि अग्नित्व से नियमित अग्नि में रहनेवाली प्रतियोगितावाली अग्नि-बुद्धि में अग्नित्व रूप से अग्निमत्ता का निश्चय विरोधक होता है इसलिए वहाँ भी प्रतियोगिता का नियामक द्रव्यत्व के स्थान पर अग्नित्व को मानने पर उक्त बुद्धि नहीं होगी। इसलिए द्रव्यत्व से नियमित अग्नि में रहनेवाली प्रतियोगितावाले अभाव-बोध में द्रव्यत्व रूप से अग्नि का निश्चय ही विरोधी होता है। अतः अग्नित्व रूप से अग्नि का निश्चय होने पर भी द्रव्यत्व रूप से अग्नि के अभाव के निश्चय में कोई बाधा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्रव्यत्व रूप से अग्नि का अभाव अग्नि सामान्य-भाव से विलक्षण है। वह विलक्षणता प्रतियोगिता के स्वरूप की भिन्नत से उत्पन्न होती है। जैसा कहा जा चुका है कि प्रतियोगिता को स्वरूप सम्बन्ध के मत में सामान्याभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगिता-नियामक-रूप होती है, परन्तु सामान्य रूप से विशेषाभाव-स्थल में इसका स्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक सामान्य नहीं है, अपितु प्रतियोगि में प्रकार के रूप विद्यमान जो विशेष धर्म ही है,[३९] अर्थात् द्रव्यत्व रूप से अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता द्रव्यत्व स्वरूप न हो कर अग्नित्व (जो अग्नि का विशेषधर्म है) रूप है, क्योंकि उसे द्रव्यत्व रूप मानने पर द्रव्य-सामान्याभाव और द्रव्यत्वेन अग्नि का अभाव

इनमें कोई भेद नहीं होगा। दोनों ही की प्रतियोगिता द्रव्यत्व-स्वरूप होगी और प्रतियोगिता के स्वरूप में भिन्नता न होने से अभावों में भी भिन्नता नहीं होगी। ''इसलिए द्रव्यत्व रूप से पर्वत पर अग्नि नहीं है' इस अभाव की प्रतियोगिता द्रव्यत्व से नियमित होने पर भी वह प्रतियोगिता द्रव्यत्व नहीं है। वह अग्नित्व है या पूर्णतया स्वतन्त्र पदार्थ है।

परन्तु सामान्य रूपेण विशेष का अभाव (जैसे द्रव्यत्व रूप से अग्नि का अभाव) सभी नैयायिकों को मान्य प्रतीत नहीं होता। जगह-जगह पर जगदीश कहते हैं:[४०] ''क्योंकि (कुछ नैयायिक) सामान्य रूप से विशेषाभाव को नहीं मानते'' या ''यदि (कुछ नैयायिक) सामान्य रूप से विशेषाभाव स्वीकार करें'' याने वन्हित्व रूप से तद्-वन्हि का अभाव स्वीकार किया तो। इससे यह स्पष्ट है कि अनेक नैयायिकों की इस पक्ष के स्वीकार के बारे में अरूचि है। लेकिन इस प्रकार की उनकी अरूचि का कारण क्या है ? सामान्य रूप से विशेषाभाव का तात्पर्य है कि जिस विशेषाभाव की प्रतियोगिता सामान्य धर्म से नियमित होती है वह अभाव, अर्थात् उस अभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व सामान्य तत्त्व होता है, विशेष तत्त्व नहीं, जैसा कि उक्त उदाहरण में द्रव्यत्व है। परन्तु नियामक अर्थात् अवच्छेदक के स्वरूप के विवेचन (जो कि आगे किया जायगा) से यह स्पष्ट है कि विशेष वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक वही होता है जो ने कम (न्यून) स्थान में और न अधिक स्थान में रहता है। इस दृष्टि से सामान्य धर्म से निरूपित विशेषाभाव सम्भव नहीं है। इसलिए कहा गया है कि प्रतियोगिता विशेष धर्म है। यदि वह इस प्रकार विशेष धर्म है तो उसे ही वहाँ अवच्छेदक मानना चाहिए, सामान्य धर्म को नहीं।

उपर में सामान्य रूपेण विशेषाभाव को प्रतियोगिता की चर्चा की गयी। अब इस में विशेष रूपेण सामान्याभाव की प्रतियोगिता की चर्चा करेंगे। सामान्य धर्म अतिप्रसक्त होने से प्रतियोगिता तद्रूप नहीं हो सकती। अतः जिस प्रकार कुछ नैयायिक सामान्य रूपेण विशेषाभाव अर्थात् द्रव्यत्व रूप से अग्नि का अभाव स्वीकार करते है तथा उसकी प्रतियोगिता को विशेषधर्म (द्रव्यत्व) के रूप में स्वीकार करते है, उसी प्रकार कुछ नैयायिक विशेष रूपेण सामान्याभाव स्वीकार करते है;[४१] जैसे, श्वेत-गोत्वेन गो का अभाव विशेष रूपेण सामान्याभाव है क्योंकि कृष्ण आदि गौओं के विद्यमान होने पर भी यह अभाव श्वेत के न रहने पर रहता है। जिस तर्क के आधार पर सामान्य रूपेण विशेषाभाव सिद्ध होता है उसी तक के आधार पर विशेष रूपेण सामान्याभाव भी सिद्ध होता है। अतः कुछ नैयायिकों के मतानुसार उनमें से एक को स्वीकार करना तथा दूसरे को अस्वीकार करना युक्ति-संगत नहीं है।[४२]

अब प्रश्न यह है कि सामान्य रूपेण विशेषाभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगी में प्रकार के रूप में भासित होने वाले विशेष-धर्म के रूप में होती है, तो विशेष रूप से सामान्याभाव की प्रतियोगिता का क्या स्वरूप है ? यदि इसे सामान्याभाव के समान प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप मानें तो सामान्य रूपेण विशेषाभाव और विशेष रूपेण

सामान्याभाव में कोई भेद नहीं होगा। अतः इसे सामान्य धर्म के रूप में ही स्वीकार करना होगा। शुद्ध सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप होती है यह हम पूर्व लेख में देख चुके हैं। जब शुद्ध सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक-रूप होती है तब विशेष रूपेण सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता प्रतियोगि में प्रकारीभूत धर्म-स्वरूप होती है, प्रतियोगितावच्छेदकरूप नहीं, क्योंकि यहा प्रतियोगितावच्छेदक विशेष धर्म है, सामान्य धर्म नहीं।

दूसरी बात यह है कि धूम के अभाव की जो प्रतियोगिता है वही धूमत्वेन प्रमेय के अभाव की प्रतियोगिता नहीं है, चूंकि धूमत्वेन प्रमेय का अभाव विशेष रूपेण सामान्याभाव होने से इसकी प्रतियोगिता प्रतिव्यक्ति भिन्न है।[४३]

जिस प्रकार सभी नैयायिक सामान्य रूप से विशेषाभाव नहीं मानते, उसी प्रकार विशेष रूप से सामान्याभाव भी नहीं मानते। उनका कथन है कि विशेष धर्म से सामान्य का अभाव असिद्ध ही है[४४] परन्तु यदि उक्त अभाव असिद्ध है तो उसकी प्रतीति क्यों होती है ? इस प्रश्न पर उनका उत्तर यह है कि उक्त प्रतीति मे श्वेतत्व का अभाव गो में प्रतीत है, न कि श्वेत गो के रूप में गो का अभाव। विशेष रूप से सामान्यभाव स्वीकार करने पर सामान्य रूप से विशेषाभाव भी तुल्य न्यायेन स्वीकार करना पड़ेगा, और उसे स्वीकार करने पर वाच्यत्व रूप से घट नहीं है यह प्रतीति भी होनी चाहिये, क्योंकि वाच्यत्व घट का सामान्य धर्म है। तथापि उक्त प्रत्यय अनुभव के विरूद्ध है। अतः सामान्य रूपेण विशेषाभाव मानने में बाधा है। तुल्य रूप से विशेष रूपेण सामान्याभाव भी सिद्ध नहीं है। जिस प्रकार सामान्य धर्म प्रतियोगिता से अधिक-वृत्ति होने के कारण प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता, उसी प्रकार विशेष धर्म प्रतियोगिता से न्यून-वृत्ति होने की बजह से प्रतियोगिता का नियामक नहीं होना।

परन्तु दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि आदि नैयायिकों का कथन है कि यदि ''घटत्वेन पटो नास्ति'' अर्थात् घटत्व रूप से पट के अभाव (जो कि न्याय की भाषा में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहा जाता है और उसका विवेचन आगे किया जा रहा है) का लोगों को होने वाला यथार्थ अनुभव है[४५] तो इस युक्ति के आधार पर विशेष रूप से सामान्य का तथा सामान्य रूप से विशेष का अभाव स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। ''द्रव्यत्वेन घट नहीं है'' इस प्रतीति में घटत्व से नियमित प्रतियोगिता ही मालूम पड़ती है यह पहले ही खण्डित किया जा चुका है।[४६]

विशेष रूपेण सामान्याभाव के पश्चात् उभयाभाव की प्रतियोगिता का भी विचार करना पड़ेगा। उभयाभाव (दो वस्तुओं का एकसाथ अभाव या उनमें से किसी भी एक का अभाव) की प्रतीति भी एक विलक्षण प्रतीति है। उभयाभाव जैसे उभय वस्तुओं न रहने पर प्रतीत होता है वैसे उनमें से एक के न रहने पर भी प्रतीत होता है। जहाँ गो और महिष दोनों का अभाव रहता है वहाँ भी गो और महिष इन दोनों का अभाव प्रतीत है, उसी प्रकार जहाँ गो नहीं है या महिष नहीं है वहाँ भी गो और महिष उभय का अभाव

प्रतीत होता है। इसे ही संस्कृत में कहते हैं एक सत्वेऽपि द्वयं नास्ति। इसे नैयायिक व्यासज्य-वृत्ति धर्म से नियमित प्रतियोगिता-वाला अभाव कहते हैं।

इस प्रकार के अभाव की प्रतियोगिता के सम्बन्ध में नैयायिकों में मतभेद है। कुछ नैयायिक मानते हैं कि उभायाभाव को प्रतियोगिता उभय में रहती है और उभयत्व से नियमित होती है।[४७] उदाहरणार्थ, गो और अश्व उभय के अभाव की प्रतियोगिता गो और अश्व दोनों में समान से है। इसे यदि उनमें से एक में ही अर्थात् गो में ही प्रतियोगिता मानें तो गो के अभाव और गो तथा अश्व उभय के अभाव में कोई भेद नहीं होगा। एक में प्रतियोगिता मानने पर उभयत्व उसका नियामक नहीं माना जा सकेगा। प्रश्न यहाँ यह है कि प्रतियोगिता जो उभय में है वह एक है या एक से अधिक याने दो अलग-अलग प्रतियोगिताएँ हैं ? कुछ नैयायिकों का उत्तर है कि एक धर्म से नियमित प्रतियोगिता एक ही होती है।[४८] लेकिन उभयाभाव की प्रतियोगिता व्यासज्य वृत्ति होती है, अर्थात् एक साथ ही दोनों पदार्थों में रहती है। यदि उनमें से एक ही पदार्थ में उक्त प्रतियोगिता रहती हो तो उभयाभाव और अन्यतराभाव में पार्थक्य करना सम्भव नहीं होगा। इसके विरूद्ध कुछ अन्य नैयायिकों का मत है कि प्रतियोगिता प्रति आश्रय में भिन्न-भिन्न है,[४९] एक ही नहीं है। अर्थात् गो और अश्व के अभाव की प्रतियोगिता अश्व में जो है वह गो नहीं है, जो गो में है वह अश्व में नहीं है।

वासुदेव सार्वभौम का मत है कि उभयाभाव और विशिष्टाभाव में कोई भेद नहीं है। उनका कथन यह है कि उभयत्व एक विशिष्ट अपरत्व है।[५०] अर्थात्, 'गो और अश्व उभय' का अर्थ है 'गो के साथ अश्व'। इसलिये उभयाभाव की प्रतियोगिता गो के साथ अश्व में है, न कि अश्व या गो में भिन्न-भिन्न है। परन्तु ऐसा मानने पर उभयाभाव और विशिष्टाभाव भेद करना कठिन होगा। उभयाभाव (गो और अश्व उभय का अभाव) गो के न रहने से होता है, अश्व के रहने से होता है, तथा दोनों के न रहने से भी होता है। विशिष्टाभाव भी विशेषण के न रहने से, विशेष्य के न रहने से तथा दोनों के न रहने से होता है। अतः इन दो प्रकार के अभावों में कोई भेद नहीं होगा। तथापि उनमें होने वाला भेद प्रतियोगिता-प्रयुक्त होता है। अतः यज्ञपति का कथन है कि विशिष्टाभाव की प्रतियोगिता विशेषण में होती है, तथा उभायाभाव की प्रतियोगिता उसी में होती है जिसके न रहने पर उभयाभाव की प्रतीति होती है।[५१] घटविशिष्ट पट के अभाव की प्रतियोगिता घट में है तथा घट-पट-उभयाभाव की प्रतियोगिता उसमें रहती है जिस अभाव के कारण उभयाभाव प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि यदि घट के न रहने से घट-पट-उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता घट में रहेगी, यदि पट के न रहने से घट-पट उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता घट में रहेगी, यदि पट के न रहने से घट-पट उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता पट में रहेगी, तथा उन दोनों के न रहने से उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता दोनों में (घट में तथा पट में रहेगी)

वासुदेव सार्वभौम उभयत्व को पर्याप्ति सम्बन्ध से रहनेवाला नहीं मानते।[५२] उनके मतानुसार उभयत्व व्यासज्यवृत्ति न होने से उसकी प्रतियोगिता भी व्यासज्यवृत्ति नहीं है। प्रतियोगिता हमेशा विशेषण में ही रहती है, क्योंकि विशेषण के न रहने से ही विशिष्टत्व नहीं होता। अकेला विशेष्य के बिना विशिष्ट नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि विशेषण के कारण ही कोई वस्तु विशिष्ट कहलाती है। यदि विशेषण नहीं है तो कोई पदार्थ विशेष्य भी नहीं हो सकता; और विशेषण नहीं है तो विशिष्ट भी नहीं है, क्योंकि विशेषण के जरिये ही कोई विशेष्य विशिष्ट कहलाता है। अतः विशिष्टाभाव की प्रतियोगिता केवल विशेषण में ही है। अतः उनके मतानुसार उभयाभाव की प्रतियोगिता एक से अधिक स्थानों में नहीं रहती।

परन्तु दूसरे अनेक नैयायिक वासुदेव सार्वभौम से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि उभयाभाव और विशिष्टाभाव ये दो भिन्न प्रकार के अभाव हैं। उभयत्व एक विशिष्ट अपरत्व नहीं है।[५३] किन्तु यह अपेक्षा-बुद्धि से जन्य विशेष विषयत्व है। विशिष्टाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक के शरीर में सामानाधिकरण्य (एक ही आश्रय में रहना) का प्रवेश होता है, जबकि उभयाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक के शरीर में सामानाधिरण्य का कोई स्थान नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब 'घट-विशिष्ट पट का अभाव' या 'गो-विशिष्ट अश्व का अभाव' इस प्रकार का शब्दप्रयोग किया जाता है तो उसमें घट और पट के या गो और अश्व के एक-साथ रहने की संकल्पना अन्तर्निहित रहती है। परन्तु जब हम गो एवं अश्व का अभाव कहते हैं तो उसमें उनके एक-साथ रहने की संकल्पना अन्तर्निहित नहीं रहती। उभयत्व की संकल्पना अपेक्षा-बुद्धि के द्वारा जन्य विशेष विषयता की संकल्पना होने से उभयाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक जो उभयत्व है उसमें सामानाधिकरण्य अन्तर्निहित नहीं है।

परन्तु उभयाभाव का प्रतियोगी यदभाव-प्रयुक्त उभयाभाव होता है ऐसा मानने पर उभयाभाव और अन्यतराभाव में भेद कैसे होगा ? क्योंकि जहाँ उभयाभाव रहता है वहाँ अन्यतर का अभाव रहता है और जहाँ अन्यतर का अभाव रहता है वहाँ उभय का अभाव भी रहता है। इस तरह ये दोनों अभाव बराबर रहने वाले हैं। उदाहरणार्थ, जहाँ अश्व और गो में से एक का अभाव है वहाँ अश्व और गो दोनों का अभाव भी है; उसी तरह जहाँ अश्व और गो दोनों का एक-साथ अभाव है वहाँ उक्त दोनों में से एक का अभाव अवश्य ही है। इस प्रकार दोनों प्रकार के अभाव समनियत (एक दूसरे के बराबर) रहनेवाले परन्तु क्या इन दोनों अभावों की संकल्पनाएँ एक ही स्थिति को व्यक्त करती हैं ? नहीं। ये दो अभाव समनियत होते हुए भी एक नहीं हैं। उनमें भेद है और यह प्रति-योगिताभेद के द्वारा ही समझाया जा सकता है। उभयाभाव की प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्ति है जबकि अन्यतराभाव को प्रतियोगिता एक में ही रहती है। यदि उभयाभाव की प्रतियोगिता को एक में ही स्थित मानें याने जिसके न रहने से उभयाभाव प्रतीत होता है उसमें ही अवस्थित माने, तो उभयाभाव और अन्यतराभाव में भेद क्या होगा ? लेकिन उनके

समनियत होते हुए भी प्रतियोगिता के आधार पर भेद दिखाया जा सकता है। उभयाभाव की प्रतियोगिता उभयत्व से नियमित होती है तथा अन्यतराभाव की प्रतियोगिता अन्यतरत्व से नियमित होती है। उभयत्व और अन्यतरत्व ये दो भिन्न संकल्पनाएँ हैं। उभयत्व एक विशिष्ट अपरत्व या अपेक्षा-बुद्धि-विशेष-विषयत्व है जबकि अन्यतरत्व ''भेदद्वया-वच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदवत्त्व'' स्वरूप है। अतः दोनों में भेद है। नैयायिकों का बहुमत उभयाभाव की प्रतियोगिता अनेक में रहनेवाली है ऐसा पक्ष स्वीकार करता है।

सामान्य रूपेण विशेषाभाव की तरह विरोधी धर्मेण वस्तु का अभाव भी एक विलक्षण प्रकार का अभाव है और उसका विवेचन न्याय ग्रन्थों में मिलता है। वह अभाव ''व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव'' (अर्थात् जिसकी प्रतियोगिता व्यधिकरण-धर्म-याने प्रतियोगि में न होने वाले तत्त्व-से नियमित होती है ऐसा) है। इस व्यधिकरणधर्मविच्छिन्नाभाव को सोन्दड उपाध्याय [५४] नामक चिन्तक ने प्रस्तुत किया था। यद्यपि इस अभाव का खण्डन तत्त्वचिन्तमणिकार गंगेशोपाध्याय ने किया है तथापि इस मीमांसक तत्त्वचिन्तक के द्वारा प्रस्तुत अभाव को लेकर व्याप्ति के चौदह लक्षण नव्य-न्याय में प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, गोत्व रूप से अश्व का अभाव व्यधिकरण-धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता-वाला अभाव है। धर्म दो प्रकार के हो सकते हैं: समानाधिकरण और व्यधिकरण। जो धर्म जिसके साथ किसी अधिकरण पर रहता है उस धर्म को उसका समानाधिकरण धर्म कहते हैं, तथा जो धर्म जिसके साथ किसी अधिकरण पर नहीं रहता है उस धर्म को उसका व्यधिकरण धर्म कहते है। गोत्व धर्म अश्व में रहनेवाली प्रतियोगिता का समानाधिकरण नहीं है, वह व्यधिकरण धर्म है; तथा अश्वत्व उस प्रतियोगिता का समानाधिकरण धर्म है। जब 'गोत्वेन अश्व का अभाव' कहते हैं तो अश्व में रहनेवाली उस अभाव की प्रतियोगिता गोत्व धर्म से नियमित होती है, जो उक्त प्रतियोगिता का व्यधिकरण-धर्म है। इसलिये उक्त अभाव को व्यधिकरणाधर्मावच्छिन्नाभाव कहा गया है। सामान्य रूप से प्रतियोगिता में न रहनेवाले धर्म से नियमित प्रतियोगितावाले अभाव को व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहते हैं। परन्तु उसका यह लक्षण पर्याप्त नहीं है। क्योंकि विशिष्टसत्ता-रूप से गुण के अभाव को तथा गगन रूप से घट के अभाव को भी व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के रूप में नैयायिकों ने स्वीकार किया है। अतः 'व्यधिकरण-धर्म' का स्वरूप सुव्यवस्थित रीति से स्पष्ट होना आवश्यक है। इसलिये स्व (प्रतियोगिता) के अधिकरणता में रहनेवाले भेद की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता का अभाव तथा स्वाश्रय में वृत्तित्व ये दोनों जिसमें न हो वह धर्म ही व्यधिकरण धर्म है और उससे नियमित प्रतियोगितावाला अभाव ही व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव कहलाता है।[५५]

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार का अभाव कैसे सम्भव है? क्योंकि प्रतियोगिता के नियन्त्रक धर्म से युक्त के आश्रय में उसका अभाव नहीं रहता है। अर्थात् व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव आश्रयता के साथ प्रतियोगी का विरोध नहीं होता है। जहाँ अश्व

होगा वहाँ अश्व का अभाव नहीं रहता है। जब 'गोत्वेन अश्व का अभाव' कहते हैं तो वह अभाव प्रतियोगिताच्छेदक गोत्व से युक्त गो के आश्रय में भी रहता है, जबकि गो का अभाव वहाँ नहीं रहता है। यह अभाव प्रतियोगि के आश्रय में रहने से उसका प्रतियोगि के साथ कोई विरोध नहीं है। जिसका प्रतियोगितावच्छेदकयुक्त प्रतियोगि के साथ विरोध नहीं है ऐसा अभाव कैसे सम्भव है ? इस विषय में सोन्दड के अनुयायियों का यह मन्तव्य है कि सोन्दडोपाध्याय के मत से प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगिमत्ता के साथ अभाव का विरोध नहीं है। अन्यथा घटत्व का आश्रय घट के रहने पर घटत्वेन पटाभाव की प्रतीति ही नहीं होगी। घट के आश्रय में 'घटत्वेन पटो नास्ति' घट के रूप में पट नहीं है यह प्रतीति होती है। अतः प्रतियोगि में प्रकार स्वरूप धर्म-विशिष्ट प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न जो होता है उसके साथ ही अभाव का विरोध होता है। व्यधिकरण धर्म को प्रतियोगिता का नियामक मानने पर केवल-प्रतियोगिताच्छेदक से अवच्छिन्न होने वाले के साथ अभाव का विरोध नहीं है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार करने में विवाद है। और गंगेश ने उसका खण्डन भी किया है।[५६] परन्तु समनियताभाव को एक ही मानने पर सभी व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव गगनाभावरूप होते हैं, क्योकि जहाँ-जहाँ व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्नाभाव रहता है वहाँ-वहाँ गगनाभाव भी रहता है, क्योंकि ये दोनों ही प्रकार के अभाव सर्वत्र रहते हैं। ऐसी परिस्थिती में गगनाभाव माननेवाले चिन्तामणिकार भी उसे अस्वीकार नहीं कर सकते।[५७]

अब प्रश्न है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता का स्वरूप क्या है ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप नहीं है; वह अतिरिक्त ही है। उसे प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप मानने पर प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि के साथ अभाव का विरोध होने से प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि के आश्रय में उक्त अभाव नहीं रहेगा। इसलिए प्रतियोगिता को अतिरिक्त मानना ही उचित है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के सम्बन्ध में विवाद भी उसकी अतिरिक्त प्रतियोगिता को लेकर ही है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव और गगनाभाव एक होने पर भी उनकी प्रतियोगिता एक नहीं है। व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता स्वतन्त्र पदार्थ है।[५८]

दूसरा प्रश्न यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता किसी संबंध से नियन्त्रित होती है या नहीं ? यदि होती है तो उसके लिए क्या प्रमाण है ? जैसे 'संयोगेन घटो नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर घटाभाव की प्रतियोगिता संयोग संबंध से नियमित होती है, उसी तरह 'स्वरूप सम्बन्धेन घटत्वेन वाच्यत्वं नास्ति' इस प्रतिति के आधार पर घटत्व से नियन्त्रित वाच्यता के अभाव की प्रतियोगिता भी स्वरूप सम्बन्ध से नियमित होती है।[५९] इस प्रकार अनुभव ही प्रतियोगिता के नियामक संबंध के विषय में प्रमाण है। परन्तु यह कथन समीचीन नहीं है। केवल अनुभव ही प्रतियोगिता के

नियामक संबंध के विषय में प्रमाण नहीं है। प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकाभाव के कारण भी प्रतियोगिता को विशेष संबंध से नियमित मानना पडता है। बाध-ज्ञान में रहनेवाली प्रतिबन्धकता किसी न किसी संबंध-विशेष से नियमित होती है। अन्यथा संयोगेन घटाभावबुद्धि संयोगेन, कालिकेन, समवायेन आदि सभी प्रकार के संबंधो से घटवत्ता-ज्ञान का प्रतिबन्ध करेगी। लेकिन इस प्रकार का प्रतिबन्ध वह नहीं करती। अतः जिस सम्बन्ध से जहाँ जो प्रतीत होता है उसी सम्बन्ध से उसके न रहने पर उसका अभाव प्रतीत होता है। इस तरह समानाधिकरण धर्म से नियमित प्रतियोगिता संबंध से भी नियमित होती है। वही बात व्यधिकरण-धर्म से नियमित प्रतियोगिता के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है।[६०] यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित न मानें तो 'भूतल संयोग सम्बन्ध से पटत्वावच्छिन्न घटयुक्त है' ऐसा ज्ञान रहने पर भूतल में (पर) संयोग सम्बन्ध से पटत्वयुक्त-घट नही है यह प्रतीति होनी चाहिए। लेकिन इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। इसलिए व्यधिकरण-धर्म से नियमित प्रतियोगिता को सम्बन्ध - विशेष से नियमित मानना चाहिए। यह कोई अपसिद्धान्त नहीं है। क्योंकि ग्रंथकार ने ही स्वयं कहा है कि यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रामाणिक है तो उसकी प्रतियोगिता को सभी सम्बन्धों से नियमित माननी चाहिए। लेकिन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव को प्रामाणिकता यही एक प्रश्नचिन्ह है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता अतिरिक्त होने पर भी वह सभी प्रतियोगियों में एक नहीं हैं। वह स्वाश्रय प्रतियोगि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव न मानने वालों का तर्क यह है कि प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि का ज्ञान अभाव मात्र के प्रत्यक्ष के लिए कारण होता है। 'यहाँ गो नहीं है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष उसे ही होता है जिसे गोत्वविशिष्ट गो का पूर्वज्ञान है। जिसे गोत्व-विशिष्ट गो का ज्ञान ही नहीं है उसे उसके अभाव की प्रतीति नहीं होती है। अभाव-बुद्धि के लिये केवल प्रतियोगि के ज्ञान को कारण नहीं कह सकते। नहीं तो 'गो तथा गोत्व' इस प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान के बाद भी 'यहाँ गो नहीं है' यह प्रतीति होनी चाहिये। लेकिन गो के निर्विकल्पक ज्ञान के बाद यहाँ गो नहीं ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अतः अभाव-बुद्धि के लिये प्रतियोगितावच्छेदक गोत्व से युक्त गो के ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है।[६१] गोत्व-युक्त अश्व की प्रतीति न होने से गोत्वरूप से अश्व का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रतीत नहीं होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि अभाव के ज्ञान के लिये प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट प्रतियोगि का ज्ञान कारण है तो गो में शशशृंग के अभाव की प्रतीति कैसे होती है ? क्योंकि शशीयत्व से युक्त शृंग अप्रसिद्ध है। अतः उसका ज्ञान अप्रामाणिक है। इसके विषय में नैयायिकों का कथन है कि 'शशशृंग नहीं है' इस प्रतीति में शशशृंग का अभाव प्रतीत नहीं होता है, अपितु शृंग में शशीयत्व का अभाव प्रतीत होता है।[६२]

दूसरी बात यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि सर्वत्र अभावबुद्धि में प्रति-

योगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि का ज्ञान कारण नहीं होता है तब भी विशिष्ट वैशिष्ट्य का अवगाहन कराने वाले ज्ञान के लिये विशेषणतावच्छेदक विशिष्ट ज्ञान कारण होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव खण्डित हो जाता है। जैसे, 'गोत्वविशिष्ट अश्ववद्-भूतल' इस प्रकार के विशिष्ट के वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाले बोध के लिये 'अश्व गोत्वयुक्त है' इस प्रकार का ज्ञान कारण होता है, उसी प्रकार 'गोत्वेन अश्व नहीं है' इस प्रकार के बोध के लिऐ भी उक्त ज्ञान कारण है, क्योंकि उक्त अभाव विषयक बोध भी विशिष्ट के वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करने वाला बोध है। 'गोत्व रूप से अश्व नहीं है' यह बोध विशिष्ट के वैशिष्ट्य का द्योतक बोध नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'घटो नास्ति' इस अभाव के प्रत्यय में घटत्व से युक्त घट का प्रतियोगि के रूप में ग्रहण होने पर उसमें विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला घटत्व प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है, स्वतन्त्र रूप से घटत्व अवच्छेदक के रूप में प्रतीत नहीं होता है। अर्थात् प्रतियोगि घट के धर्म के रूप में ही उसकी प्रतीति होती है। उसी प्रकार यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के विषय में भी यदि उक्त प्रतीति में व्यधिकरण धर्म से युक्त प्रतियोगि नहीं प्रतीत होता हो तो उसमें उक्त अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता भी नहीं मालूम पड़ती है। यदि व्यधिकरणधर्म से युक्त प्रतियागि प्रतीत होता है तो उसे भ्रम ही मानना पड़ेगा और भ्रम से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती है, प्रमा से ही अर्थ की सिद्धि होती है। अतः उक्त प्रकार के अभाव में व्यधिकरण धर्म से युक्त प्रतियोगि का भासमान होना भ्रम है और इसलिये उक्त प्रकार के अभाव की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है।[६३]

परंतु यदि लोगों का 'गोत्वेन अश्व यहाँ नहीं है' इस प्रकार का अनुभव प्रामाणिक है तो उक्त अभाव का निराकरण ब्रह्मदेव भी नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि उक्त प्रतीति यदि प्रामाणिक है तो इसके लिये व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव मानना आवश्यक है।[६४]

यहाँ और एक बात विचारणीय है कि पूर्व में यह जो कहा गया कि अभावबुद्धि विशिष्ट के वैशिष्ट्य का अवगाहन कराने वाली होने से उसके लिये विशेषणतावच्छेदक विशिष्ट ज्ञान कारण है, परन्तु क्या अभाव-बुद्धि विशेष्यमें विशेषण इस न्याय से सम्भव नहीं है ? नैयायिक कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है कारण विशेष्य-विशेषण न्याय से अभाव का प्रत्यक्ष होने का कोई अनुभव नहीं है।[६५] उसका कारण यह है कि जहाँ प्रतियोगि का ज्ञान नहीं है, या इस प्रकार का ज्ञान रहने पर भी जहाँ अभाव मात्र में घटीयत्व का बाध है उस समय इन्द्रिय-सम्बद्ध विशेषणता रूप सन्निकर्ष से केवल 'नास्ति' इस प्रकार का अभाव का प्रत्यक्ष हो जायगा। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिये विशिष्ट के वैशिष्ट्य का अवगाहन कराने वाले अभाव के लौकिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय सम्बन्ध विशेषणता को कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार की ज्ञान-साम्रगी न होने से 'विशेष्ये विशेषणं, इस न्याय से अभाव का प्रत्यक्ष नहीं भी नहीं होता है।[६६] अतः अभाव का प्रत्यक्ष विशिष्ट के वैशिष्ट्य का अवगाहन कराने वाला होने से इसके लिये

प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट प्रतियोगि का ज्ञान कारण मानना अनिवार्य है। इसके फलस्वरूप व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्थल में प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट प्रतियोगि न होने से उक्त प्रकार की अभाव की प्रतीति को अवसर ही नहीं है।

सोन्दड उपाध्याय व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव स्वीकार करते हैं तो गंगेशोपाध्याय उसका खण्डन यह कह कर करते हैं कि प्रतियोगि में न रहने वाला धर्म (तत्त्व) प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) नहीं होता है।[६७] इसलिये घटत्वेन अर्थात् घटत्व के रूप से पट का अभाव कोई वस्तु नहीं है। घटत्व पट में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म होने से उसका (याने पट में रहने वाली प्रतियोगिता का) अवच्छेदक नहीं होता है। इस तरह आचार्य गंगेश के द्वारा उक्त प्रतियोगिता का खण्डन होने पर भी दीधिति-कार रघुनाथ शिरोमणि ने यह कह कर कि "यदि लोगों का 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह अनुभव यथार्थ अनुभव से सम्बन्धित है तो उसका खण्डन गोर्वाण-गुरू के लिये भी सम्भव नहीं है"[६८] उक्त अभावीय प्रतियोगिता के ऊपर प्रामाणिकता का ठप्पा लगा दिया है।अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या सोन्दड उपाध्याय, गंगेशोपाध्याय तथा रघुनाथ शिरोमणि में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता के बारे में कोई ऐसा मौलिक मतभेद है कि जिसका संगत रीति से विचार ही किया न जा सके ? इस प्रश्न को ले कर अभावीय प्रतियोगिता के कुछ पहलुओं की चर्चा इस लेख में प्रस्तुत की है।

यद्यपि गंगेशोपाध्याय ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव का खण्डन किया है तथापि व्यधिकरण-सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता के बारे में वे मौन हैं। प्रतियोगिता जिस प्रकार धर्म से नियमित होती है उसी प्रकार सम्बन्ध से भी नियमित होती है यह पहले ही बताया जा चुका है। सामान्य रूप से किसी का अभाव कहीं नहीं होता है। किसी न किसी सम्बन्ध से वस्तु हर जगह होती है। अतः अभाव को किसी सम्बन्ध से ही स्वीकार करना पड़ता है, और जिस सम्बन्ध से वस्तु का अभाव होता है उस सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित होती है। अतः सोन्दड मत में प्रतियोगिता जैसे प्रतियोगिता में न रहने वाले धर्म से नियमित होती है उसी प्रकार रघुनाथ शिरोमणि[६९] आदि के मत में प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से नही रहता है उस सम्बन्ध से भी प्रतियोगिता नियमित हो सकती है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार समवायित्व रूप से वाच्यत्व का अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न है उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से वाच्यत्व का अभाव व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता का अभाव है। वाच्यत्व जो कि नैयायिक मत में ईश्वरेच्छा विषयत्व रूप है समवाय सम्बन्ध से कहीं पर भी नहीं रहता है। विषयता आदि पदार्थ स्वरूप सम्बन्ध से ही आश्रित होते हैं ऐसा नैयायिकों का मत है। (स्वरूप सम्बन्ध की चर्चा आग यथास्थान की जायेगी) अतः समवाय सम्बन्ध वाच्यत्व की दृष्टि से व्यधिकरण सम्बन्ध है। जो वस्तु कभी कहीं भी जिस सम्बन्ध से नहीं रहती वह उसका व्यधिकरण सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से समवाय यह वाच्यत्व का व्यधिकरण सम्बन्ध

है। उस सम्बन्ध से वाच्यत्व रूप प्रतियोगि कहीं पर भी न रहने के कारण समवायेन वाच्यत्व का अभाव व्यधिकरण सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव है। यह अभाव भी समवायित्वेन वाच्यत्वाभाव के समान ही सर्वत्र विद्यमान होने वाला केवलान्वयी अभाव है।

गंगेश ने 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगिावच्छेदकः' कह कर व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव का खण्डन किया है, परन्तु व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव का खण्डन नहीं किया। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनके मत में व्यधिकरणाभाव नाम की कोई चीज ही शेष नहीं रह जाती।) इससे उनके टीकाकारों और उपटाकाकारों ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का समर्थन किया है ऐसा प्रतीत होता है। जगदीश[७०] के प्रथम लक्षण में "जिस सम्बन्ध से व्यापकता (बतायी गयी है) उसी सम्बन्ध से प्रति-योगिसामानाधिकरण्य न कहने पर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न को लेकर व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्न को लिये बिना ही व्याप्ति का लक्षण समन्वित हो जाने से गंगेश के 'प्रतियोग्य-वृत्तिश्च' इस ग्रन्थांश की दूषकता समाप्त हो जाती है" ऐसा कह कर व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्नाभाव का समर्थन किया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्ना-भाव मान्य होने पर भी व्याप्ति के उक्त पारिभाषिक लक्षण के सन्दर्भ में उसका ग्रहण मान्य नहीं है। समानाधिकरण सम्बन्ध के साथ प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव नहीं बनेगा। बाध-ज्ञान में जो प्रतिबन्धकता होती है वह सम्बन्ध-विशेष से नियमित होती है। अन्यथा एक सम्बन्ध से होने वाला अभाव का ज्ञान भी संयोग समवायादि सभी सम्बन्धों से प्रतियोगिज्ञान का प्रतिबध्य होने लगेगा और यह अनुभव के विरूद्ध होगा। अतः प्रतियोगिता को सम्बन्ध-विशेष से नियमित माना जाता है। तथापि प्रतियोगिता को व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित मानने में क्या युक्ति है ? कहा जाता है कि "प्रतियोग्यभावान्वयो तुल्ययोगक्षेमौ" जिसका तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से जिस स्थान पर जिस रूप में जो वस्तु निषेध वाचक शब्द के न रहने पर प्रतीत होती है उसी स्थान पर निषेध की अवस्था में उसी सम्बन्ध से नियमित तथा उसी धर्म से नियमित प्रतियोगिता वाला उस वस्तु का अभाव प्रतीत होता है।[७१] जैसे, भूतल पर सयोग सम्बन्ध से घट रहने पर भूतल पर घट की प्रतीति होती है और भूतल पर संयोग से घट के न रहने पर घटाभाव की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से घटवत्ता प्रतीत होती है उसी सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव जब प्रतीत होता है तभी उन प्रतीतियों में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव होता है। परन्तु अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या किसी को समवाय सम्बन्ध से वाच्यत्व का अस्तित्व प्रतीत होता है ? यदि नहीं तो वाच्यत्वाभाव का प्रतियोगिता को समवाय सम्बन्ध से नियमित क्यों माना जाय ? इस सम्बन्ध में नैयायिकों का कथन है कि 'घटत्वेन वाच्यत्वं नास्ति' इस प्रतीति के अनुरोध से जैसे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार किया जाता है उसी तरह 'समवायेन वाच्यत्व नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर समवायेन वाच्यत्वाभाव को स्वीकार करना

चाहिये। जिस प्रकार 'भूतलं संयोगेन घटवत्' ऐसी बुद्धि होने पर 'भूतल संयोगन घटाभाववत्' ऐसी बुद्धि नहीं होती है वैसे ही 'घटः समवायेन वाच्यत्वाभाववान्' इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती है। यह बात दूसरी है कि 'घटः समवायेन वाच्यत्ववान्' यह बुद्धि प्रमा है या अप्रमा इसका विचार यहाँ अप्रस्तुत है। बुद्धि चाहे भ्रमात्मक हो या प्रमात्मक (याने अभ्रमात्मक), प्रतिबद्धप्रतिबन्धकभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसलिये प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के अनुरोध से व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता मानना आवश्यक है। केवलान्वयी अभाव के सन्दर्भ में तद्वता-बुद्धि भ्रमात्मक लेने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती है। जैसे, 'घटत्वेन वाच्यत्वं अस्ति' इस बुद्धि के होने पर "घटत्वेन वाच्यत्वन्ना-स्ति" यह बुद्धि नहीं होती है[७२] उसी प्रकार 'समवायेन वाच्यत्वं आस्ति" यह बुद्धि होने पर 'समवायेन वाच्यत्वंनास्ति' यह बुद्धि उत्पन्न नही होता है। अतः उक्त अनुभव के आधार पर वहाँ उक्त प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव मानना आवश्यक है। यही कारण है कि जगदीश[७३] ने 'धनो द्रव्यत्वात्' इस स्थल में व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव को लेकर अतिव्याप्ति प्रदर्शित की है। व्याप्ति के स्थल में साध्याभाव को साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला कहने पर "धनी चैत्रत्वात्" में अव्याप्ति होती है क्योंकि वृत्त्यनियामक स्वामित्व सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होती है। वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है। इसलिये साध्याभाव को साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भिन्न समानाधिकरण सम्बन्ध से अनवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला कहने पर उपर्युक्त "धनी द्रव्यत्वात्" में व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव लेकर अतिव्याप्ति होती है।

सिद्धान्त-व्याप्ति के सम्बन्ध-धार्मिक उभयाभावघटित लक्षण में "यादृश प्रति-योगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगित्वम्" तथा "हेत्वधिकरणीभूत यत्किञ्चिद्रव्यक्त्य-नुयोगित्वम्" इन दोनों का जो उभयाभाव लेना है वह स्वरूप सम्बन्ध से लिया जाना चाहिये, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से उक्त प्रतियोगित्व और अनयोगित्व का अभाव सम्बन्ध मात्र में होने से सद्हेतु मात्र में अव्याप्ति होती है।[७४] तात्पर्य यह है कि समवाय सम्बन्ध से प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व का अभाव व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव होने से वह केवलान्वयो है; प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व समवाय सम्बन्ध से कहीं नहीं रहते, उनका अभाव सर्वत्र होता है।

इस प्रकार व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव का समर्थन प्रायःसभी नैयायिकों ने किया है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न के खण्डन मे जो तर्क गंगेशोपाध्याया ने प्रस्तुत किया है वह यहाँ लागू नहीं होता। अभाव के ज्ञान के लिये प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक प्रतियोगि-ज्ञान कारण होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव-ज्ञान के पूर्व उक्त प्रतियोगि का ज्ञान न होने से (घटत्वेन पटो नास्ति) घटत्व के रूप में पट नहीं है यह प्रतीति सम्भव नहीं है, परन्तु "समवायेन वाच्यत्वं नास्ति" यह प्रतीति होने में

कोई बाधा नहीं है। क्योंकि उसके पूर्व प्रतियोगितावच्छेदक वाच्यत्व-प्रकारक प्रतियोगि का ज्ञान विद्यमान है। 'समवायेन वाच्यत्व नहीं है' यहाँ भ्रम रूप से वाच्यत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है यह तद्वता ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। ऐसी परिस्थिति में व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता स्वीकार करने में भी कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः उक्त अभाव का निषेध गंगेश आदि ने किया है ऐसा मानना ठीक नहीं है। माथुरी के व्याप्तिग्रक में मथुरानाथ ने भी इसे स्वीकार किया है।

व्यधिकरणसम्बन्धरवच्छिन्नाभाव के समान ही प्रतीति के आधार पर व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव भी सिद्ध होता है।[७५] समवायितया वाच्यत्वान् का भेद पक्षधर मिश्र ने स्वीकार किया है। जैसे, धूमवान् में वहिनत्वेन घट प्रतीति होती है उसी प्रकार धूमवान् वहिनत्वेन घटवान् नहीं है यह भी प्रतीति होती है। एक प्रतीति में प्रतियोगिता व्यधिकरण धर्म से नियमित है तो दूसरी प्रतीति में प्रतियोगितावच्छेदकता (जिसका विवेचन आगे किया जायगा) व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता अतिरिक्त है; वह प्रतियोगी रूप या प्रतियोगितावच्छेदक रूप नहीं है यह बात पहले कही जा चूकी है। व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव के सम्बन्ध में विवाद है वह भी उसकी अतिरिक्त प्रतियोगिता को ले कर ही है। इसलिये कुछ लोगों ने 'अतिरिक्त प्रतियोगिताक अभावत्वम्' यह व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव का लक्षण किया है।[७६] व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता अतिरिक्त होने पर भी सभी प्रतियोगियों में वह एक नहीं है, अपितु वह स्वाश्रय-प्रतियोगियों के भेद से भिन्न-भिन्न है।[७७]

यह पहले कहा जा चुका है कि ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता व्यधिकरण या समानाधिकरण संबंध से नियमित नहीं होती है। इसलिए व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्ना-भाव हमेशा अत्यन्ताभाव ही होता है। अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता हमेशा तादात्म्य संबंध से नियन्त्रित होती है। इसलिए व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न अन्योन्याभाव भी नहीं होता है। परंतु अत्यन्ताभाव संसर्गाभाव का एक प्रकार है और संसर्गाभाव का लक्षण है 'स्वीय प्रतियोगिता के नियंत्रक संबंध से जो प्रतियोगि का आरोप होता है उस आरोप से उत्पन्न प्रतीति का विषय होने वाला अभाव।[७८] इस लक्षण में उक्त संबंध तादात्म्य से भिन्न संबंध लेना चाहिए। परंतु प्रश्न यह है कि लक्षण प्रागभाव तथा ध्वंस में कैसे घटित होगा ? क्यों कि ध्वंस की या प्रागभाव की प्रतियोगिता का कोई नियामक संबंध होता ही नहीं है। इस विषय में प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि ध्वंस और प्रागभाव के संदर्भ में उत्तर-काल और पूर्व-काल ही क्रमशः प्रतियोगिता के नियामक संबंध है, और उन्हीं संबंधों से प्रतियोगियों का आरोप प्रागभाव और ध्वंस के प्रत्यक्ष का कारण होने से संसर्गाभाव के उक्त लक्षण की उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।[७९] 'यह इस समय यदि स्वाश्रयोत्तर कालिक संबंध से घटवान् होता तो घटवान् के रूप में उपलब्ध होता' इस

प्रकार का प्रतियोगि का आरोप ध्वंस के प्रत्यक्ष में कारण होता है, और उसी प्रकार 'यह इस समय स्वाश्रयपूर्वकालिक संबंध से घटवान् होता तो घटवान् के रूप में उपलब्ध होता' इस प्रकार का प्रतियोगि का आरोप प्रागभाव के प्रत्यक्ष में कारण होता है। इस प्रकार उत्तरकाल और पूर्वकाल उक्त संबंधों के घटक होने से क्रमशः ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक संबंध होते है। अतः ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता संबंधावच्छिन्न होती है। उक्त संबंधों से उक्त प्रतियोगिताएँ अवच्छिन्न होने पर भी वे व्यधिकरणसंबंधावछिन्न नहीं होती हैं यह सत्य है। दूसरी बात यह है कि उक्त प्रकार का संसर्गाभाव का लक्षण सभी नैयायिकों को मान्य नहीं है। वे अभावबुद्धि में प्रतियोगी के आरोप को कारण नहीं मानते। इसलिए संसर्गाभाव का उक्त लक्षण उन्हें मान्य नहीं है। वे भेदभिन्नाभाव यही संसर्गाभाव का लक्षण करते है और उसमें जो नित्याभाव है वह अत्यन्ताभाव है। भेद तादात्म्य संबंधावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव या अनुयोगिता-विशेष है।[८०] अनुयोगिता-विशेष को अन्योन्याभाव मानने का कारण स्पष्ट किया जा चुका है। अतः ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता किसी भी संबंध से अवच्छिन्न नहीं होती है यही मानना उचित है।

प्रतियोगिता के संबंध में इस प्रकार के विवेचन के पश्चात् एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो जाता है क्या प्रतियोगिता यह धर्म है, या संबंध है, या दोनों हैं ? इसका तात्पर्य यह है कि प्रतियोगिता का संसर्गतया भान होता है या प्रकारतया ? नैयायिक प्रतियोगिता आदि को संबंध के रूप में भी स्वीकार करते हैं। जब हम कहते हैं कि "भूतल पर घट का अभाव है" तो घट और अभाव के बीच में 'का' इस शब्द का प्रयोग करते हैं जो कि 'षष्ठी' विभक्तिका का प्रत्यय है तथा वह संबंध का वाचक होता है। अतः 'घट का अभाव' से घट और अभाव इनके बीच में होने वाले संबंध का बोध होता है। लेकिन वह संबंध कौनसा है ? प्रसिद्ध संयोग आदि में से कोई संबंध वहाँ नहीं है। अतः वहाँ एक अतिरिक्त सम्बन्ध माना जाना चाहिए। चूँकि घट अभाव का प्रतियोगी है अतः घट के साथ अभाव का सम्बन्ध प्रतियोगिता सम्बन्ध है तथा अभाव के साथ घट का सम्बन्ध अनुयोगिता संबंध है। यदि प्रतियोगिता आदि को सम्बन्ध न स्वीकार करें तो "घटो नास्ति" इस वाक्य से शाब्दबोध ही नहीं होगा।

शब्द-बोध दो प्रकार का होता है : अभेद सम्बन्ध विषयक तथा भेद संबंध विषयक। भेद संबंधों में आधार-आधेयभाव, प्रतियोगी-अनुयोगिभाव और विषय विषयिभाव इत्यादि होते हैं।[८१] आधाराधेय भाव से आधारता तथा आधेयता, प्रतियोगी-अनुयोगिभाव से प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता आदि प्रत्येक का संबंध के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस "विशिष्टबुद्धिनियामकत्व" यह जो सम्बन्ध का लक्षण है वहाँ घटित होने से प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि को सम्बन्ध माना जाता है।

परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि प्रतियोगिता में द्विनिष्ठत्व उपपन्न नहीं होता है जो कि हरेक सम्बन्ध की प्राथमिक शर्त है। घटाभाव की प्रतियोगिता केवल घट

में रहती है, अभाव में नहीं रहती। अतः दो में न रहने से उसे सम्बन्ध कैसे कहा जाय ? इस विषय में नैयायिकों के नवीन मत में अनुयोगीनिष्ठ-धर्म ही संसर्ग है, उसे द्विष्ठ होने की आवश्यकता नहीं है।[८२] परन्तु नैयायिकों के प्राचीन मत में आधारता निरूपित आधेयता, अनुयोगिता निरूपित प्रतियोगिता आदि सम्बन्ध होते हैं। अतः उनके द्विष्ठ होने में कोई आपत्ति नहीं है।[८३]

'भूतले न घटः', 'घटो न पटः' यहाँ नञर्थ अभाव के साथ घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से ही अन्वय होता है। भूतल पर प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटयुक्त अभाव है इस प्रकार का शाब्दबोध उक्त प्रथम वाक्य से होता है, तथा 'घटो न पटः' इस वाक्य से घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद में तथा भेद का स्वरूप सम्बन्ध से घट में अन्वय होता है। इसके फलस्वरूप 'प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटविशिष्ट भेदवान् पट है' इस प्रकार का शाब्दबोध उक्त वाक्य से उत्पन्न होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऐसा एक नियम है जिसके अनुसार 'नञ्' (निषेध) के न रहने पर जिस स्थान में जिस सम्बन्ध से जिस वस्तु की आश्रयता प्रतीत होती है उसी स्थान में 'नञ्' (निषेध) के रहने पर उसी सम्बन्ध से उस वस्तु का अभाव प्रतीत होता है।[८४] "भतले घटः" कहने पर यदि "भूतलवृत्तितावान् घटः" यह बोध होता है तो "भूतले न घटः" कहने पर प्रतियोगिता सम्बन्ध से "भूतलवृत्तिताविशिष्टाभाववान् घट है" यह बोध होगा।

सादृश्य के साथ भी प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है। 'मुखंचन्द्रः' यहाँ चन्द्र सदृश्य मुख यह बोध होने से चन्द्र का प्रतियोगिता सम्बन्ध से सादृश्य के साथ अन्वय हो कर प्रतियोगिता संबंध से चन्द्रविशिष्ट सादृश्य-युक्त मुख का बोध होता है।[८५] सादृश्य का प्रतियोगी चंद्र होने से उसके साथ चंद्र का प्रतियोगिता संबंध है तथा सादृश्य का अनुयोगी मुख होने से उसके साथ चंद्र का अनुयोगिता संबंध है।

प्राचीन नैयायिक प्रकारता आदि को सम्बन्ध नहीं मानते। उनके मत में प्रतियोगिता आदि जितने पदार्थ है वे संबंध नहीं हैं क्योंकि विशिष्ट बुद्धि का नियामक ही संबंध कहलाता है। उनका कथन है कि जो संबंध होगा उससे विशिष्ट बुद्धि अवश्य उत्पन्न होगी। विशिष्ट बुद्धि मतत्वर्थक प्रयोग से जानी जाती है, जैसे, 'पर्वतः वन्हिमान्' या 'रूपवान् घटः' इत्यादि। कोई भी 'वहिनमत् ज्ञान' या 'वन्हिमान् अभाव' इत्यादि प्रकार का प्रामाणिक प्रयोग नहीं करता। इसलिए विषयता और प्रतियोगिता आदि संबंध नहीं है। हमें जो 'वहिन् जानामि' अर्थात् 'मैं वन्हि को जानता हूँ', या "पर्वते बन्हिर्नास्ति" याने 'पर्वत पर अग्नि नहीं है' इस प्रकार का अनुभव होता है उन प्रतीतियों के आधार पर प्रतियोगिता और विषयता आदि के संबंध होने का प्रमाण नहीं मिलता है। द्वितीया (जैसे वह्निं जानामि) या प्रथमा (जैसे, अग्निर्नास्ति) विभाक्तियाँ संबंध की बोधक नहीं होती हैं। ज्ञान और अभाव का जो प्रत्यक्ष होता है वहाँ विषयता और प्रतियोगिता प्रकार के रूप में ही भासित होती है, संसर्ग के रूप में नहीं।[८६]

परन्तु प्राचीन नैयायिकों का यह मत आधुनिक नव्य-नैयायिकों को मान्य नहीं है। उनका कथन है कि प्रतियोगिता विषयता आदि को प्रकारता के रूप में मानें तो जहाँ उनकी उपस्थिती नहीं है वहाँ विषय (घट) विशिष्ट ज्ञान प्रतियोगिविशिष्ट अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए।[८७] तात्पर्य यह है कि विषयता और प्रतियोगिता को प्रकार (विशेषण) के रूप में स्वीकार करने पर जो विशिष्ट बुद्धि होगी उसके पूर्व उनकी उपस्थिति आवश्यक है, क्योंकि विशिष्टबुद्धि में विशेषण का ज्ञान कारण है। जब तक घट का ज्ञान नहीं होगा तबतक घटविशिष्ट भूतल यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। ऐसी स्थिति में विषयता और प्रतियोगिता को विशेषण के रूप में स्वीकार करने पर जहाँ उनकी पूर्वोपस्थिति नहीं है वहाँ घटविशिष्ट ज्ञान और घटविशिष्ट अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा। प्रतियोगिता और विषयता आदि को संबंध के रूप में स्वीकार करना ही उचीत प्रतीत होता है। जैसा कि स्पष्ट रूप में गदाधर ने कहा है ''एक पदार्थ का अपर पदार्थ के साथ संबंध संसर्ग-मर्यादा के द्वारा स्पष्ट होता है। वह कहीं अभेद है तो कही उससे भिन्न ही होता है-आधाराधेय, प्रतियोगि-अनुयोगि, विषय-विषयिभाव के रूप में।''

यदि प्रतियोगिता पदार्थ को न स्वीकार करें तो अभावत्व का निर्वचन करना संभव नहीं होगा।[८८] अभावत्व का अर्थ भावभिन्नत्व करने से उसका परिष्कृत रूप होता है 'भावत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला भेद'। प्रतियोगिता पदार्थ को स्वीकार किए बिना उक्त परिष्कार संभव नही है। परंतु उक्त परिष्कृत भावभिन्नत्व अभाव का लक्षण करने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है कि अभाव के लक्षण में अन्योन्याभाव प्रविष्ट है, क्योंकि तादात्म्य संबंधावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। इस अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करने के लिए अभावत्व को अखण्डोपाधि या स्वरूप संबंध-विशेष मानने पर उक्त परिष्कार ही आवश्यकता न होने से प्रतियोगिता पदार्थ की स्वीकृति अनावश्यक हो जाती है। तथापि प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव के संदर्भ में प्रतिबंधकता का निर्वचन प्रतियोगिता के उपयोग के बिना संभव नहीं है। एकदा एकत्र वर्तमानत्व से नियमित प्रतियोगिता का अभाव ही प्रतिबंधकता है। उदाहरण के लिए, 'घटवत् भूतलम्' इस बुद्धि के लिए 'घटाभाववत् भूतलम्' यह ज्ञान प्रतिबंधक होता है। जब घटवता-ज्ञान रहता है उस समय वहीं पर घटाभाववत्ताज्ञान नहीं होता है। अर्थात्, घटाभाववत्ताज्ञान उसी समय वहीं पर वर्तमान न होने से उक्त वर्तमानत्व से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव वहाँ है। अतः उक्त ज्ञान पूर्व ज्ञान का प्रतिबंधक है। उसी प्रकार कारणीभूत अभाव के प्रतियोगी को प्रतिबंधक कहा जाता है। सामान्य नियम यह है कि सामग्री के रहने पर भी प्रतिबन्धक की उपस्थिति में कार्य नहीं होता है। अतः नैयायिक प्रतिबंधक के अभाव को कार्यमात्र के लिए कारण मानते हैं। इस तरह कार्यमात्र में कारणीभूत अभाव प्रतिबंधक का अभाव होता है। उसका प्रतियोगिता प्रतिबंधक में आने से वही प्रतिबंधक स्वरूप है।[८९] उसी प्रकार अभावीय प्रतियोगिता को स्वीकार किए बिना व्याप्ति का सार्वभौमिक स्वरूप सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। सार्वभौमिकता

को व्यतिरेक के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है। अन्वय के माध्यम से व्याख्यात व्याप्ति सार्वभौम स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकती। इसकी सम्बन्ध में विशेष विवेचन हमने हमारी पुस्तक अनुमान प्रमाण [१०] में किया हुआ होने से उसे दुहराना नहीं चाहते। व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति का विवेचन प्रतियोगिता के समावेश के बिना संभव नहीं है। इस प्रकार कारणत्व, नित्यत्व, प्रकारत्व आदि अनेक पारिभाषिक पदार्थ हैं जो शास्त्रों के व्यवहार में अनेक बार प्रयुक्त होते हैं और उनके निर्वचन के लिए अभाव पदार्थ का सहारा लेना पड़ता है। उसके बिना उनका सर्वशुद्ध विवेचन संभव ही नहीं है और अभाव का सहारा लेने पर प्रतियोगिता का उपयोग आवश्यक हो जाता है। और जैसा कि कहा गया है अभाव का ज्ञान प्रतियोगिता से विशिष्ट प्रतियोगी के ज्ञान के बिना संभव नहीं है क्योंकि अभाव-बुद्धि विशिष्ट के वैशिष्ट्य की मर्यादा को छोड़ नहीं सकती है। अतः प्रतियोगिता को एक पदार्थ मानना आवश्यक है। वह पदार्थ अतिरिक्त है, या प्रतियोगी-रूप है, या अवच्छेदक है या कहीं स्वतंत्र है, तो कहीं प्रतियोगी-रूप तो कहीं प्रतियोगितावच्छेदक-रूप है इसके सम्बन्ध में विवेचन पिछले लेखों में किया जा चुका है। इसके कुछ अन्य भी पहलू हो सकते हैं। जैसे, प्राचीन नव्यनैयायिक अत्यन्ताभाव के तीन प्रतियोगी मानते है : ध्वंस, प्रागभाव और वस्तु। उदाहरणार्थ, उनके मत में घट का अत्यन्ताभाव जहाँ रहता है वहाँ उसका ध्वंस, प्रागभाव और घट ये तीनों नहीं रहते। इसलिए ये तीनों भी घटाभाव के प्रतियोगी है, और इसलिए इन तीनों में प्रतियोगिता है।[११] उसके संबंध में भी कई प्रश्न विवेचनीय हो सकते हैं। एक प्रश्न यह है कि ये प्रतियोगिताएँ भिन्न-भिन्न है या एक ही हैं ? अगर अभिन्न हैं तो क्या आपत्ति है, तथा भिन्न-भिन्न होने पर क्या दोष है ? या तीनों में प्रतियोगिता मानने में क्या गौरव है या लाघव है ? आदि कई विचारणीय प्रश्न हो सकते हैं। उसी प्रकार अभावाधिकरणक और अभाव-प्रतियोगिक अभावो की प्रतियोगिता के संबंध में विचारणीय कुछ पहलू हैं। लेकिन विस्तार-भय के कारण इस दिशा में अत्यधिक अनुसंधान के लिए उनका उल्लेख मात्र कर प्रतियोगिता के संबंध में किए जा रहे विवेचन को यहाँ विराम देते हैं।

अगले अध्याय से अनुयोगिता की चर्चा का आरंभ करेंगे।

टिप्पणियाँ

१. प्रतियोगितात्वं न विरोधित्वं सहानवस्थानलक्षणं गोत्वाश्वत्वयोरतथात्वात्, अन्योन्याभावप्रतियोगितान्यसत्वाच्च। किन्तु यथाऽधिकरणाभावयोः स्वरूपविशेषः सम्बधस्तथा प्रतियोगित्वमनुयोगित्वमपि। तत्त्वचिन्तामणि, व्याप्तिपरिच्छेदे पूर्वपक्षः

२. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि, अनुमानखण्डे.

३. झळकीकर, भीमाचार्य; न्यायकोश, पृ. ५३५

४. गदाधर; प्रतियोगिविशेषिताभावज्ञानं च विशिष्ट वैशिष्ट्यबोधमर्यादान्नातिशेते। व्युत्पत्तिवाद
५. वहीं; विशेषणमितिरीत्या न कश्चिदभ्युपैति।
६. जगदीश तर्कालंकार; प्रतियोगित्वं हि स्वरूपसम्बन्धविशेषः। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे
७. वहीं; अत्र वदन्ति-प्रतियोगिस्वरूप तदवच्छेदकस्वरूप यत्प्रतियोगित्वं तदपि कस्यचिदभावस्य केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेनवावच्छिन्नं, व्यवहारबलात्। सिद्धान्तलक्षणप्रकरणे
८. वहीं; तत्प्रतियोगिमात्र स्वरूपत्वे सामान्यभावविशेषाभावयो रविशेषापत्तेः। अवच्छेदकत्व निरुक्ति प्रकरणे
९. वहीं; स्वरूपसम्बन्धात्मिकायाः इति प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वे हेतुः तत्तदभावप्रतियोग्युभय स्वरूपायाः इति तदर्थ :। अवच्छेदकत्वनिरूक्ति प्रकरणे
१०. वहीं; समनियताभावैक्यमते.....। व्यधिकरणप्रकरणे
११. उदयनाचार्य; अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता। न्यायकुसुमाञ्जलिः तृतीयस्तबके
१२. जगदीश तर्कालंकार; विरोधित्वम्-एकदा एकदेशावृत्तित्वम्। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे
१३. वहीं; नव्यमते गगनस्य स्वाभावविरहत्वे मानाभावाच्च। तत्रैव
१४. (अ) गदाधर; यादृश समभिव्याहारस्थले येन सम्बन्धेन यद्धर्मिणि येन स्वरूपेण यद्वत्वं प्रतीयते तादृशस्थले नञा तद्धर्मिणि तादृशसम्बन्धावच्छिन्न तदभावः प्रत्येतव्यः। व्युत्पत्तिवादे

(ब) जगदीश तर्कालकार; यत्पतियोगित्वं तदपि..... केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वाऽवच्छिन्नम्। जगदीशी सिद्धान्तलक्षणे
१५. (अ) अभाववैलण्यं प्रतियोगितावैलक्षण्याधीनम्। व्याप्तिपंचक माथुरी गंगानिर्झरिणी व्याख्यायाम्

(आ) रामरुद्र; संयोगेन घटाभावात्समवायेन घटाभावस्य भेदः प्रतियोगिताभेदादेव समर्थनीयः, प्रतियोगिप्रतियोगितावच्छेदकयोः ऐक्यात्। **रामरुद्री** ईश्वरानुमानप्रकरणे
१६. (अ) वहीं; समवायेन घटधिकरणे संयोगेन घटो नास्ति संयोगेन घटाधिकरणे समवायेन घटो नास्ति इति प्रतीत्या संयोग-समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटाभावोपत्तये ह्यत्यन्ताभावप्रतियोगितायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वमङ्गीक्रियते। ध्वंसे तादृशयुक्त्यसम्भवेन संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिकत्वमप्रमाकिणमेवेतिभावः। **रामरुद्री**, मङ्गलवादे

(आ) वहीं; एवमपि ध्वंसप्रागभावयोः प्रतियोगित्वस्य सम्बन्धावच्छिन्नत्वमते तयोरसंग्रहापातादिति। तत्रैव, अभावनिरूपणे

१७. अभाववैलक्षण्यं प्रतियोगितावैलक्षण्याधीनम्- व्याप्तिपञ्चक माधुरी, गंगानिर्झरिणी व्याख्यायाम्।
१८. ध्वंसादि प्रतियोगितायां गोत्वादिधर्मावच्छिन्नत्वे मानाभावः। जागदीशी सिद्धान्तलक्षणे
१९. बाधनिश्चयादि प्रतिबन्धकत्वाद्यनुरोधेनैव भेदात्यन्ताभावयोर्गोत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वोमगमात् - वहीं।
२०. ध्वंसीयप्रतियोगितायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वेऽविवादादिति। जागदीशी सिद्धान्तलक्षणे, गंगा व्याख्यायाम्।
२१. केचितु प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावानुरोधाभावेऽपि बाधनिश्चयाभावस्य कारणत्वा-नुरोधेनापि तत्स्वीकार आवश्यकः, तत्र हि तादृश निश्चयत्वावच्छिन्नाभावत्वे नैव कारणत्वम्, अन्यथा यत्किञ्चित् बाधनिश्चयाभावसत्वेऽपि तद्धत्तावुद्धि उत्पादापत्तेरिति आहुः जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे, गंगाव्याख्या टिप्पण्याँ
२२. ननु अभावीय प्रतियोगितायामेवधर्माविच्छिन्नत्वे मानाभावः तथा च सर्वा एव निरवच्छिन्नाः प्रतियोगितायामेवधर्माविच्छिन्न गोत्वपर्याप्तावच्छेदकताक-प्रकारतानिरूपिताऽभावत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्न स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना-भावत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित भूतलत्वावच्छिन्न विशेष्यताशालि-निश्चयत्वेनैव प्रतिबन्धकत्व सम्भवादिति चेन्न। भावांशेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगित्वमेवान्वयिनः संसर्ग इति नियमात्। जागदीशी, सिद्धान्त लक्षणे, गंगाव्याख्या टिप्पण्यां।
२३. एक जातीयेषु चरमव्यक्तिध्वंससमये तज्जातीयसामान्यध्वंस प्रतीतेरानुभविकत्वे सामान्यधर्मावच्छिन्प्रतियोगिताकत्वं ध्वंसे स्वीकार्यम्। वहीं।
२४. प्रतियोगिव्यक्तिनां भेदेऽपि एकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताया लाघवेनैक्य स्वीकारादिति जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे
२५. सामान्याभावीयान्यप्रतियोगित्वं च प्रत्याश्रयविभिन्नम्। वहीं
२६. स्वरूपसम्बन्धात्मिकायाः प्रतियोगितायाः सामान्याभावस्थले प्रतियोगिभेदेनैव भिन्नत्वादिति साम्प्रदायिकाः। जागदीशी, व्यधिकरण परिच्छेदे।
२७. वृत्यनियामकसम्बन्धेनाधिकरणत्वस्य प्रतियोगित्वस्य चाप्रसिद्धया ... वहीं।
२८. (क) यस्मिश्च सम्बन्धें सति एकस्मिन् अपरस्य वृत्तिता, आधाराधेयभावः आश्रयाश्रयिभावो वा प्रतीयते स सम्बन्धः वृत्तिनियामकः।
(ख) यस्मिस्तु सम्बन्धे पूर्वोक्तरूपा वृत्तिता आधाराधेयभावश्च न प्रतीयते, केवलं सम्बन्धिभावः स वृत्यनियामकः सम्बन्धः।
Mahesh Chandra Nyayaratna; Brief Notes on the Modern Nyaya System of Philosophy and its Technical Terms.
२९. अत्र वदन्ति प्रतियोगिस्वरूपं तदवच्छेदकस्वरूपं वा यत् प्रतियोगित्वं तदपि कस्याचिदभावस्य केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वाऽवच्छिन्नं व्यवहारबलात्, नतु सर्वेण

सम्बन्धेन धर्मेण वा, समवायावच्छिन्नवन्ह्यभावप्रतियागित्वं न संयोगवच्छिन्न-मित्यादिव्यवहारात्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

३०. अत्र च वृत्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वमते एवंमुक्तम् जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

३१. अत्यन्ताभावप्रतियोगितायां सम्बन्धावछिन्नत्वसाधकस्य प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भावाद्यनुपपत्त्यादेर्भेदस्थलेऽवतारासम्भवात्। जागदीशी, सिद्धान्त लक्षणस्य गंगाव्याख्यायाम्।

३२. अन्योन्याभावत्वमखण्डोपाधिरेव, तथा ध्वंसत्वादिकम्। वहीं

३३. तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽन्योन्याभाव इति प्रतीतिबलादेव तत्सम्बन्धावच्छिन्त्वं प्रतियोगितायां स्वीकार्यम्, तदतिरिक्त वृत्यनियामकसम्बन्धा-वच्छिन्नत्वं तु न। वहीं

३४. प्रतियोगित्वं हि स्वरूपसम्बन्धविशेषः सं च सामान्याभावस्थले प्रतियोगिता-वच्छेदक स्वरूप एव नतु प्रतियोगिस्वरूपोऽननुगमादाधाराधेयभावानुपपत्तेश्च। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेः

३५. तत्र प्रतियोगिमात्रस्वरूपत्वे सामान्याभाव विशेषाभावयीरविशेषापत्तेरिती। जागदीशी, अवच्छेदकत्वनिरूक्ति प्रकरणे

३६. प्राचीनमते विशेषाभावीय प्रतियोगिता च केवला प्रतियोगिस्वरूपा। व्याप्तिपञ्चक माथुरी, गंगाव्याख्यायाम्

३७. अत एव द्रव्यत्वेन वन्हिर्नास्ति इत्यादि प्रतीत्या सामान्याधर्मेणापि विशेषाभावोऽभ्युपेयते। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे।

३८. प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मविशिष्ट प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नेनैव सार्ध्दमनायत्याऽभावस्य विरोधित्वं वाच्यम् वहीं

३९. सामान्यरूपेण विशेषाभावस्थले प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतो विशेषधर्म एव तथा न तु सामान्यधर्मः अतिप्रसक्तत्वात्। जागदीशी, व्यधिकरण, परिच्छेदे।

४०. "सामान्यरूपेण विशेषाभावानभ्युपगमात्"। तदभ्युपगमे तु.... जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे।

४१. सामान्य रूपेण विशेषस्य विशेषरूपेण सामान्यभावश्च संगृहीतः। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

४२. तुल्ययुक्त्या तदवृत्तिधर्मेण तस्येव विशेषरूपेण सामान्यस्य सामान्यरूपेण च विशेषस्याभावें बाधकाभावादिति ध्येयम्। तत्रैव

४३. स्वरूपसम्बन्धात्मिकायाः प्रतियोगितायाः सामान्याभावस्थले प्रतियोगिभेदेनैव भिन्नत्वादिति साम्प्रदायिकाः। तत्रैव

४४. तथा च विशेषधर्मेण सामान्याभावोऽप्यासिद्ध एवेति तद्व्यक्तित्वेन घटो नास्तीति प्रतीतर्घटे तद्व्यक्तित्वभावामात्रावगाहित्वादेव न व्यभि.चारोऽ न्यथा सामान्यरूपेण विशेषाभावस्यापि स्वीकारापत्तेः वाच्यत्वेन घटो नास्ति इत्यपि प्रत्ययप्रसङ्गादिति

भावः । तत्रैव

४५. यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवाही घटत्वेन पटो नास्तीत्यादि अनुभवः...। दीधिति, व्यधिकरणपरिच्छेदे

४६. यत्तु द्रव्यत्वेन घटोनास्तीति प्रतीतेर्घटत्वावच्छिन्नाभावे नैवोपपत्तौ सामान्यरूपेण च विशेषाभावादौ मानाभाव इति तत् प्रागेव दूषितम् । जागदीशी, व्यधिकरणे

४७. उभयाभाव प्रतियोगिताव्यासज्यवृत्तित्वाद्वेत्यापि द्रष्टव्यम् । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, सिद्धान्तलक्षणे

४८. प्रतियोगिभेदेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकाभेदेन प्रतियोगिताया एकत्वे वह्निनत्वेन घटाभावीया प्रतियोगिता ह्येव वह्निघटोभयाभावस्यादिति । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणपरिच्छेदे

४९. तयोभयाभावप्रतियोगित्वं प्रतियोगिभेदेन भिन्नमितिमते...। तत्रैव

५० (क) एक विशिष्टापरत्वानतिरिक्तस्य उभयत्वस्य सार्वभौममते पर्याप्तिभिन्नसम्बन्धेनेव साध्यतावच्छेदकत्वात् । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे
(ख) अन्यथा सार्वभौमसते उभयत्वस्यैकविशिष्टापरत्वरूपत्वे...। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

५१. विशिष्टाभावप्रतियोगित्वं विशेषणे, एवमुभयाभावप्रतियोगित्वं यदभावप्रयुक्तो-भयाभाव तत्र स्वीक्रियते । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरण परिच्छेदे
उपाध्यायतु यदभावप्रयुक्तः उभायाभावस्तत्रैव प्रतियोगिता स्वीकुर्वन्ति । तत्रैव

५२. एकविशिष्टापरत्वानतिरिक्ततस्य उभयत्वस्य सार्वभौममते पर्याप्तिभिन्न सम्बन्धेनैव साध्यतावच्छेदकत्वात् । जागदीशी, व्यधिकरणरिच्छेदे

५३. नचोभयत्वमेकमविशिष्टापरत्वं विशिष्टं च केवलादन्यदिति । तत्रैव, गंगाव्याख्यायाम्

५४. सोन्दडमते प्रतियोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नवत्तामात्रस्याभावाविरोधित्वात्, अन्यथा घटवति घटत्वेन पटाभावस्यापलापापत्तेः, किन्तु प्रतीतिबलाद्व्यधिकरण-धर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकसिद्धौ सत्यां प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मविशिष्ट-प्रतियोगितावच्छेदकावचिछन्नेनैव सार्द्धमनायत्याऽभावस्य विरोधित्यम् । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

५५. अथ व्यधिकरणधर्मत्वं स्वाधिकरणवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्वाधिकरण-वृत्तित्वोभयामावद्धर्म एव व्यधिकरणधर्मः तदवच्छिन्नाभावो व्यधिकरणधर्माव-च्छिन्नाभाव । तत्रैव

५६. प्रतियोग्यवृतिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः । तत्त्वचिन्तमणि अनुमानप्रकरणे

५७. समनियताभावानामैक्येन निखिल व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्येवगगनाभावतया गगनाभावस्वीकर्तृणां चिन्तामणिकाराणां तदनङ्गीकारानुपपत्तेः । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

५८. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्थलेच प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपं न प्रतियोगित्वं किन्तु अतिरिक्तम् । अन्यथा प्रतियेगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिनैव

सार्द्धमभावस्याविरोधित्वात्तदवच्छिन्नवतितादृशा भावस्यासत्व प्रसङ्गात्। तत्रैव

५९. स्वरूपसम्बन्धेन घटत्वादिना वाच्यत्वं नास्तीत्यादि प्रतीत्यनुरोधेन तादृशाभावस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धस्वीकारात्। तत्रैव

६०. ननु अनुभवबलान्न समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धादरः किन्तु बाधबुद्धि प्रतिबन्धकताया सम्बन्धविशेषनियन्त्रितत्वानुरोधेनैवा अन्यथा एकैकविधाभावज्ञानस्य संयोगसमवायादि निखिल संसर्गावगाहि ज्ञानप्रतिबध्यत्वप्रसङ्गादित्याशङ्कते तर्हि तुल्यं प्रकृतेऽपि...। जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणपरिच्छेदे

६१. तद्विशिष्टिज्ञानस्याभावधीहेतुत्वात्, अन्यथा निर्विकल्पादपिघटो नास्तीति प्रतीत्यापत्तेः। तत्त्वचिन्तामणि अनुमानखण्डे

६२. तत्रैव

६३. विशेषणतावच्छेदक विशिष्टज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यम् प्रत्ययहेतुत्वात्। अभाव प्रत्ययो हि घटत्वादि विशिष्टस्य घटादेः प्रतियोगित्वमवगाहमानो विशेषणस्यापि घटत्वादेस्तदवच्छेदकत्वमवगाहते, न स्वातत्र्येण घटो नास्तीत्येव प्रतीतेः। तदिहाभावप्रत्ययो यदि व्यधिकरणेन धर्मेण विशिष्टप्रतियोगित्वं नावगाह्यते, नावगाह्यत एव तदा तस्याऽपि प्रतियोगितावच्छेदकत्वम्; अथावगाहते तर्हि ततोऽर्थसिद्धिरिति भावः। दीधिति, व्यधिकरणप्रकरणे

६४. यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवाहि घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिरनु भवः तदा तादृशाऽभावनिवारणं गीर्वाणगुरूणामप्यशक्यमिति मन्तव्यम्। तत्रैव ६५. विशेष्ये विशेषणमिति न्यायेन च नाभावः प्रत्यक्षः अननुभवात्। जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणप्रकरणे

६६. प्रतियोगिज्ञानाभावदशायां तत्सत्वेऽभावत्वावच्छेदेन घटीयत्वादि बाधकाले वा इन्द्रियसम्बन्ध विशेषणतारूप सामग्रीबलात् नेत्याकारक प्रतियोग्यमिश्रिताभाव प्रत्यक्ष वारणाय इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणताया एव घटत्वादि विशिष्ट वैशिष्टयावगाह्यभाव लौकिकप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम्। एवं विशेष्ये विशेषणमिति न्यायेन नाभावधीः सामग्रयभावात्। जागदीशी गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणप्रकरणे

६७. प्रतियोग्यवृतिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः। तत्त्वचिन्तामणि, व्यधिकरणप्रकरणे

६८. यदि पुनरनुभवविलोकानां स्वरसवाही घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिरनुभव, तदा तादृशाभावनिवारणं गीर्वाणगुरूणामप्यशक्यमिति मन्तव्यत्। व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभवास्य दीधितौ

६९. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नश्चेदभावः प्रामाणिकः तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिता सर्वैरेव व्यधिकरणधर्मे सर्वेश्च समानासमानाधिकरणैश्च संबंधैरवच्छिद्यताम्। दीधिती, सामान्याभावप्रकरणे

७०. किंच व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्याऽसत्वेऽपि व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्ना-भावमादायैव केवलान्वयिस्थले लक्षणसमन्वयात् प्रतियोग्यवृत्तिश्चेति मूलस्य दूषकत्वानुपपत्तिः। जागदीशी प्रकरणे

७१. एवं सति नञपदं विना यादृशसमभिव्याहारस्थले यत्र धर्मिणि येन सम्बन्धेन यस्य विशेषणतया भानं तत्र नञ्समभिव्याहारे तत्र धर्मिणि तत्ससम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक तदभावः प्रतीयते। गदाधरव्युत्पत्तिवादे

७२. अन्यथा भूतलं संयोगेनपटत्वावच्छिन्नं घटवदित्येवं निर्णयसत्वेऽपि भूतले संयोगेन पटत्वेन घटो नास्तीति प्रत्यायापत्तेः। जागदीशी व्यधिकरणप्रकरणे

७३. धनी द्रव्यत्वादित्यादो व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न साध्याभावस्यैव तादृशत्वे नातिव्याप्तिप्रसङ्गात्। वहीं

७४. (क) तादृशोभयाभावश्च स्वरूपसम्बन्धेन बोध्यः, तेन समवायादिना तदुभयाभावस्य सम्बन्धमात्रे सत्वेऽपि सद्हेती नाव्याप्तिः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

(ख) स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताको बोध्यरित्यर्थः। तदुभयाभावस्य हि व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न प्रतियोगिताकतयेतिशेषः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणस्य गंगाव्याख्यायाम्

७५. वस्तुतो धूमवति वह्नित्वेन घटो नास्तीतिवद् धूमवान् न वह्नित्वेन घटवान् किन्तु घटत्वेनेति प्रतीतिबलाद् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रतियोगिका-न्योन्याभावोऽप्यस्ति अत एव समवायितया वाच्यवद् भेदो घटादौ पक्षधरमिश्रैः स्वीकृतः। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे

७६. यत्तु अतिरिक्त प्रतियोगिताकाभावत्वं तत् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावत्वमिति-जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणस्य गंगाव्याख्यायाम्

७७. अतिरिक्तापि प्रतियोगिता स्वाश्रयभेदान्नानैवेति ध्येयम्। जागदीशी, सामान्याभावप्रकरणे

७८. न च संसर्गाभावविशेषोऽत्यन्ताभावः, संसर्गाभावस्य संसर्गारोपजन्यप्रतीति-विषयभावत्वरूपं जन्यताघटकनियमघटितमिति वाच्यम्। दीधिति, सिद्धान्तलक्षणे

७९. ध्वंसप्रागभावयोरपि उत्तरकालपूर्वकालावेव प्रतियोगितावच्छेदककसंबंधाविति ताभ्यामेव सम्बन्धाभ्याम् प्रतियोग्यारोपः प्रागभावध्वंसयो प्रत्यक्षहेतुरतस्तयो-र्नाव्यािप्तिरिति प्राचामाशयः। जागदीशी, सिद्धांतलक्षणे

८०. भेदभिन्नाभावत्वं संसर्गाभाववत्वं सदानत्वविशिष्टं च तदेवात्यन्ताभावत्वम्, भेदत्वं तु संसर्गाविधया तादात्म्यावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्वमनुयोगिताविशेषो वेत्याशयः। वहीं

८१. स च क्वचिदभेदः क्वचिच्च तदतिरिक्त एवाधाराधेय प्रतियोग्यनुयो-गिविषयियिभावादिः। गदाधर-व्युत्पत्तिवादे

८२. नवीनमतेऽनुयोगिनिष्ठधर्मस्यैच सम्बन्धत्वात् । शिवदत्त भिश्र व्युत्पत्तिवाददीपिकायाम्
८३. प्राचीनमते आधारतानिरूपिताधेयत्वादि संसर्गः । तत्रैव
८४. यादृश समभिव्याहारस्थले येन सम्बन्धेन यत्र धार्मिणि येन रूपेण यद्वत्वं नञसत्वे प्रतीयते तादृशस्थले नञा तद्धर्मिणि तादृश सम्बन्धावच्छिन्न तादृशधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभावस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । गदाधर, व्युत्पत्तिवादे
८५. मुखं चन्द्रमित्यादौ मुखचन्द्रादीनामिवार्थसादृश्यादिना... । वहीं
८६. प्रकारित्वादी संबंधत्वाभावात् विशिष्टधीनियामकस्यैव तथात्वादिति ध्येयम् । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे
८७. सच विषयित्वप्रतियोगित्वाद्यनुपस्थितिदशायाँ विषयविशिष्टज्ञानप्रतियोगि-विशिष्टाभावादि प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरिति । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणस्य गंगाव्याख्यायाम्
८८. अभावप्रतिबन्धकत्वयोः प्रतियोगिताघटितत्वात् तथाविध व्यवहारगोचरस्यापि बिना प्रतियोगितां निर्वक्तुमशक्यत्वात् च । तत्रैव
८९. कारणीभूतभावप्रतियोगित्वम्, । गादाधरी, सामान्य-निरूक्ति प्रकरणे
९०. शुक्ल, बलिराम; अनुमान प्रमाण, ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली, १९८६
९१. अत्र ध्वंसप्रागभावाधिकरणेऽत्यन्ताभावासत्वे ध्वंसप्रागभावयोरत्यन्ताभाव-विरोधस्यार्थसिद्धत्वेन एकस्यैवात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिध्वंसप्रागभावत्रितय प्रतियोगिकत्वे लाघवम् । जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणस्य गंगाव्याख्यायाम्

❑❑❑

अध्याय ४
अनुयोगिता

जैसे सांसर्गिक प्रतियोगिता और अभावीय प्रतियोगिता के दो भेद से प्रतियोगिता दो प्रकार की होती है, उसी प्रकार अनुयोगिता भी उक्त दो प्रकार की होती है। इन्ही दो प्रकार की अनुयोगिता की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करना इस लेख का उद्देश्य है।

यह कहा जा चुका है कि सम्बन्ध हमेशा दो पदार्थों में हुआ करता है। इस प्रकार सम्बन्ध दो पदार्थो के बीच होते हुए भी उक्त दो पदार्थो की तात्त्विक स्थिति समान नहीं होती। जैसे कपि, और वृक्ष का संयोग कपि और वृक्ष इन दोनों में है। परंतु कपि ही वृक्ष पर संयोग संबंध से रहता है, वृक्ष कपि पर संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता। उसी तरह भूतल पर संयोग सम्बन्ध से घट रहता है लेकिन घट पर भूतल संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि सम्बन्ध में समान रूप से होने पर भी उन सम्बन्धियों की तात्त्विक के स्थिति समान नही हैं। सम्बन्ध के दो आश्रयों में से एक सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है तो दूसरा अनुयोगी। जो जिस सम्बन्ध से कहीं आश्रित होता है वह सम्बन्ध का प्रतियोगी कहलाता है तथा जो जिस संबंध का अनुयोगी होता है उसमें उस सम्बन्ध से प्रतियोगी आश्रित होता है। जैसे, कपि और वृक्ष के संयोग के विषय में कपि प्रतियोगी तथा वृक्ष अनुयोगी होता है क्यों कि कपि वृक्ष पर रहता है, वृक्ष कपि पर नही। जब भी धर्म और धर्मि के सम्बन्ध मे चर्चा होती है तो वहाँ धर्म को प्रतियोगी और धर्मि को अनुयोगी के रूप में समझा जाता है। क्योंकि धर्म सदा धर्मि पर आश्रित होता है; धर्मि आश्रित न हो कर आश्रय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध के दो मुख्य घटकों में से जो मुख्य रूप से गृहीत होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, तथा जिसका उस सम्बन्ध-प्रत्यय के सन्दर्भ में गौण स्थान होता है वह उस सम्बन्धं का अनुयोगी होता है। अनुयोगी को स्वीकार किये बिना सम्बन्ध के संकल्पना का व्याख्या सम्भव नहीं है।[१]

शाब्दबोध में भी जब एक पदार्थ के साथ दूसरा पदार्थ सम्बन्ध संसगमर्यादा के अधीन प्रतीत होता है, तो वहाँ भी एक पदार्थ प्रतियोगी के रूप में तथा अपर पदार्थ अनुयोगी के रूप में स्वीकार किया जाता है।[२] अनुयोगी पदार्थ में रहनेवाली अनुयोगिता भी प्रतियोगिता के समान ही स्वरूप-सम्बन्ध विशेष-रूप अथवा अतिरिक्त पदार्थ के रूप में मानी जा सकती है।[३]

''सम्बद्धं वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना'' (चक्षुरादि से वर्तमान का जो ग्रहण होता है वह सम्बन्धाधारित ही होता है।) इस नियम के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सम्बन्ध के साक्षात्कार के लिए प्रतियोगी तथा अनुयोगी इन दोनों का साक्षात्कार कारण होता है। यदि अनुयोगी का साक्षात्कार न हो तो सम्बन्ध का भी साक्षात्कार नहीं होता है। जैसे, घटाकाश के सम्बन्ध का ग्रहण साक्षात् इसलिए नहीं होता है क्योंकि

उसके अनुयोगी का याने आकाश का साक्षात्कार नहीं होता है। *

सांसर्गिक अनुयोगिता

ऊपर यह बताया जा चुका है कि अनुयोगिता सांसर्गिक तथा अभावीय इन दो प्रकार की होती है। अनेक व्याप्ति आदि के लक्षणों में उत्पन्न होने वाले दोष का परिहार करने के लिए साध्यतावच्छेदकता, हेतुतावच्छेदकता आदि की पर्याप्ति का निवेश करना पडता है। वह सांसर्गिक अनुयोगिता के प्रवेश के बिना सम्भव नहीं होता है। नैयायिक मानते हैं कि द्वित्व, उभयत्व, त्रित्व आदि के समान अवच्छेदकता भी पर्याप्ति सम्बन्ध से रहनेवाला पदार्थ है।५ जैसे, द्वित्व दो वस्तुओं में सम्मिलित रूप में रहता है और असम्मिलित रूप में भी रहता है। जब यह पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है तो सम्मिलित रूप से ही रहता है, असम्मिलित रूप से नहीं। उस समय द्वित्व का आश्रय सम्बन्धित वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं होती है। उसी तरह अवच्छेदकता के आश्रय भी पर्याप्ति सम्बन्ध से जितने अवच्छेदक होते है वे सब एकसाथ होते है। उदाहरण के लिए देखे- हमें "अग्नि का अभाव" बताना है। इसे यदि हम तरह व्यक्त करते हैं कि "अग्नि में रहनेवाली अग्निता से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव" तो पर्वतीय अग्नि का अभाव तथा अग्नि और धूम इन दोनों का अभाव आदि भी उसके अन्तर्गत लिए जा सकते हैं। क्योंकि जो प्रतियोगिता पर्वतीय अग्नित्व, और अग्नित्व धूमत्व और उभयत्व से नियमित है वह अग्नित्व से नियमित अवश्य ही है। ऐसी स्थिति में अग्निसामान्याभाव और उभयाभाव या विशेषाभाव का विश्लेषण करने के लिए न्यूनता-वारक तथा इतर-वारक पर्याप्ति का प्रयोग करना पड़ता है। अग्नि का अभाव केवल अग्नित्व से नियमित प्रतियोगिता का अभाव न हो कर अग्नित्व पर्याप्त अवच्छेदकता से निरूपित प्रतियोगिता वाला अभाव होता है। अवच्छेदकता के पर्याप्ति-रूप सम्बन्ध की जो अनुयोगिता है वह केवल अग्नित्व में है। उसका अवच्छेदक संख्यात्मक रूप अग्नित्व में रहने वाला एकत्व है। जब "अग्निधूम उभय का अभाव" कहा जाता है तो प्रतियोगिता की अवच्छेदकता और अवच्छेदक के बीच में होनेवाले पर्याप्ति सम्बन्ध के अनुयोगी अग्नित्व, धूमत्व तथा उभयत्व ये तीनो होते हैं। अतः अनुयोगिता का अवच्छेदक रूप त्रित्व होता है। इसलिए वह अभाव त्रित्व नियमित अग्नित्व, धूमत्व और उभयत्व में रहने वाली पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता से निरूपित अवच्छेकता से प्रदर्शित प्रतियोगिता वाला अभाव है, जब कि केवल अग्नि का अभाव अग्नित्व गत एकत्व से नियमित पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता से निरूपित अवच्छेदकता से प्रदर्शित प्रतियोगिता वाला अभाव है। इस प्रकार पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता के माध्यम से सामान्याभाव का विश्लेषण कर उभयाभावादिकों से उसे अलग किया जाता है।

इस प्रकार जहाँ भी पर्याप्ति का प्रयोग किया जाएगा वहाँ उक्त संसर्ग के अन्तर्गत अनुयोगिता का निवेश आवश्यक है। अनुयोगिता पदार्थ को स्वीकार किए बिना पर्याप्ति का निवेश सम्भव ही नहीं है।

सम्बन्धियों की प्रतियोगी-अनुयोगियों के रूप में विलक्षण स्थिति की द्योतक सम्बन्ध की प्रतीति ही है। 'पर्वत पर अग्नि है' यहाँ पर्वत के साथ अग्नि का संयोग है, अग्नि के साथ पर्वत का नहीं इस प्रतीति के आधार पर सम्बन्ध के दो आश्रयों की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है और उस विलक्षणता को प्रदर्शित करने के लिए नैयायिकों ने एक सम्बन्धी को प्रतियोगी तथा दूसरे सम्बन्धी का अनुयोगी माना है।[६]

सम्बन्धियो की विलक्षणता के आधार पर सम्बन्धी का भेद किया जाता है। जगदीश ने "दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्" यह सद्हेतु-स्थल प्रदर्शित किया है। जहाँ जहाँ दंडिसंयोग रहे वहाँ वहाँ दण्डि रहने पर ही यह सद्हेतु बनेगा। परतु दण्डिसंयोग दण्डि में है वहाँ दण्डि नहीं है। अतः यह असद्हेतु हो जाएगा। उसके सद्वेतुत्व की रक्षा के लिए "स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोग" को हेतु बनाना पडेगा जिससे संयोग द्विष्ठ होने से दण्डि मे वर्तमान होने पर स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोग" दण्डि में नहीं है। वह संयोग अनुयोगी अर्थात् दण्ड में रहने से और वहाँ संयोग सम्बन्ध से दण्डि के रहने से सद्वेतु होता है। इस तरह सम्बन्धियों की भिन्नता प्रतियोगी और अनुयोगी के रूप में प्रदर्शित करना आवश्यक हो जाता है।[७]

यद्यपि सांसर्गिक प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व को सम्बन्धित्व के रूप में माना जाता है तथापि उक्त दो स्थानो में पृथक् रूप से रहने वाली सम्बन्धिता का पार्थक्य करने के लिए उनकी प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता के रूप में ही विभक्त करना आवश्यक है।

जो जिसके सम्बन्ध का आश्रय होता है वह उस सम्बन्ध से उस वस्तु का आश्रय होता है ऐसी व्याप्ति प्रदर्शित की जाती है। जैसे, घट-संयोग का आश्रय भूतल घट का आश्रय होता है। परंतु यह व्याप्ति समीचीन नहीं है, भूतल-संयोग का आश्रय घट भूतलवान नहीं है। अथवा, रूप का समवाय वायु में होने पर भी वायु रूप का आश्रय नहीं है। उक्त आपत्तियों का वारण अनुयोगिता की संकल्पना के आधार पर नैयायिक करते है।[८] उनका कहना है कि "यो यदीय सम्बन्धवान्" इस व्याप्ति का अर्थ है "यो यन्निरूपितत्वविशिष्ट सम्बन्धवान् स तत् सम्बन्धेन तद्वान"। अर्थात्, जो जिससे निरूपित सम्बन्ध का आश्रय होता है वह उस सम्बन्ध से उसका आश्रय होता है। सम्बन्ध का आश्रय अनुयोगिता सम्बन्ध से ग्रहण करना चाहिए। अतः वायुरूप समवायी है यह प्रतीति न होने से वायु में रूप निरूपित समवाय की अनुयोगिता नहीं है। घट-निरूपित संयोग की अनयोगिता भूतल में होने से "घटसंयोगी भूतल" यह प्रत्यय होता है। "घटसंयोगी भूतल" इस प्रत्यय में संयोग के बाद प्रयुक्त मत्वर्थीय प्रत्यय का अर्थ प्रतियोगित्व नहीं है। उसका अर्थ उपर्युक्त अनुयोगित्व ही करना पडेगा। उसका अर्थ प्रतियोगित्व करने पर "घटसमवायी रूप" यह प्रतीति भी होनी चाहिए, जो नहीं होती। अतः सम्बन्धवाचक पद के बाद मतुप् अर्थ में प्रयुक्त ईय प्रत्यय का अर्थ अनुयोगिता करना आवश्यक है।

जिन संयोगादि सम्बन्धों से जहाँ प्रमात्मक विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है वहाँ उन

सम्बन्धों को किञ्चित्प्रतियोगिक तथा किञ्चिदनुयोगिक मानना आवश्यक है। धूमसंयोग में अयोगोलकानुयोगिक सम्बन्धत्व नहीं है क्योंकि अयोगोलक में धूमसंयोग नहीं रहता है। अतः धूमसंयोग की अनुयोगिता अयोगोलक में नहीं रहती है। यथार्थ विशिष्टबुद्धि का नियामक सम्बन्ध ही तदनुयोगिक सम्बन्ध कहलाता है।[९]

इस प्रकार सम्बन्ध का एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी अवश्य होता है। अतः प्रतियोगिता के समान ही अनुयोगिता पदार्थ को स्वीकार करना आवश्यक है। सांसर्गिक प्रतियोगिता के समान ही सांसर्गिक अनुयोगिता के सम्बन्ध में भी नैयायिकों के अनेक मत हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सांसर्गिक अनुयोगिता तथा अधिकरणता में क्या भेद है ? भूतल में जहाँ घट-संयोग की अनुयोगिता है वहाँ उसकी अधिकरणता भी है। यद्यपि जहाँ अधिकरणता है वहाँ अनुयोगिता है यह बात बिलकुल सत्य है तथापि अनुयोगिता अधिकरणरूप नहीं है। जहाँ सम्बन्ध वृत्यनियामक होता है वहाँ अधिकरणता नहीं रहती है। वृत्तिनियामक सम्बन्ध से ही आधाराधेय भाव प्रतीत होता है, वृत्यनियामक सम्बन्ध से नही। परंतु वृत्यनियामक सम्बन्ध में भी प्रतियोगी-अनुयोगी-भाव प्रतीत होता है। अतः वृत्यनियामक सम्बन्ध से अधिकरण न होने पर भी उसका अनुयोगी होता ही है। अतः अनुयोगिता अधिकरणता से भिन्न पदार्थ है।

अभावीय अनुयोगिता

अभावत्वात्मिका दूसरी अनुयोगिता होती है। जैसे प्रतियोगिता-निरूपकत्व सम्बन्ध में रहता है वैसे ही वह अभाव में भी रहता है। जब हम कहते हैं "यहाँ घट नहीं है" तब इस प्रतीति के विषय घटाभाव की घट में रहनेवाली प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता रहती है, जो अभावीय अनुयोगिता कहलाती है। प्रतियोगिता के समान ही अभावीय अनुयोगित्व के विषय में भी विवाद है।

कुछ नैयायिकों का कथन है कि घटाभाव में रहने वाली अनुयोगिता घटाभावत्व से भिन्न नहीं है, जब कि कुछ का कहना है कि यह अनुयोगिता स्वतन्त्र पदार्थ है। इसके अलावा कुछ और नैयायिकों का मत है कि यह स्वरूप-सम्बन्धविशेष है।[१०]

अभावीय अनुयोगिता को स्वीकार किए बिना अन्यतमत्वादि घटित लक्षणों की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। जैसे, न्यायावयव का लक्षण किया गया है.. न्यायान्तर्गत्वे सति प्रतिज्ञादि अन्यतमत्वम्। यहाँ अन्यतमत्व का अर्थ किया गया है- प्रतिज्ञादिभिन्नभेदानुयोगितावच्छेदकरूपवत्वम्।[११] ध्वंस का लक्षण 'जन्यत्वे सति अभावत्वम' यह किया जाता है। परंतु 'गोध्वंसः' इस बुद्धि में ध्वंस की प्रतीति ध्वंस के रूप में ही होती है, अभावरूप में नहीं होती है। इसलिए ध्वंस को अनुयोगिता का ही एक विशेष प्रकार माना गया है।[१२]

अभाव के आश्रय को भी अनुयोगी माना जाता है तथा उसमें रहने वाली विशेष्यता भी अनुयोगिता का एक प्रकार है ऐसा स्वीकार किया जाता है। जब हम

कहते हैं "घटाभाववत् भूतलम्" तब उसका अर्थ होता है घट-प्रतियोगिक और भूतलानुयोगिक अभाव।[13] यहाँ भूतल अनुयोगी होने से उसमें अनुयोगिता रहती है। भूतल में रहने वाली अनुयोगिता घटाभाव की प्रतियोगिता से निरूपित होती है। प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता के बीच निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। जैसे घटाभावीय प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगिता कहने पर अनुयोगिता निरूप्य होती है तथा प्रतियोगिता निरूपक होती है, उसी प्रकार अनुयोगिता निरूपित भी प्रतियोगिता होती है। अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिता कहने पर अनुयोगिता निरूपक तथा प्रतियोगिता निरूप्य होती है। इसका तात्पर्य यह है कि नैयायिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। "घटाभाववत् भूतलम्" इस ज्ञान से उत्पन्न 'अभाव-पदप्रयोग-विषयत्व' को ही घट और भूतल के प्रतियोगी-अनुयोगी-रूप सम्बन्ध के रूप में गंगेश ने स्वीकार किया है।[14]

"घटाभाववद्भूतलम्" यहाँ घटाभाव में रहने वाली आधेयता से निरूपित अधिकरणता भूतल में है और घटप्रतियोगिक अभावानुयोगिता भी भूतल में है। लेकिन इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ? कुछ नैयायिकों का कथन है कि उनमें तात्त्विक भेद नहीं है; उनमें अभेद है। परन्तु कुछ अन्य नैयायिकों का मत है कि अनुयोगिता और आधारता का सामानाधिरण्य होने पर भी उनमें अभेद नहीं है। आधारता आधेयता से निरूपित है, जबकि अनुयोगिता प्रतियोगिता से निरूपित होती है।

अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव स्थलों में अभाव का आश्रय ही अनुयोगी होता है। जैसे, "घटाभाववत् भूतलम्" में भूतल अनुयोगी होने से अनुयोगिता भूतल में रहती है, तथा "घट पट नहीं है" यहाँ घट में पट का भेद मालूम होने से घट यह उक्त भेद का अनुयोगी है। प्रतियोगिता के समान ही अनुयोगिता भी किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न होती है। घटाभाव की भूतल में रहने वाली अनुयोगिता भूतलत्व से अवच्छिन्न (नियमित) होती है। परन्तु "घटपटौ न घटः" यह प्रतीति न होने से व्यासज्यवृत्ति (मिल कर रहने वाले उभयत्व आदि) धर्म से निरूपित एक वस्तु के भेद की अनुयोगिता प्रामाणिक नहीं मानी जाती।[15] उसी प्रकार विशेष्य में रहने वाले धर्म का विशिष्टानुयोगिक अभाव नहीं होता है। "नीलो घटो घटान्यः" इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है।[16]

अन्योन्याभाव के सन्दर्भ में दूसरी बात यह है कि प्रतियोगिवाचक पद के समान विभक्ति वाला अनुयोगिक पद न हो तो 'नञ्' से अन्योन्याभाव का बोध ही नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याभाव की प्रस्तुति में प्रतियोगी तथा अनुयोगी वाचक पदो का प्रयोग अनिवार्य रूप से होता है।[17]

जिस प्रकार "घटाभाववद्भूतलम्" इस प्रतीति से घटप्रतियोगिक भूतलानुयोगिक अभाव प्रतीत होता है, उसी प्रकार "घटो नष्टः" घट नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति से जो घटध्वंस प्रतीत होता है वह भूतलानुयोगिक नहीं होता है। ध्वंस सर्वदा अपने प्रतियोगी के समवायि कारण में रहता है, अतः ध्वंस की अनियोगिता हमेशा ध्वंस के प्रतियोगी

के समवायी कारण में रहती है। जैसे "घटो नष्टः" इस प्रतीति में भासित घट के विनाश का अनुयागी घट का समवायि कारण घट-कपाल (घट का आधा हिस्सा होता है।) अतः घट-ध्वंस की घट में रहने वाली प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता घट-कपाल में रहती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि द्रव्य का नाश दो प्रकार से होता है : एक तो समवायि कारण के नाश से, तथा दूसरा असमवायि कारण के नाश से। असमवायि कारण के नाश से जहाँ द्रव्य का नाश होगा वहाँ वह नाश तो अपने प्रतियोगी के समवायि कारण में रहेगा। जैसा, तन्तु-संयोग के नाश से जब वस्त्र का नाश होगा तो वह तन्तुओं में रहेगा, परन्तु जब तन्तुओं के नाश से वस्त्र का नाश होगा तो वह नाश कहाँ रहेगा ? इस विषय में नैयायिकों का कथन है कि असमवायि कारण के नाश को ही वे द्रव्यनाश का कारण मानते हैं। समवायि कारण का नाश होने से असमवायि कारण का नाश हो कर द्रव्यनाश होता है। तन्तुओं के नष्ट होने पर तन्तु-संयोग-रूप असमवायि कारण भी नष्ट हो जाता है और उसके नष्ट होने पर द्रव्य का नाश हो जाता है। द्रव्यणुक के नाश के लिए असमवायि कारण के नाश को कारण मानना आवश्यक है क्यों कि द्व्यणुक का नाश परमाणुओं के नाश से सम्भव नहीं है।[१८] अतः असमवायि कारण के नाश को ही द्रव्यनाश का कारण मानने पर भी उसकी अनुयोगिता द्रव्य के समवायि कारण में मानने में बाधा रहती ही है तन्तुनाश से जन्य संयोग का नाश भी कहाँ रहेगा? इस विषय में नैयायिकों का उत्तर है कि ध्वंस अपने प्रतियोगि के समवायि देश में रहता है। अतः ध्वंस की अनुयोगिता समवायि-देश में रहती है। प्रागभाव के विषय में भी यही मत है। प्रागभाव भी अपने प्रतियोगि के समवायि-देश में रहता है। "इन तन्तुओं से पट उत्पन्न होगा, घट नहीं" इस प्रतीति के आधार पर पट-प्रागभाव के प्रतियोगि पट के समवायि देश में प्रागभाव होने से पट के प्रागभाव की अनुयोगिता पट-समवायि-देश में रहती है।[१९]

जैसे पिछले अध्याय में स्पष्ट किया गया है, अनुयोगिता और प्रतियोगिता में मौलिक भेद यह है कि अनुयोगिता को सम्बन्धावछिन्न नहीं माना जाता, प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न माना जाता है।[२०] प्रतियोगिता और अनुयोगिता दोनों भी धर्मावच्छिन्न होती हैं। अर्थात्, धार्मिक अवच्छेदकता से निरूपितत्व दोनों में समान रूप से रहता है; परन्तु सांसर्गिक अवच्छेदकता से निरूपितत्व अनुयोगिता में नहीं स्वीकार किया जाता। प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकाभाव के अनुरोध से अथवा बाधनिश्चयाभाव की कारणता के अनुरोध से अभावीय प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न तथा धर्मावच्छिन्न माना जाता है। परन्तु अनुयोगिता को भी सम्बन्धावच्छिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रतियोगिता को सम्बन्धावछिन्न मान लेने से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव बन जाता है यह पूर्व अध्याय में प्रदर्शित किया जा चुका है। जब "घटाभाववद् भूतलम्" यह प्रतीति होती है तब भूतल की केवल अनुयोगि के रूप में ही प्रतीति होती है, उसके

सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। अनुयोगिता सापेक्षिक धर्म है। वह हमेशा प्रतियोगिता-सापेक्ष होती है। अतः वह किसी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। वह केवल धर्म से नियमित होती है। जैसे, घटाभाव की भूतल में रहने वाली अनुयोगिता भूतलत्व से नियमित होती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता है वैसे अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिता है। प्रतियोगिता और अनुयोगिता का परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव है। ''घटाभाववद् भूतलम्'' को घटप्रतियोगिक और भूतलानुयोगिक अभाव कहते हैं। उसका अर्थ न्याय की भाषा में जैसे ''घटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपित भूतलनिष्ठ अनुयोगिता निरूपक अभाव है'' वैसे ही ''भूतलनिष्ठ अनुयोगिता निरूपित घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव है'' ऐसा होता है। अगर प्रतियोगिता-सापेक्ष जैसे अनुयोगिता है वैसे ही अनुयोगितासापेक्ष प्रतियोगिता है तो प्रतियोगिता को ही सम्बन्धावच्छिन्न (सम्बन्ध से नियमित) क्यों माना जाय ? अनुयोगिता को क्यों नहीं ? यह बात सत्य है कि दोनों को सम्बन्ध से नियमित मानने की आवश्यकता नहीं है। अगर दोनों में से एक को ही सम्बन्ध से नियमित मानना अनिवार्य है तो अनुयोगिता को ही क्यों न माना जाय ? प्रतियोगिता का सम्बन्ध से नियमित मानने में क्या विनिगमक है ? इस प्रश्न का समाधान में प्रस्तुत किया जायगा।

ऊपर में यह प्रश्न उठाया गया था कि अनुयोगिता को प्रतियोगिता के समान सम्बन्ध से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) क्यों न माना जाय ? निरूप्य-निरूपक-भाव दोनों में समान होने पर प्रतियोगिता को ही क्यों सम्बन्ध से नियन्त्रित माना जाता है ? अनुयोगिता को भी क्यों नहीं ? पिछले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि प्रतियोगिता और अनुयोगिता में से एक को सम्बन्धावच्छिन्न मानना आवश्यक है। प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित मानने में युक्ति यह है कि सामान्य रूप से किसी भी वस्तु का कहीं भी अभाव नहीं है। प्रत्येक वस्तु किसी न किसी सम्बन्ध से कहीं न कहीं रहती है। कम-से-कम कालिक सम्बन्ध से सभी जन्य पदार्थ सर्वत्र रहते हैं। जहाँ कहीं भी अभाव का प्रत्यय होता है वहाँ उसमें कोई सम्बन्ध अवश्य ही छिपा हुआ होता है।अभावप्रत्यय में प्रविष्ट होनेवाला सम्बन्ध प्रतियोगिता को ही नियमित करता है, क्योंकि जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ नहीं रहती है वही सम्बन्ध वहाँ उस वस्तु के अभाव की उस वस्तु में रहनीवाली प्रतियोगिता का नियमित करता है। इसलिये वह सम्बन्ध उस अभाव की प्रतियोगिता को नियामक (अवच्छेदक) सम्बन्ध कहलाता है। जैसे, भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट नहीं रहता है, या मेज पर समवाय सम्बन्ध से पुस्तक नहीं है इत्यादि प्रत्ययों में समवाय सम्बन्ध घटाभाव या पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता को नियमित करता है। अतः घटाभाव की प्रतियोगिता उक्त स्थलों में समवाय सम्बन्ध से नियमित होती है। संयोग या अन्य किसी सम्बन्ध से घट भूतल पर तथा पुस्तक मेज पर रहने पर भी समवाय सम्बन्ध से वे चीजें क्रमशः भूतल और मेज पर नहीं है। अतः भूतल पर उक्त

सम्बन्ध से घट का और मेज पर पुस्तक का अभाव होता है। सम्बन्ध का अवच्छेदकत्व विशेषतकत्व रूप है क्योंकि उक्त सम्बन्ध प्रतियोगिता की विशेषता को द्योतित करता है। इस प्रकार से प्रतियोगिता को द्योतित करने वाले सम्बन्ध को प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध कहा जाता है। इस युक्ति के आधार पर अनुयोगिता को भी सम्बन्धावच्छिन्न। (याने सम्बन्ध से विशेषित) मानने पर गौरव दोष उत्पन्न होता है।

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की सिद्धि के लिय अभावीय प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित माना जाता है। एक सम्बन्ध से तद् गो के अत्यन्ताभाव का ज्ञान होने पर भी दूसरे सम्बन्ध से गो की उपस्थिति का बोध होता है। इसलिये सम्बन्ध-विशेष का अन्तर्भाव कर के ही प्रतिबाध्य-प्रतिबन्धक-भाव स्पष्ट किया जाता है।

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की सिद्धि के लिये आवश्यक अभावीय प्रतियोगिता एक तो वस्तुतान्त्रिक होगी या तो (वि) ज्ञान-तान्त्रिक। याने एक तो वह वस्तुनिदर्शक होगी या तो हमें होनेवाले आकलन की निदर्शक होगी। हरेक सम्बन्ध का एक प्रतियोगी जैसे होता है वैसा ही एक अनुयोगी। अब वस्तुतान्त्रिक विरोध स्थल में अगर प्रतियोगिता को सम्बन्ध से अनवच्छिन्न और अनुयोगिता को सम्बन्ध से अवच्छिन्न इस रूप में स्वीकार किया तो संयोगसम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगित्वाभाव के साथ संयोगसम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगित्व की अनुयोगिता को प्रतियोगिता की विरोधी मानना पडेगा, जब कि प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर सम्बन्धाविशेषावच्छिन्न प्रतियोगित्वाभाव के साथ सम्बन्ध-विशेष से नियमित प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता को प्रतिबन्धक मानना पडेगा। अर्थात् इस प्रकार प्रतिबन्धक में सम्बन्ध-विशेष से नियमित अनुयोगिता-निरूपितत्व का प्रवेश अधिक होने से गौरव दोष होता है।

वैज्ञानिक-विरोध-स्थल में भी प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर संयोगसम्बन्धावच्छिन्न गोत्वावच्छिन्न प्रकारताशालि बुद्धि के उत्पन्न होने में संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न गोत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव विषयक निश्चय विरोधी होता है। अब अनुयोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न गोत्वावच्छिन्न प्रकारताशालि बुद्धि उत्पन्न होने के लिये संयोगसम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता निरूपित गोत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावविषयक निश्चय को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा। यहाँ संयोग सम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता से निरूपितत्व का प्रवेश अधिक होता है। प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर वह वैसा नहीं होता है। इस प्रकार प्रतिबन्धकता की कुक्षि में अनुयोगिता-निरूपितत्व का प्रवेश अधिक होने से गौरव होता है। तत्सम्बन्धावच्छिन्न गोत्वप्रकारक बुद्धि में तत्सम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिता का अभाव-प्रकारक बुद्धि को प्रतिबन्धक मानना पड़ता है। तथा तत्सम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिताक अभाव-प्रकारक बुद्धि में तत्सम्बन्धावच्छिन्न तत्प्रकारक बुद्धि को प्रतिबन्धक मानना पड़ता है। इस प्रकार प्रतिबध्य-

प्रतिबन्धक-भाव मे प्रतिबन्धकता के अन्तर्गत तथा उत्तर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में प्रतिबध्यता के अन्तर्गत तत्सम्बन्धावच्छिन्न अनुयोगिता से निरूपितत्व का प्रवेश अधिक होने से उक्त प्रकार का गौरव दोष होता है। अनुयोगिता-निरूपितत्व को छोड़कर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की कल्पना करने पर 'संयोगेन गोमान्' इस बुद्धि में 'समवायेन गो अवृत्तिः' यह बुद्धि भी प्रतिबन्धक माननी पड़ेगी। अतः प्रतियोगिता में उक्त अनुयोगिता-निरूपितत्व का निवेश आवश्यक है। मात्र प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर उक्त अनुयोगिता-निरूपितत्व का निवेश नहीं करना पड़ता है। अतः अनुयोगिता को सम्बन्ध-विशेष से नियमित न मान कर प्रतियोगिता को ही सम्बन्ध-विशेष से नियमित माना जाता है।

अभाव-वैलक्षण्य प्रतियोगिता-वैलक्षण्य के अधीन होने से प्रतियोगिता के निवेश को छोड कर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।[२१]

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव कर व्यवस्था के लिये जिस प्रकार प्रतियोगिता को प्रतियोगितावच्छेदक से नियमित माना जाता है (जैसे पूर्व अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है) उसी प्रकार अनुयोगिता को भी अनुयोगितावच्छेदक धर्म से नियमित माना जाता है। 'इस समये चबूतरे (चत्वर) पर गो नही है' इस प्रत्यय में चबूतरे पर रहने वाले गो के अभाव की अनुयोगिता चत्वरत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। अन्यथा 'गो-शाला में गो नहीं है' इस बुद्धि में भी चत्वर पर गो है इस बुद्धि की प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी। इस प्रकार की कठिनाई से छुटकारा पाने के लिये उक्त अनुयोगिता को गो-शालात्व धर्म से नियमित माना जाता है।

'अनुयोग' शब्द के दो अर्थ होने से अनुयोगिता के भी दो अर्थ होते हैं। जब अभाव की अनुयोगिता का विचार किया जाता है, उस समय अनुयोगी शब्द का अर्थ अभाव का अधिकरण होता है, तथा सम्बन्ध की अनुयोगिता के विचार के समय इसका अर्थ सम्बन्धी मात्र होता है।

प्रतियोगिता के समान ही अनुयोगिता को भी एक सम्बन्ध माना जाता है। जाति-बाधकों में प्रविष्ट ''असम्बन्ध'' की व्याख्या अनुयोगिता को सम्बन्ध माने बिना सम्भव नहीं है। ''असम्बन्ध'' समवायत्व और अभावत्व दोनों को जाति मानने में बाधक होता है। यदि ''असम्बन्ध'' का सामान्य अर्थ सम्बन्ध का अभाव यह लें तो समवाय और अभाव इन दोनों में स्वरूपादि सम्बन्ध विद्यमान होने से वहाँ सम्बन्ध का अभाव नहीं रह सकता। अतः ''असम्बन्ध'' का अर्थ प्रतियोगिता अनुयोगिता अन्यतर सम्बन्ध से समवाय का अभाव यह करना पड़ता है। वहाँ केवल प्रतियोगिता सम्बन्ध से समवाय का अभाव कहने पर आत्मा आदि में भी प्रतियोगिता सम्बन्ध से समवाय का अभाव होने वे अतिव्याप्ति होती है। अतः ''असम्बन्ध'' की व्याख्या में अनुयोगिता का समावेश आवश्यक है।[२२]

कुछ लोग अभावत्व को भी अनुयोगिता-रूप मानते हैं। यदि 'भावभिन्नत्व'

यह अभाव का लक्षण करें तो भावत्व-रूप विशेषण-ज्ञान न रहने पर 'घट नहीं है' यह प्रतीति नही होनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि भिन्नत्व अर्थात् अन्योन्याभाव अभाव के लक्षण में अभाव प्रविष्ट होने से अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होता है। अन्योन्याभाव (या भेद) के ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान नहीं होगा और अभाव के ज्ञान के बिना अन्योन्याभाव का ज्ञान नही होगा। तीसरी बात यह है कि उद्देश्यतावच्छेदक (अभावत्व) और विधेय-अभावत्व (भेदत्व) दोनों एक होने से 'अभावो न भावः' इस वाक्य से शाब्दबोध ही नहीं होगा। इसलिये अभावत्व को अखण्डोपाधि या अनुयोगिता-विशेष मानना आवश्यक है। अभावत्व को सखण्डोपाधि मानने में कोई प्रमाण न होने से अभावत्व को अनुयोगितारूप मानना ही उचित है, अन्यथा अभाव संकल्पना की व्याख्या ही सम्भव नहीं हो सकेगी।[२३]

ध्वंसत्व भी अनुयोगिता-विशेष ही है।[२४] 'जन्यत्वे सति अभावत्वम्' यह जो ध्वंस का लक्षण किया जाता है वह ठीक नहीं हैं क्योंकि 'गो ध्वंसवान्' इस प्रतीति में ध्वंस ध्वंस के रूप में ही प्रकार है, अभाव के रूप में नहीं। अतः ध्वंस में रहने वाला प्रकारता का नियामक (अवच्छेदक) अभावत्व नहीं है।

भेदत्व अर्थात् अन्योन्याभावत्व भी अनुयोगिता का ही एक प्रकार है।[२५] 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावत्वम्' यह अन्योन्याभाव का लक्षण किया जाता है। परन्तु जो लोग सम्बन्ध को एक-प्रतियोगिक अपरानुयोगिक मानते हैं उनके मत में तादात्य सम्बन्ध नहीं है। अतः भेद की प्रतियोगिता की तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि वृत्यनियामक सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित नहीं होती है। चूँकि तादात्म्य सम्बन्ध वृत्यनियामक सम्बन्ध है अतः उस सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित नहीं होती है। तीसरी बात यह है कि तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव भी संयोगादि सम्बन्ध से नियमित अत्यन्ताभाव के समान अत्यन्ताभाव ही मान लें तो अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में कोई भेद नहीं किया जा सकेगा। अतः ध्वंसत्व के समान ही अन्योन्याभावत्व को अनुयोगिता-विशेष मानना आवश्यक है। यह अनुयोगि-विशेष ही इतर अभावों से अन्योन्याभाव को विलक्षण सिद्ध करता है।

'नित्य सम्बन्धः समवायः' यह समवाय का लक्षण करने पर स्वरूप सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है। उसका परिहार करने के लिये सम्बन्ध के प्रतियोगी और अनुयोगि से भिन्न होते हुए जो नित्य सम्बन्ध है वह समवाय [२६] ऐसा समवाय का लक्षण करना पड़ता है। अतः प्रतियोगी और अनुयोगी-रूप स्वरूप सम्बन्ध में अतिव्याप्ति नहीं होती है। स्वरूप सम्बन्ध कहीं अनुयोगीरूप तो कहीं प्रतियोगी-रूप माना जाता है। जैसे, द्रव्यत्वाभाव का सम्बन्ध लाघव होने से द्रव्यत्वरूप प्रतियोगिस्वरूप है, तथा घट का महाकाल के साथ जो कालिक स्वरूप-सम्बन्ध है वह अनुयोगी अर्थात् कालरूप ही है। परन्तु अनुयोगिनिष्ठ ही सम्बन्ध होता है यह नियम स्वीकार करने पर द्रव्यत्वाभाव

गुणादि अनुयोगीनिष्ठ होने से उसे सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु काल को स्वरूप सम्बन्ध मानने पर उसमें अनुयोगीवृत्तित्व नहीं है, कारण स्व में स्व की निष्ठता प्रतीति के विरूद्ध है। अतः उक्त स्वरूप को अनुयोगिता-विशेष मानने पर उक्त नियम का बाध नहीं होता है।

सम्बन्ध के साक्षात्कार के लिये प्रतियोगि तथा अनुयोगि इन दोनों का साक्षात्कार कारण होता है। इसलिये सम्बन्ध की निरूपक जैसे प्रतियागिता होती है वैसे ही अनुयोगिता भी होती है। केवल प्रतियोगिता-निरूपक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

अनुयोगिता का सम्बन्ध के रूप में भी व्यवहार आवश्यक है, जैसे जगदीश ने सिद्धान्तलक्षण[२७] में 'दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इस स्थल में अव्याप्ति प्रदर्शित की है। यदि दण्डिसंयोग को समवाय सम्बन्ध से हेतु माना जाय तो यह असत् हेतु होगा, कारण दण्डिसंयोग के आश्रय दण्ड में भी दण्डिसंयोग है। परन्तु वहाँ संयोग सम्बन्ध से दण्डि नहीं है। इसलिये अनुयोगिता सम्बन्ध से दण्डिसंयोग को हेतु मानने पर सद्‌हेतुता की हानि नहीं होती है। अनुयोगिता सम्बन्ध से दण्डिसंयोग भूतल पर होने से और वहाँ दण्डि के रहने से सद्‌हेतुत्व होता है।

जब घट नहीं है ऐसी प्रतीति होती है तो उस प्रतीति में अभाव में घटवत्ता प्रतीत होती है। लेकिन अभाव में घट किस सम्बन्ध से प्रतीत होता है ? संयोगादि सम्बन्ध अभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसलिये अभाव में जिसका अभाव है उस प्रतियोगिस्वरूप निरूपित अनुयोगिता सम्बन्ध से ही घटाश्रययता घटाभाव में प्रतीत होती है।

कुछ नैयायिक प्रतियोगि-भेद से प्रतियोगिता भिन्न मानते है जो कि बतलाया जा चुका है। परन्तु न्याय में ऐसा भी मत मिलता है जो अनुयोगिता के एक होने से प्रतियोगिता को भी एक मानता है। इसके विपरीत अनुयोगिता को भी प्रतियोगिता के समान ही कुछ नैयायिक प्रत्याश्रय में भिन्न मानते हैं।[२८]

परन्तु प्राचीन नैयायिक अनुयोगिता आदि को सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार जो सम्बन्ध होता है उससे विशिष्ट बुद्धि अवश्य उत्पन्न होती है। वह मत्वर्थक प्रत्यय से व्यक्त होती है। घटवत् भूतलम् इस प्रकार की प्रतीति होती है; परन्तु किसी को भी घटवान् अभावः इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। अतः अनुयोगिता कोई सम्बन्ध नहीं है। घटाभावः इस प्रतीति में अनुयोगिता का प्रत्यय संसर्ग के रूप में न होकर प्रकार के रूप में होता है। 'घटो नास्ति' कहने पर घटनिष्ठ प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगितावान् अभाव प्रतीत होता है।

परन्तु गदाधर [२९] ने अनुयोगिता को सम्बन्ध माना है क्योंकि हेत्वाभास के लक्षण में आये 'यथार्थ' पद के सार्थक्य को प्रदर्शित करने के लिये दीधितिकार रघुनाथ ने 'पर्वतो निर्वह्नि, धूमो वन्हेः अभिधेयत्वमेयत्वस्य व्यभिचारी' से भ्रम लेकर 'वह्निमान् घटो मेयः अभिधेयत्वात्' इस स्थल में अतिव्याप्ति प्रदर्शित की है। परन्तु अभिधेयत्व मेयत्व का व्यभिचारी है इसका अर्थ होता है 'मेयत्वाभाववद्‌वृत्ति अभिधेयत्वम्'। तथापि

मेयत्वाभाव अप्रसिद्ध होने से मेयत्वाभाववद्वृत्तित्व भी अप्रसिद्ध है। अतः उक्त भ्रम का ग्रहण सम्भव नहीं है। इस आपत्ति के समाधानार्थ गदाधर ने अभाव में अनुयोगिता-विशेष सम्बन्ध से मेयत्व का भ्रम लिया है। तात्पर्य यह है कि मेयत्वाभाव अप्रसिद्ध होने से उक्त भ्रम सम्भव न होने पर भी अनुयोगिता सम्बन्ध से अभाव में मेयत्व का भ्रम हो सकता है। मेयत्व प्रसिद्ध होने से उसका भ्रम सम्भव है; परन्तु मेयत्वाभाव शशशृंग के समान अप्रसिद्ध होने से उसका भ्रम सम्भव ही नहीं है।

शाब्दबोध में भी एक पदार्थ में अपर पदार्थ का जो सम्बन्ध आकांक्षा का लक्ष्य होता है उसमें अभेदातिरिक्त सम्बन्धों में प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि का भी समावेश है। गदाधर के 'प्रतियोग्यनुयोगिभाव' कथन का तात्पर्य प्रतियोगिता और अनुयोगिता को पृथक् रूप से सम्बन्ध मानने में है।''

टिप्पणियाँ

१. वेणोमाधव शास्त्री; अनुयोगिवृत्तिधर्मस्यैव सम्बन्धत्व स्वीकारात्। परिष्कारदर्पणे

२. तथा च एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपकः अपरपदार्थनिष्ठप्रतियोगिता निरूपकः संसर्गः आकांक्षाप्रयोज्य संसर्गत्वाऽभिन्न शाब्दबोध निरूपित विषयतावनिति बोधः शिवदत्त मिश्रः व्युत्पत्ति वादटीका, पृ. २

३. भवानन्द तर्कवागीश; प्रतियोगित्वानुयागित्ववद् आधेयत्वमधिकरणत्वञ्च विलक्षणप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। सचातिरिक्तोऽनतिरिक्तो वेत्यन्यदेतत्। कारकचक्रे

४. शिवदत्तमिश्रः सामान्यनिरूक्तिटीका, पृ. २०

५. Mahesh Chandra Nyayaratna; संख्यादीनामिव दक्ष्यमाणाया अवच्छेदकताया अपि पर्याप्तिसम्बन्धोऽङ्गीक्रियते। Brief Note on the modern nyaya system of philosophy and its Technical Terms, p. १२

६. जगदीश तर्कालङ्कार; संयोगः पर्वत वह्नेः सम्बन्धो न तु वह्नौ पवर्तस्येत्यादि प्रतीत्या हि किञ्चित्प्रतियोगिक किञ्चिदनुयोगिक सम्बन्धत्वमनुभवसिद्धम, कुत्रचिदेव संयोगादि न तु सर्वत्र तच्च स्वरूपसम्बन्धविशेषोऽतिरिक्तोवेत्यन्यदेतत्। सिद्धान्तलक्षणे

७. शिवदत्त मिश्र; दण्डिसंयोगादित्यत्र दण्डिसंयोगपदं दण्डिप्रतियोगिकत्वविशिष्ट संयोगपरम्, तथा च संयोगस्य द्विनिष्ठतया दण्डिनि वर्तमानत्वेऽपि न तद्वेतुत्वव्याधातः स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टस्य स्वस्मिन्नसत्वात्। सिद्धान्तलक्षणव्याख्यायाम्

८. शिवदत्त मिश्र; केचितु यो यन्निरूपित्वविशिष्टसम्बन्धवान् स तत्सम्बन्धेन तद्वानिति व्याप्तिः। सम्बन्धवता च अनुयोगिता सम्बन्धेन। एवं च रूपसमवायी वायुरित्यप्रत्ययाद्रूपनिरूपितत्वविशिष्टसमवायानुयोगित्वं वायौ न स्वीक्रियते

स्वीक्रियतेच कुण्डनिरूपितत्वविशिष्टसंयोगनुयोगित्वं बदरे, कुण्डसंयोगी बदर इति प्रत्ययात् । नापि सम्बन्धादिपदोत्तर मत्वर्थीयस्य प्रतियोगित्वमर्थः घटसमवायीरूपत्रित्वप्रत्ययादित्याहुः । सिद्धातलक्षण टिप्पण्याम्

९. धूमसंयोगस्यायोगोलकानुयोगिकसंसर्गत्व विरहादेव नातिप्रसङ्गः, तत्र यथार्थविशिष्टधीनियामकस्यैव तदनुयोगिकसम्बन्धत्वात् । वही ।

१०. झळकीकर, भीमाचार्य; अभावत्वात्मिका यथा घटो नास्तीति प्रतीतिविषये अभावे घटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगिता । इयमपि स्वरूपसम्बन्ध विशेषः एवेति केचिन्नैयायिका वदन्ति । न्यायकोशे

११. गदाधर; अथ प्रतिज्ञादिभिन्नभेदानुयोगितावच्छेदकरूपवत्वं तत् । गादाधरी, अवयवलक्षणे

१२. शिवदत्त मिश्र; अनुयोगिता विशेषो हि ध्वंसत्वम्, अखण्डोपाधिरितियावत्, न तु जन्यत्वे सति अभावत्वम् । तथा च गोध्वंसवानिति बुद्धौ ध्वंसत्वेनैव ध्वंसस्य प्रकारतया अभावत्वेन ध्वंसस्याप्रकारत्वादित्याशयः । सिद्धान्तलक्षणस्य टीकायाम्

१३. Shrikrishna Sharma, E. R; In Nyana language the non-existence of a pot on the floor is घटप्रतियोगिक भूतलानुयोगिक अभाव Introdnction to Manikana.

१४. गंगेशोपाध्यायः तद्बुद्धिजनिताभावपदप्रयोग विषयत्वमेव घटभूतलयोः प्रतियोग्यनुयोगिरूपः सम्बन्धः । तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्डस्य अभाववादे

१५. नहि व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकः एकदेशभेदः प्रामाणिक घटपटो न घट इति प्रतीतेरसिद्धेः । गादाधरी, अवयवलक्षणे

१६. विशेष्यवृत्तेविशिष्टानुयोगिकाऽभावानम्युपगमात् । वही

१७. यत्तत्पदार्थाऽविवक्षायां प्रतियोगिवाचक पद समानविभक्तिक पदोपस्या-प्यास्याऽनुयोगिनोऽप्रवेशेन तत्र नञाऽन्योन्याभावबोधनासम्भवाच्च । वही

१८. न च समवायिकारणनाशस्य द्रव्यनाशकत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । द्व्यणुकनाशान्यथानुपपत्तेरेव मानत्वादिति । दिनकरी कारणत्व निरूपणे

१९. ध्वंसप्रागभावयोः प्रतियोगिसमवायिदेशमात्रवृत्तित्वात् । रामरूद्री, कारणत्वनिरूपणे

२०. धर्मिगता अधिकरणता, अनुयोगिता, विशेष्यता, पक्षादयः सापेक्षधर्माः न वेनापि सम्बन्धेनावच्छिन्नाः, केवलं धर्मेणेव तेऽवच्छिन्नाः । Mahesh Chandra Nyayacharya; Brief Notes on the Modern Nyada System of Philosophy and its Technical Terms.

२१. शिवदत्त मिश्र; तथा च संयोगसम्बन्धावच्छिन्न गोत्वावच्छिन्नप्रकारता, शालिबुद्धिं प्रति संयोगसम्बन्धावच्छिन्नगोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्तानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वमिति भावः । सिद्धान्तलक्षण व्याख्यायाम्

२२. शिवदत्त मिश्र; अभाववैलक्षण्यं हि प्रतियोगितावैलक्षण्यधीनम् । व्याप्तिपंचकस्य माथुरीव्याख्यायाम् ।

२३. दिनकर; भावभिन्नत्वस्याऽभावत्वे भावरूपविशेषणज्ञानशून्यकाले घटो नास्तीति प्रतीत्यनापत्तिः। एवमन्योन्याभावत्वस्याभावत्वगर्भस्याग्रे वक्तव्यतयाऽभावत्वस्यान्योन्याभावत्वगर्भत्वे अन्योन्याश्रयापत्तिः, एवमभावत्वस्य भावभिन्नत्वरूपत्वेऽभावो न भाव इति वाक्याच्छाब्दबोधनुपपत्तिश्च, उद्देश्यतावच्छेदक विधेयारेक्यादिति। तस्मादखण्डोपाधिरनुयोगिताविशेषोवाऽभावत्वामिति वदन्ति। न्यायसिद्धान्तुमुक्तावल्याः दिनकरी टीकायाँ, अभावनिरूपणप्रकरणे।

२४. शिवदत्त मिश्र; अनुयोगिताविशेषो हि ध्वंसत्वम्, अखण्डोपाधिरिति यावत्, न तु जन्यत्वे सति अभावत्वम्। तथा च गोध्वंसवान् इति बुद्धौ ध्वंसत्वेनेव ध्वंसस्य प्रकारतया अभावत्वेन ध्वंसस्याप्रकारित्वादिति भावः। जागदीशी सिद्धान्तलक्षणव्याख्यायाम्। पृ. ११४

२५. जगदीश; भेदत्वं तु संसर्गविधया तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमनुयोगिताविशेषोवेत्याशयः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

२६. रामरूद्र भट्ट; तथाच सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सति नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायलक्षणम्, अतः प्रतियोग्यनुयोग्यात्मकस्वरूपसम्बन्धे नातिव्याप्तिः। अत्र च द्रव्यत्वाभावादीनां लाघवात् द्रव्यत्वाभावादिरेक एव सम्बन्धः घटादीनां महाकाले कालिकसम्बन्धो लाघवादेक एव महाकाल इति स्वरूपसम्बन्धस्य क्वचित् प्रतियोगिरूपता क्वचिदनुयोगिरूपतेति विभागो बोध्यः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याः रामरूद्री टीकायाँ, समवायनिरूपणे

२७. शिवदत्त मिश्र; अनुयोगितासम्बन्धेन वा दण्डिसंयोगस्य हेतुता बोध्या। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणव्याख्यायाम्।

२८. जगदीश तर्कालङ्कार; यद्यनुयोगिता प्रत्याश्रयं नानैव नत्वेकेति मतम्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे।

२९. गदाधर भट्टाचार्य; किन्तु अभावांशेऽनुयोगिता विशेषसम्बन्धेन साध्यस्य भ्रमत्वमित्येतादृशविशेषमादृत्य शिष्यव्युत्पादनायानेकविध भ्रमकथनम्। गादाधरी, सामान्यनिरूक्तो प्रथमलक्षणे।

३०. गदाधर भट्टाचार्य; व्युत्पत्तिवादे

अध्याय ५

अवच्छेदकता

पिछले अध्याय में प्रतियोगिता और अनुयोगिता का विवेचन किया जा चुका है। प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता आदि पारिभाषिक पदार्थों में से अवच्छेदकता इस पारिभाषिक पदार्थ का नव्य-न्याय की परिभाषा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अवच्छेदकता के आधार पर ही अनुगम, परिष्कार, लक्षण आदि में उद्भूत होने वाले अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों का परिहार कर लक्षणों का स्वरूप निःसंदिग्ध रीति से निर्धारण करने का काम नव्यन्याय में प्रमुखतया किया जाता है। "अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव" नव्य-न्याय की परिष्कार प्रणाली का प्रमुख आधारस्तम्भ है। इस प्रकार की परिष्कार प्रणाली के अभाव मे नव्य-न्याय के नव्य-न्यायत्व का कोई अर्थ ही नहीं है। अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव की इस जटिल विधा को पदार्थों की हमारी संकल्पनाओं में सन्दिग्धता न रहे तथा उनके स्वरूप के स्पष्टीकरण में हम सामान्यतया जिन अनुगम, परिष्कार, परिभाषा, लक्षण आदि का प्रयोग करते हैं उनमें जो सदोषता पायी जाती है वह न रहे इसलिये अपनाया गया। आगे चल कर इस विधा को व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, वेदान्त आदि दार्शनिक साम्प्रदायिकों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में उनके अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों तथा संकल्पनाओं का सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करने के लिये अपनाया। इसका उल्लेख हमने हमारे पूर्व अध्याय में किया हुआ होने से उक्त बिन्दु का निर्देश मात्र यहाँ किया है। इस प्रकार की परिभाषा को उक्त दर्शनों के अनुयायियों के द्वारा अपनायी जाने के फलस्वरूप उन दर्शनों के मौलिक सिद्धान्तों एवं विशिष्ट संकल्पनाओं के स्पष्टीकरण में जो योगदान मिला वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, लेकिन विषयान्तर होने से उसके बारे में यहाँ विचार नहीं करेंगे।

अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव की संकल्पना के बिना व्यावृत्ति की संकल्पना की शुद्ध तथा निःसंदिग्ध व्याख्या सम्भव नहीं है और व्यावृत्ति की संकल्ना के बिना पदार्थ-लक्षण का सुस्पष्ट बोध सम्भव नहीं है। लेकिन पदार्थ-लक्षण के सुस्पष्ट बोध के अभाव में व्यवहार की यथार्थता सन्दिग्ध रहती है। इसलिये अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव की संकल्पना को स्वीकार करना नव्य-न्याय-की दृष्टि से अनिवार्य हो जाता है।

यह पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है कि प्रतियोगितात्व-रूप अखण्ड उपाधि के आधार पर प्रतियोगिता में एकता होने पर भी प्रतियोगिताओं में भेद होता है। भिन्न-भिन्न स्थलों में विशेष धर्म तथा विशेष सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रतियोगिता आदि को एक-दूसरे से पृथक् करते है। 'अवच्छिनत्ति व्यावर्तयति इस व्युत्पत्ति के आधार पर अवच्छेदक शब्द व्यावर्तक के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रतियोगि आदि में अनेक धर्मो के विद्यमान होने पर भी कोई विशेष धर्म ही प्रतियोगिता का भेदक होता है। इसलिये प्रतियोगी में प्रतीत होने वाला व्यावर्तक धर्म ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक कहलाता

है। उसमे रहने वाली अवच्छेदकता भी प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि के समान पारिभाषिक ही है।

नव्य-न्याय की अवच्छेदकता की सकल्पना के आधार पर किये गये लक्षणों के परिष्कार तथा अनुगम वस्तु की सकल्पनाओं की असन्दिग्धता का प्रतिपादन करते हैं। तार्किक विचार में प्रत्येक सकल्पना असन्दिग्धतया निश्चित अर्थ के स्वरूप का उद्घाटन करने वाली होनी चाहिये। सामान्य भाषा में प्रयुक्त अर्थ या संकल्पनाएँ अनेक बार सन्दिग्ध होती है; वे पूर्णतया निश्चित अर्थ की वास्तविकता का प्रदर्शन नहीं करती है। अतः दार्शनिक विवेचना में प्रयुक्त अर्थ-संकल्पनाएँ सन्देहरहित तथा पूर्ण निश्चयात्मकता का प्रतिपादन करने वाली होनी चाहिये। इसके लिये विशेष प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पडता है। इससे जटिलता तो बढ़ती है, परन्तु इस प्रकार की परिभाषा के बिना बोध की असन्दिग्धता का प्रतिपादन भी सम्भव नही है। कभी-कभी अवच्छेदक अवच्छिन्न का ऐसा जाल बन जाता है कि उसका ग्रहण करना बड़े-बड़े बुद्धिमानों के लिये भी सुकर नही होता। श्री. बच्चा झा जैसे नव्य-नैयायिकों के क्रीडपत्रो में कभी-कभी कई पृष्ठो तक बिना विराम के अवच्छेदक-अवच्छिन्न प्रयोग के साथ परिष्कार चलते रहते है। जिस प्रकार कम्प्युटर, गणित, आधुनिक पश्चिमी आकारिक तर्कशास्त्र की परिभाषा का सामान्य व्यक्ति को बोध न होते हुए भी उनमें प्रशिक्षित को तुरन्त या प्रयास के बाद उसके निःसन्दिग्ध अर्थ का बोध होता है उसी तरह नव्य-न्याय मे पूर्णतया प्रशिक्षित व्यक्तियों को नव्य-न्याय की परिभाषा समझने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है, यद्यपि उक्त परिभाषा सामान्य व्यक्तियों को समझने में कष्टप्रद होती है।

प्रतियोगिता केसमान अवच्छेदकता भी दो प्रकार की होती है - धार्मिक (याने धर्मनिष्ठ) तथा सांसर्गिक। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि अभाव की प्रतियोगिता किसी विशेष सम्बन्ध तथा किसी विशेष धर्म से नियमित होता है। प्रतियोगि में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला तथा दूसरों से उसको अलग करने वाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म कहलाता है, तथा उसमें रहनेवाली अवच्छेदकता धार्मिक अवच्छेदकता कहलाती है। तथा जिस सम्बन्ध से प्रतियोगि के किसी स्थान में न रहने पर उसका जो अभाव प्रतीत होता है वह सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। और उसमें रहने वाली अवच्छेदकता को सांसर्गिक अवच्छेदकता कहते हैं। जैसे, जब हमे प्रतीत होता कि 'भूमि पर समवाय सम्बन्ध से घट नही है' तो घट का भूमि पर समवाय सम्बन्ध से अभाव प्रतीत होता है। यहाँ घट के अभाव की घट मे होने वाली प्रतियोगिता (यस्य अभावः स तस्य प्रतियोगि इस नियम से) समवाय सम्बन्ध से तथा घटत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। नव्य-न्याय मानता है कि भूमि पर घट आदि वस्तुएँ संयोग सम्बन्ध से रहती है, समवाय सम्बन्ध से नही। समवाय सम्बन्ध गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, विशेष और नित्य द्रव्य, तथा व्यक्ति और जाति के बीच होता है।[1] दो पृथक् रूप से रहने वाले द्रव्यों का सम्बन्ध संयोग होता है। अतः भूमि

पर घट आदि का समवाय सम्बन्ध से अभाव प्रतीत होता है, इसलिये उक्त उदाहरण में घट के उपर प्रतीत होने वाले अभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से तथा घटत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। अवच्छिन्न का अर्थ है कि उक्त सम्बन्ध या धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित होना। जब घट में रहने वाली प्रतियोगिता घटत्व से अवच्छिन्न होती है तो उसका अर्थ होता है कि उक्त प्रतियोगिता घटत्व मे होने वाली अवच्छेदकता से निरूपित होती है। अवच्छेदक से अवच्छेद्य अवच्छिन्न होता है। इसलिये अवच्छिन्न का अर्थ अवच्छेद्य भी होता है। जब प्रतियोगिता उक्त घटत्व रूप अवच्छेदक से अवच्छेद्य होती है तो उसमें अवच्छेद्यता नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार घटत्व तथा घट में रहने वाली प्रतियोगिता के बीच ''अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव रूप'' सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसी प्रकार समवाय एवं घट में रहने वाली प्रतियोगिता के बीच भी ''अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव'' प्रतीत होता है।

सांसर्गिक अवच्छेदकता को संसर्गता भी कहा जाता है। अवच्छेदक धर्म तथा प्रतियोगिता के बीच जैसे अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है उसी प्रकार अवच्छेदकता और प्रतियोगिता के बीच निरूप्य-निरूपक-भाव (जिसका विशेष विवेचन यथास्थान किया जायगा) सम्बन्ध होता है। अवच्छेदकता और प्रतियोगिता के बीच परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, जैसे अवच्छेदकता से निरूप्य प्रतियोगिता होती है, वैसे ही प्रतियोगिता से निरूप्य अवच्छेदकता होती है। एवं जैसे प्रतियोगिता की निरूपक अवच्छेदकता होती है उसी प्रकार अवच्छेदकता की निरूपक प्रतियोगिता होती है। अतः परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाता है।

अवच्छिन्न शब्द का प्रयोग समग्र वस्तु का बोध कराने के लिये भी नैयायिक करते है।[२] अग्नि मात्र के बोध के लिये भी 'अग्नित्वावछिन्न' (याने अग्नि अग्नित्व से अवच्छिन्न है) शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'अग्नित्वावच्छिन्न' का अर्थ है अग्नित्व धर्म से युक्त पदार्थ-मात्र। 'अग्नित्वावच्छिन्न' कहने पर विजातीय की (अग्नि से भिन्न होने वाले सारे पदार्थों की) व्यावृत्ति हो कर सजातीय मात्र का बोध होता है।

इसे स्थूल रूप से यों समझा जा सकता है कि प्रतियोगी आदि बोधक विशेष्य पद के बाद प्रयुक्त 'त्व', 'ता' इत्यादि भाव-प्रत्यय से निष्पन्न पद से बोधित होने वाला धर्म प्रतियोगिता आदि का अवच्छेदक होता है। जैसे, ''मेज पर पुस्तक का अभाव है'' इस प्रत्यय से बोधित पुस्तकाभाव का जो प्रतियोगी पुस्तक है उस प्रतियोगी-वाचक पुस्तक शब्द के बाद प्रयुक्त 'त्व' प्रत्यय (पुस्तकत्व) से निष्पन्न धर्म पुस्तकत्व जाति पुस्तक में रहने वाली उसके अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक कहलाती है। उसी प्रकार ''निर्जन वन'' ऐसा कहने पर जन का अत्यन्ताभाव वन में प्रतीत होता है। उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक जनत्व ('जन' इस पद के बाद त्व लगाने से बोधित होने वाली जाति) जन के अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदक होती है।

प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता कभी किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है तो कभी निरवच्छिन्न होती है। निरवच्छिन्न का अर्थ है किसी धर्म

से नियमित न होना। प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म में भी जब कोई अन्य धर्म विशेषण के रूप में प्रतीत होता है तो उक्त प्रतियोगितावच्छेदक धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता उस अन्य धर्म से नियमित होती है। उदाहरण के लिये "वन में पशु का अभाव है।" इस प्रत्यय से बोधित पशु के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक पशुत्व है। 'पशुत्व' का अर्थ है 'लोमवत् लांगूलवत्व' अर्थात् बदन पर होने वाले बाल और पूंछ। लोम और लांगूल में रहने वाली अवच्छेदकता लोमत्व और लांगूलत्व से अवच्छिन्न होती है। उसी प्रकार प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म में जब कोई धर्म उसके विशेषण के रूप में प्रतीत नहीं होता है तो उस धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता 'निरवच्छिन्न' कहलाती है।

उदाहरणार्थ, 'मेज पर पुस्तक नहीं है' इस अभाव की प्रतीति में प्रतीत होने वाले 'पुस्तकाभाव' का प्रतियोगी पुस्तक है। पुस्तक में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म पुस्तकत्व है। जिस जाति का उल्लेख नहीं किया गया हो उसका स्वरूपतः अर्थात् बिना किसी धर्म के प्रत्यय होता है इस नियम के आधार पर पुस्तकत्व का प्रत्यय बिना किसी धर्म के होता है। अतः पुस्तकत्व में रहने वाली धार्मिक अवच्छेदकता निरवच्छिन्न है क्यों कि पुस्तकत्व में किसी विशेषण की प्रतीति नहीं होती है।

अवच्छेदकता पदार्थ को स्वीकार किये बिना प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव तथा कार्य-कारण भावादि सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ, अभाव-प्रत्यक्ष के लिये सर्वत्र प्रतियोगितावच्छेदककावच्छिन्न प्रतियोगी-ग्रह अपेक्षित होता है।[३] अर्थात् 'यहाँ गो नहीं है' इस अभाव के प्रत्यक्ष के लिये गोत्वावच्छिन्न गो का ज्ञान आवश्यक है। जिस व्यक्ति को गोत्वावच्छिन्न गो का ज्ञान नहीं उसे गो के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि अभाव-बुद्धि में प्रतियोगी के ज्ञान को ही कारण मानेंगे और प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिज्ञान कारण नहीं मानेंगे तो गो के निर्विकल्पक ज्ञान के बाद भी गो नहीं है यह प्रतीति होनी चाहिये। लेकिन उक्त निर्विकल्पक ज्ञान के बाद अभावबुद्धि अनुभवसिद्ध नहीं है। प्रतियोगितावच्छेदक से विशिष्ट प्रतियोगिज्ञान को अभावबुद्धि में कारण मानने से ही गो में शशशृंगाभाव की प्रतीति नहीं होती है, क्यों कि प्रतियोगितावच्छेदक शशीयत्व से युक्त शृंग अप्रसिद्ध है; केवल "शशशृंग नहीं है" यह प्रतीति अनुभवसिद्ध है। इस प्रतीति में शश में शृंगत्वविशिष्ट-शृंग का अभाव प्रतीत होता है।[४]

उसी प्रकार प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ (प्रतियोगी के) अभाव का सहानवस्थान-लक्षण विरोध होता है। अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदक से विशिष्ट प्रतियोगी जहाँ रहता है वहाँ उसका याने प्रतियोगी का अभाव नहीं रहता है। जब पुस्तकत्व से युक्त पुस्तक टेबुल पर रहती है तब उस समय टेबुल पर पुस्तक का अभाव नहीं रहता है। इसलिये सिद्धान्त यह हुआ कि प्रतियोगितावच्छेदक से विशिष्ट प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ अभाव का सहानवस्थान-रूप विरोध होता है। यदि अवच्छेदकता को स्वीकार न करके प्रतियोगि के साथ ही अभाव का विरोध मानेंगे तो सत्ता और

गुणकर्म मे न रहने वाली सत्ता (याने द्रव्य की सत्ता) में परस्पर भेद न होने से सत्ता के अधिकरण गुणकर्म में विशिष्ट सत्ता (गुणकर्म में न रहने वाली या द्रव्य में रहने वाली) नहीं है यह प्रतीति नहीं होगी। क्योंकि उक्त उदाहरण में प्रतियोगी (सत्ता) के साथ विशिष्टसत्ताभाव का विरोध है। परन्तु गुण में गुणकर्म में न रहने वाली सत्ता नहीं है यह प्रत्यय सर्वानुभव से सिद्ध है। अतः प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ अभाव का विरोध मानना चाहिये। विशिष्ट-सत्ता और शुद्ध सत्ता एक होने पर भी (याने शुद्ध सत्ता में विशिष्ट-सत्ता अन्तर्भूत होने पर भी) विशिष्टसत्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट-सत्तात्व होने से उससे अवच्छिन्न विशिष्ट-रूप प्रतियोगी की अधिकरणता गुण में नहीं है। उसकी अधिकरणता द्रव्य में होने से वहाँ विशिष्टसत्ताभाव की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।

उसी प्रकार व्याप्ति आदिके अनेक लक्षणों में 'अवच्छेदकता' का उपयोग न करने पर वे लक्षण अतिव्याप्ति आदि दोषों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ, गंगेश ने पूर्वपक्ष व्याप्ति का चुतर्थ लक्षण "सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभाव प्रतियोगित्व" के रूप में प्रस्तुत किया है।[५] उसका अर्थ है कि जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव हो वहाँ-वहाँ रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता जिसमें हो वहाँ उस साध्य की व्याप्ति रहती है। जैसे, यह पर्वत अग्निमान् है क्योंकि यहाँ धूम है इस अनुमान में प्रयुक्त धूम हेतु में साध्य अग्नि को उक्त व्याप्ति है। जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव रहता है- जैसे जल आदि में- वहाँ-वहाँ हेतु धूम का अभाव रहता है। अतः धूम के अभाव की प्रतियोगिता धूम में होने से उक्त प्रतियोगित्व-रूप व्याप्ति का लक्षण उसमें घटित होता है। परन्तु इस पर से व्याप्ति का उक्त लक्षण निर्दोष नहीं साबित होता। उदाहणार्थ, व्याप्ति का उक्त लक्षण अगर 'इदं द्रव्यं, सत्त्वात्' इस उदाहरण में घटित करना चाहा तो यह प्रतीत होगा कि उक्त अनुमान असद् हेतु से किया जाने के बावजूद उसमें भी घटित होता है। उक्त अनुमान का अर्थ है 'यह द्रव्य है क्योंकि इसमें सत्ता जाति रहती है'। यहाँ जैसे आगे दिखाया जायगा वैसे सत्ता यह हेतु असद् हेतु होते हुए भी उसमें व्याप्ति का उक्त लक्षण घटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होता है और परिणामतः व्याप्ति का उक्त लक्षण सदोष है ऐसा स्वीकार करना पड़ता है। जैसे, यहाँ साध्य द्रव्यत्व है तथा हेतु सत्ता जाति है। जहाँ-जहाँ साध्य द्रव्यत्व का अभाव है- जैसे गुण आदि में- वहाँ विशिष्टसत्ता का याने गुणकर्म में न रहने वाली सत्ता जाति का अभाव अवश्य रहता है। क्योंकि गुणकर्म में न रहने वाली सत्ता जाति सिर्फ द्रव्य में ही रहती है। अतः गुणकर्म में उसका अभाव रहता है। परन्तु विशिष्ट और शुद्ध पदार्थ में तात्त्विक एकता (याने शुद्ध पदार्थ में विशिष्ट पदार्थ अन्तर्भूत होने की वजह से प्रतीत होने वाली एकता) होने से विशिष्ट सत्ता और शुद्ध सत्ता दोनों एक ही हैं। अतः विशिष्ट सत्ता के अभाव की प्रतियोगिता सत्ता-रूप हेतु में होने से व्याप्ति का उक्त लक्षण उसमें घटित होने के कारण अतिव्याप्ति दोष होता है। द्रव्यत्व और सत्ता जाति में व्याप्ति न होने से वह हेतु व्याप्ति के लक्षण का अलक्ष्य है। अतः अलक्ष्य में लक्षण घटित होने से अतिव्याप्ति होती है। इस

अतिव्याप्ति का परिहार गंगेश के उपर्युक्त लक्षण में अवच्छेदकता का समावेश करने से होता है। अतः मथुरानाथ ने उक्त लक्षण को परिष्कृत किया है।[६] उनके अनुसार जहाँ-जहाँ साध्याभाव रहता है वहाँ-वहाँ रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक हेतुता का भी अवच्छेदक होता हो तो उक्त अवच्छेदक धर्म से (हेतु का) युक्त होना व्याप्ति है। यद्यपि उक्त अनुमान में जहाँ-जहाँ साध्य द्रव्यत्व का अभाव है वहाँ-वहाँ उक्त विशिष्ट सत्ता का अभाव है, परन्तु उस अभाव की जो प्रतियोगिता विशिष्ट सत्ता में है उसका अवच्छेदक धर्म विशिष्टसत्तात्व है, शुद्ध सत्तात्व नहीं; जबकि हेतु सत्ता होने से हेतुता का अवच्छेदक सत्तात्व ही है। अतः प्रतियोगितावच्छेदक और हेतुतावच्छेदक दोनों परस्पर भिन्न होने से जो धर्म प्रतियोगितावच्छेदक है वह हेतुतावच्छेदक नहीं है। अतः उक्त लक्षण के अनुसार दोनों की अभिन्नता न होने से सत्तात्व धर्म को लेकर सत्ताजाति-रूप हेतु में उक्त परिष्कृत व्याप्ति का लक्षण घटित न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है।

अवच्छेदकता की कल्पना किये बिना प्रतियोगी में रहने वाली आधेयता से प्रदर्शित अधिकरणता के साथ अभाव का विरोध मानने पर पूर्वोक्त दोष का निराकरण नहीं होता है। विशिष्ट सत्ताभाव की प्रतियोगी की सत्ता में रहने वाली आधयेता से प्रदेर्शित अधिकरणता गुण में होने से उसमें विशिष्टसत्ताभाव का प्रत्यय नहीं होना चाहिए। अतः वहाँ भी अवच्छेदकता का उपयोग करके स्वप्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न आधेयता से प्रदर्शित होने वाली अधिकरणता के साथ अभाव का विरोध मानना चाहिये। विशिष्टसत्ता के अभाव को प्रतियोगिता के अवच्छेदक विशिष्टसत्तात्व-रूप धर्म से नियमित आधेयता से प्रदर्शित अधिकरणता द्रव्य में होने से वहाँ विशिष्टसत्ता के अभाव की प्रतीति नहीं होती है। (याने विशिष्टसत्ता का अभाव द्रव्य में नहीं रहता है।)

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि विशिष्टसत्ता के अभाव की प्रयोगिता की अवच्छेदकता वैशिष्ट्य और सत्तात्व इन दो धर्मों में है तो वह सत्तात्व में है ही। अतः सत्तात्व रूप धर्म से अवच्छिन्न आधेयता से प्रदर्शित अधिकरणता गुण में है। वहाँ विशिष्टसत्ताभाव नहीं रहना चाहिये। इसके विषय में नव्य-नैयायिकों का कथन है कि अवच्छेदकता की पर्याप्ति का अनुसरण करने पर उक्त दोष उत्पन्न नहीं होता है। अवच्छेदकता की पर्याप्ति का विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा।

एक अभाव के अनेक प्रतियोगी होते है। अतः प्रतियोगिता और उसके अवच्छेदव धर्म अनेक होते हैं। अतः अवच्छेदकताएँ भी अनेक होती हैं। घटाभावाभाव घटाभाव-प्रतियोगि घट-स्वरूप होता है। तृतीयाभाव अर्थात् घटाभावाभाव भावप्रथमाभाव अर्थात् घटाभाव-स्वरूप होता है। अतः उसका प्रतियोगि जैसे घट होता है वैसे ही घटा-भावाभाव भी होता है। उसमें जो प्रतियोगिता है उसका अवच्छेदक धर्म घटाभावाभावत्व होता है। उसमें रहने वाली अवच्छेदकता और घटत्व में रहने वाली अवच्छेदकता परस्पर भिन्न होती है।

इस प्रकार बाध-निश्चय में[७] प्रतिबन्धकता की उपपत्ति के लिये प्रतियोगिता को

धार्मिक अवच्छेदकता से निरूपित मानना आवश्यक है। 'मेज पर पुस्तक है' इस बुद्धि में 'मेज पर पुस्तक नहीं है' यह बुद्धि केवल प्रतिबन्धक नहीं है। 'मेज पर पुस्तक नही है' यह प्रतीति किसी एक विशिष्ट पुस्तक के अभाव को भी व्यक्त कर सकती है। अतः वह उक्त निश्चय की विरोधी नहीं होती है। उसी प्रकार सभी पुस्तके नहीं है यह बुद्धि भी उसकी विरोधी नहीं होती है। अतः पुस्तकत्व धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित पुस्तक में रहने वाली प्रतियोगिता के अभाव को व्यक्त करने वाली बुद्धि ही प्रतिबन्धक होती है। इस प्रकार अवच्छेदकता को स्वीकार किये बिना बाध-निश्चय की प्रतिबन्धकता की व्याख्या सम्भव नहीं है।

कुछ नैयायिकों का कथन है ' कि तद्वत्ताबुद्धि में बाध-निश्चय का अभाव कारण होता है। जैसे 'जल अग्निवान् है' इस ज्ञान के लिये 'जल अग्निमान् नहीं है' यह बाध-निश्चय प्रतिबन्धक होता है। अर्थात्, 'जल अग्निमान् नहीं है' यह ज्ञान रहने पर 'जल अग्निमान् है' यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उक्त ज्ञान होने में 'जल अग्निमान् नहीं है' यह बाध की प्रतीति प्रतिबन्ध करती है। अतः प्रतिबन्धक का अभाव अर्थात् बाध-निश्चय का अभाव तद्वान् इस प्रतीति में कारण होता है। प्रतिबन्धक का अभाव कार्य मात्र के होने में कारण माना जाता है। बाध-निश्चय के अभाव को कारण मानने के अनुरोध से भी धार्मिक अवच्छेदकता को स्वीकार करना आवश्यक है। बाधनिश्चयभाव को बाध-निश्चय में रहने वाली अवच्छेदकता से प्रदर्शित प्रतियोगितावाले अभाव के रूप में ही कारण मानना पड़ेगा। अन्यथा किसी एकबाध-निश्चय का अभाव होने पर भी तद्वता-ज्ञान उत्पन्न नहीं होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'जल में अग्नि नहीं है' यह ज्ञान रहने पर भी 'जल में जलत्व नहीं है' इस बाध-निश्चय के न रहने पर उक्त बाध-निश्चय का अभाव होने से 'जलं अग्निमान्' यह प्रत्यय उत्पन्न होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता उसका कारण यह है कि बाध-निश्चयत्व में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित प्रतियोगिता वाला अभाव-रूप कारण वहाँ नहीं है। क्योंकि वहाँ पर 'जल अग्निमान् नहीं है' यह बाध-निश्चय विद्यमान है।

धार्मिक अवच्छेदकता स्वीकार करने में एक युक्ति यह भी है कि 'अग्निमान्' इस प्रतीति में अग्न्यभाववान् यह प्रतीति प्रतिबन्धक होती है। वैसे ही महानसीयत्व को विशेषण न मान कर उसे उपलक्षण के रूप में स्वीकार कर होने वाली महानसीय अग्निमान् यह बुद्धि भी प्रतिबन्धक होती है। महासीयत्व यह विशेषण मान कर होने वाली 'महानसीय अग्निमान् नहीं है' यह बुद्धि विरोधी नहीं होती है। परन्तु महानसीयत्व से उपलक्षित अग्नि के अभाव की प्रतीति में केवल वनिहत्व में अवच्छेदकता न होने से उसे 'अग्निमान' इस ज्ञान के होने में प्रतिबन्धक नहीं होना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति में प्रतिबन्धक होती है। यदि यह मानें कि वहाँ महानसीयत्व और अग्नित्व इन दोनों में अवच्छेदकता है और इसलिये अग्नित्व में भी है, और अग्नित्व में अवच्छेदकता होने से उक्त महानसीयत्व से उपलक्षित अग्नि के अभाव का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है। परन्तु ऐसा मानने पर 'अग्निमान्' इस बुद्धि में महानसीय अग्नि के अभाववत्ता का ज्ञान भी प्रतिबन्धक होने

लगेगा। तथापि वस्तुस्थिति में वह ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है। अतः 'अग्निमान्' इस ज्ञान के न होने में केवल अग्नित्व में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित प्रतियागिता वाले अभाव के ज्ञान को ही प्रतिबन्धक मानना चाहिये। महानसीयत्व को उपलक्षण मानने पर महानसीयत्व के अवच्छेदकन होने से उक्त ज्ञान केवल अग्नित्व में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित प्रतियागिता वाला होने से अग्निमत्ताबुद्धि में प्रतिबन्धक होता है।[९]

अवच्छेदकता के भेद के आधार पर ही ज्ञान में भेद किया जाता है। यदि अवच्छेदकता को पारिभाषिक पदार्थ के रूप में स्वीकार न करें तो श्वेत गो के अभाव का ज्ञान और गो के अभाव का ज्ञान इनमें कोई भेद नहीं होगा। क्योंकि प्रतियोगी गो और श्वेत गो में कोई भेद नहीं किया जायगा। जिस प्रकार नील घट घट से भिन्न नहीं होता है वैसे ही श्वेत गौ गौ से भिन्न नहीं है। अतः प्रतियोगी में भेद न होने से उक्त अभावों के प्रत्ययों में कभी कोई भेद नहीं होना चाहिये। परन्तु 'श्वेत गौ नही है' 'गौ नहीं है' इन दोनों प्रतीतियों में भेद स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अतः उक्त प्रतीतियों का भेदक कोई तत्त्व होना चाहिये। उसे ही नव्य-नैयायिकों ने अवच्छेदकता के रूप में प्रस्तुत किया है। अवच्छेदकता ही दोनों प्रतीतियों के भेद की स्पष्ट करने में हमारी सहायता करती है। 'गौ नहीं है' इस प्रकार प्रतीत होने वाले गौ के अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता केवल गोत्व-रूप धर्म में रहती है, जबकि 'श्वेत गौ नहीं है' इस प्रत्यय में प्रतीत होने वाली अवच्छेदकता श्वेतत्व तथा गोत्व इन दोनों में है। अतः उक्त अवच्छेदकता की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण ही उक्त दोनों प्रत्यय भी भिन्न हैं।[१०]

इस प्रकार यदि धार्मिक अवच्छेदकता स्वीकार न की जाय तो अभाव, विशिष्ट-बुद्धि, प्रतिबद्ध प्रतिबन्धक-भाव आदि किसी की भी ठीक व्याख्या सम्भव नहीं है। धार्मिक अवच्छेदकता के समान ही सांसर्गिक अवच्छेदकता को स्वीकार करना आवश्यक है। सांसर्गिक अवच्छेदकता की आवश्यकता तथा उक्त प्रकार की अवच्छेदकता की परिभाषा तथा अनेक प्रकार की अनुयोगिता, कारणता आदि के साथ होने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव और तज्जनित वैशिष्ट्य और उसके सम्बन्ध में विभिन्न तार्किकों के मत-मतान्तरों का विवेचन यथास्थान किया जायगा।

पूर्व में यह बताया गया था कि अवच्छेदकता दो प्रकार की होती है- वस्तु के गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता तथा वस्तु के उसके आश्रय के साथ होनेवाले सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता। इसी अवच्छेदकता को नव्यनैयायिक सांसर्गिक अवच्छेदकता कहते हैं। वस्तु के गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता नियम से किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। जैसे, पुस्तक के अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता पुस्तकत्व में रहती है। चूँकि पुस्तकत्व धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता समवाय सम्बन्ध से नियमित (अवच्छिन्न) कहलाती है। उसी प्रकार 'यहाँ दण्डि (संन्यासी) का अभाव है' इस प्रत्यय में दण्डी अर्थात् दण्डधारी मे उक्त अभाव की प्रतियोगिता आती हैं; प्रतियोगिता की अवच्छेदक दण्ड वस्तु होती है; दण्ड दण्डी के

हाथ में संयोग सम्बन्ध से रहता है। अतः दण्ड में रहनी वाली ववच्छेदकता संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है। इस प्रकार गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। जिस प्रकार किसी वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से रहने वाले प्रतियोगि में ही रहती है उसी प्रकार किसी गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता भी उस सम्बन्ध से रहने वाले अवच्छेदक में ही रहती है। परन्तु सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता नामक अवच्छेदकता सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है या नहीं इसके बारे में नव्यनैयायिकों में मतभेद है। कुछ नैयायिक सम्बन्ध के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं स्वीकार करते। उनके मत में संयोग आदि सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता किसी दूसरे सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती है। उदाहरणार्थ, 'दण्डी (संन्यासी) नहीं है' इस अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता संयोग सम्बन्ध में है; संसर्ग से नियमित मानने पर समवाय नामक सम्बन्ध से नियमित माननी पडेगी। संयोग पदार्थ अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः उक्त अवच्छेदकता समवाथ सम्बन्ध से नियमित होगी। इसके विरूद्ध दूसरे कुछ नैयायिक सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता यानी संसर्गता को सम्बन्ध से नियमित नहीं मानते। उसका कहना है कि किसी भी वस्तु के अभाव के प्रत्यय में प्रतियोगि का सम्बन्ध ही ज्ञात होता है, सम्बन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। अगर सम्बन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान भी होता है ऐसा स्वीकार किया तो अनन्त सम्बधों के प्रत्यय को स्वीकार करना होगा। लेकिन इससे अनवस्था दोष पैदा होगा। अतः केवल प्रतियोगि का ही सम्बन्ध उक्त प्रतीति में भासित होने से सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता किसी दूसरे सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती है।[१२] क्योंकि विशिष्ट-बुद्धि-नियामक को ही तदनुयागिक सम्बन्ध कहा जाता है।

संसर्गता-रूप अवच्छेदकता के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि संसर्गता के अवच्छेदक धर्म में एक विशेषणता नामक विषयता रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि संसर्ग की प्रतीति भी केवल संसर्ग की प्रतीति नहीं होती है, अपितु किसी धर्म से युक्त सम्बन्ध का ही प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ, जब पुस्तक का मेज के साथ संयोग प्रतीत होता है ता उस में संयोगत्व भी विशेषण के रूप में प्रतीत होता है। संयोगत्व में प्रकारता नामक विषयता मानने वाले उक्त संयोगत्व में रहने वाली संसर्गता की अवच्छेदकता की किसी सम्बन्ध से नियमित नहीं मानते। जब मेज पर संयोग सम्बन्ध से पुस्तक का अभाव प्रतीत होता है तब वहाँ संयोग पुस्तक में रहने वाली प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है।[१३] उसमें रहने वाली संसर्गता नामक अवच्छेदकता संयोगत्व रूप धर्म से नियमित तो होती है, परन्तु किसी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती। क्योंकि सम्बन्ध का प्रत्यय उक्त प्रतीति से नहीं होता है। लेकिन जो नैयायिक सम्बन्ध के सम्बन्ध को भी उक्त प्रत्यय का विषय मानते है उनके मत में संयागे में रहने वाली संसर्गता भी समवाय सम्बन्ध से नियमित होती है, कारण संयोग गुण होने से उसका संयोगी मेज के साथ समवाय सम्बन्ध है। गुणों का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध होता है।[१४] परन्तु संयोगत्व में रहने वाली संसर्गता की अवच्छेदकता

न तो किसी धर्म से नियमित होती है और न किसी सम्बन्ध से।

अब यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते है कि किसी भी अभाव की प्रतियोगिता किसी सम्बन्ध से नियमित क्यों होती है ? और दूसरा, प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से अपने आश्रय मे रहता है वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक क्यो होता है ? यद्यपि पहले प्रश्न की चर्चा अन्य सन्दर्भों में पूर्व अध्याय भी की जा चुकी है, तथापि सांसर्गिक अवच्छेदकता के सन्दर्भ में पुनश्च एक बार उसकी चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सामान्य रूप से जब किसी वस्तु की प्रतीति हमें किसी स्थान में होती है तो उसे नैयायिक विशिष्टबुद्धि कहते हैं। किसी गुणधर्म या वस्तु से युक्त किसी वस्तु का ज्ञान विशिष्टबुद्धि है। ऐसी विशिष्टबुद्धि वस्तु या गुणधर्म के किसी वस्तु या स्थान के साथ एक विशेष के सम्बन्ध के कारण ही होती है। कोई भी सम्बन्ध प्रतीत न होने पर युक्तता-बुद्धि (विशिष्टबुद्धि) सम्भव ही नहीं है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी विशिष्टबुद्धि में सर्वदा तीन वस्तुओं का प्रत्यय होता है- विशेषण अर्थात् गुणधर्म आदि (प्रकारता), गुणयुक्त वस्तु, स्थान आदि विशिष्ट (विशेष्यता) तथा संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध (संसर्गता)।[१५] (नैयायिकों के मतानुसार हरेक विशिष्टबुद्धि में प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता प्रतीत होनी ही चाहिये) उदारहणार्थ, जब हम देखते है कि मेज पर पुस्तक है तो हमे पुस्तक, मेज तथा उन दोनों के बीच होने वाला संयोग प्रतीत होता है। सम्बन्ध के प्रतीत न होने पर 'अमुक वस्तु अमुक स्थान पर है' इस प्रकार का प्रत्यय कभी भी सम्भव नही है। इसलिये 'घुड़सवार' कहने पर जो ज्ञान होता है वह घोडा और सवार कहने पर नहीं होता है। घुड़सवार कहने पर घोडा और सवार के अलावा हमें घोडा और सवार का सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। इसलिये 'घुडसवार' यह विशिष्टबुद्धि है जबकि घोडा और सवार यह विशिष्टबुद्धि नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि जब हमें किसी वस्तु का सम्बन्ध (अन्य) किसी वस्तु या स्थान से प्रतीत नहीं होता है तब उस वस्तु का उस सम्बन्ध से अभाव प्रतीत होता है। जब हम देखते हैं कि पुस्तक मेज पर नहीं है तो मेज पर हमे पुस्तक के संयोग का न होना प्रतीत होता है और उसके फलस्वरूप हमें संयोग सम्बन्ध से पुस्तक का अभाव प्रतीत होता है। मेज पर सभी सम्बन्धों से पुस्तक का अभाव प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः किसी भी वस्तु का सभी सम्बन्धों से कही पर भी अभाव प्रतीत नही होता है। जब हमें मेज पर पुस्तक का अभाव प्रतीत होता है, उस समय भी पुस्तक किसी अन्य सम्बन्ध से मेज पर होती है। वस्तुओं के बीच में कई प्रकार के सम्बन्ध हमें व्यवहार में भी महसूस होते है। उदाहरण के लिये, एक हो व्यक्ति विश्वविद्यालय से अनेक सम्बन्धों से सम्बन्धित हो सकती है। वह प्राध्यापक, सीनेट का सभासद, परीक्षा-बोर्ड का सदस्य आदि अन्यान्य रूपों में विश्वविद्यालय से सम्बन्धित हो सकता है। प्राध्यापक रूप से निवृत्त होने पर उसका विश्वविद्यालय में जो अभाव प्रतीत होता है वह प्राध्यापकत्व सम्बन्ध से प्रतीत होने वाला उसका अभाव है, न कि सीनेट के सदस्यता सम्बन्ध से। इन्ही सम्बन्धों के समान ही जो सम्बन्ध हमें प्रतीत होते है परन्तु उनका नामतः हम सामान्यतः निर्देश नहीं करते परन्तु जिनका हमें होने वाली

प्रतीति केविश्लेषण में महत्त्व है ऐसे सम्बन्धों का संयोग, समवाय, कालिक, दैशिक आदि विभिन्न नामों के आधार पर निर्देश कर उन्हें प्रसिद्ध करने का प्रयास नैयायिकों ने किया है। एक द्रव्य जैसे संयोग सम्बन्ध से दूसरे द्रव्य से सम्बन्धित होता है वैसे ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से कालिक नामक सम्बन्ध से भी सम्बन्धित होता है। एक ही काल में अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ परस्पर कालिक सम्बन्ध से सम्बन्धित होते है। कालिक सम्बन्ध से सम्बन्धित पदार्थ अनित्य ही होते हैं। अतः जब हम देखते हैं कि मेज से पुस्तक संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि पुस्तक मेज पर उस अवस्था में भी कालिक सम्बन्ध से रहती है (याने पुस्तक मेज के साथ संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित न होते हुए भी कालिक सम्बन्ध से सम्बन्धित रह सकती है।) अतः 'मेज पर पुस्तक नहीं है' इसका अर्थ यह नहीं होता कि पुस्तक मेज पर किसी भी सम्बन्ध से नहीं है, या पुस्तक मेज पर सभी सम्बन्धों से नहीं है। इस प्रकार पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता जो पुस्तक में आती है उसका कारण यह होता है कि पुस्तक का मेज के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उक्त प्रतियायोगिता को संयोग प्रभावित करता है। अतः संयोग सम्बन्ध उक्त प्रतियोगिता का नियामक माना जाता है। जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ प्रतीत नहीं होती है वही सम्बन्ध वहाँ उस प्रतियोगिता को नियमित करता है। इसलिये वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है, तथा प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न (नियमित) होती है।[१६]

इसका तात्पर्य यह है कि एक सम्बन्ध से वस्तु का अभाव मालूम पडने पर भी दूसरे सम्बन्ध से उस वस्तु का उस स्थान पर बोध होने में कोई बाधा न होने से, सम्बन्ध-विशेष के आधार पर ही उस वस्तुके अत्यन्ताभाव के ज्ञान को उस वस्तु के विशिष्ट-ज्ञान में प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है।[१७] अन्यथा किसी भी अवस्था में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक के सिद्धान्त की स्थापना नहीं ही सकेगी। संयोग सम्बन्ध से पुस्तक मेज पर नहीं है यह ज्ञान ही प्रतिबन्धक होगा, केवल मेज पर पुस्तक नहीं है या मेज पर समवाय सम्बन्ध से पुस्तक नहीं है यह ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होगा।[१८] अतः सम्बन्ध में प्रतियोगिता की अवच्छेदकता मानना अनिवार्य होगा। इस प्रकार किसी भी अभाव की प्रतियागिता किसी एक धर्म और किसी एक सम्बन्ध से नियमित होती है, सभी धर्मो तथा सभी सम्बन्धों से नहीं। वह जिस सम्बन्ध से नियमित होती हैं उसी में सांसर्गिक अवच्छेदकत स्वीकार की जाती है।[१९]

ऊपर दूसरा प्रश्न यह उठाया गया था कि प्रतियोगी में रहने वाली प्रतियोगिता प्रतियोगी अपने आश्रय में (पर) जिस सम्बन्ध से रहता है उसी सम्बन्ध से ही क्यों नियमित होती है, वह अन्य किसी सम्बन्ध से क्यों नहीं नियमित होती ? इसका उत्तर यह है कि प्रतियोगी के रहने पर प्रतियोगी जिस सम्बन्ध से प्रतीत होता है वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। क्योंकि जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ गृहीत होती है उसके न रहने पर उस सम्बन्ध से ही उसका अभाव प्रतीत होता है। जैसे, वृक्ष पर कोयल के रहने पर वृक्ष पर कोयल का अस्तित्व संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होता है

उसका कारण भी वृक्ष से उसके संयोग का न होना होता है। अतः उसका वृक्ष पर प्रतीत होने वाला अभाव संयोगाभावमूलक होने से उसके अभाव की प्रतियोगिता संयोग से ही अवछिन्न होती है समवाय आदि से नहीं, क्योंकि कोयल वृक्ष पर समवाय सम्बन्ध से उक्त प्रतीति का विषय न होने से याने वृक्ष पर समवाय सम्बन्ध से कोयल की प्रतीति न होने से उसकी विरोधी अभाव-बुद्धि में भी समवाय सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता प्रतीत नहीं होती है।

इस पर कुछ लोगों का यह कहना है कि सम्बन्ध में प्रतियागितावच्छेदकता होने के लिये प्रतियोगि के उस सम्बन्ध से अपने आश्रय में रहना आवश्यक नहीं है। प्रतियोगि के उस सम्बन्ध से अस्तित्व का ज्ञान होने पर उस सम्बन्ध से उसके अभाव का ज्ञान नहीं होता है। बाध-बुद्धि में रहने वाली प्रतिबन्धकता सम्बन्ध-विशेष से नियन्त्रित होने के कारण ही प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध को स्वीकार करना पडता है। अन्यथा एक सम्बन्ध से अभाव का ज्ञान, संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों से होने वाले वस्तु के ज्ञान का विरोधी हो जाएगा। इसलिये व्यधिकरण-सम्बन्ध अर्थात् प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से नहीं रहता है वह सम्बन्ध भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि दीधितिकार ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को सभी सम्बन्धों से अवछिन्न माना है।[२०] इसका तात्पर्य यह है कि बाध-बुद्धि के द्वारा विरोध किये जाने के लिये वस्तु का वास्तविक रूप से वहाँ होना आवश्यक नहीं है।भ्रमात्मक तद्वत्ता-बुद्धि का भी तद्भाववत्तारूप बाधबुद्धि के द्वारा विरोध होता है। यही कारण है कि 'भूतल संयोग सम्बन्ध से अश्वत्वेन गौ का आश्रय है' इस बुद्धि का विरोध भूतल संयोगेन अश्वत्वेन गौ-युक्त नहीं है यह बुद्धि करती है। इसके विरूद्ध अन्य पक्षवालों का कहना है कि प्रतीति होती है, इसलिये प्रतीति के आधार पर जिस सम्बन्ध से प्रतियोगि (वृत्ति) होता है उसी सम्बन्ध की प्रतियोगितावच्छेदक मानना चाहिये। संयोग सम्बन्ध से गौ नहीं है इस अनुभव के आधार पर संयोग में संसर्गता-रूप अवच्छेदकता माननी चाहिये। चूँकि गौ अपने आश्रय में संयोग सम्बन्ध से रहती है इसलिये संयोग सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जाता, क्यों कि वृत्यनियामक सम्बन्ध से प्रतियोगी कहीं नहीं रहता है। अतः वास्तविक विरोध न होने से उक्त सम्बन्ध से प्रतियोगिता को नियमित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विभिन्न वस्तुओं में जो विशेषण-विशेष्य-भाव मालूम पडता है उसका कारण सम्बन्ध ही होता है। जब हम 'दण्डी स्वामी' कहते हैं ता दण्ड का और स्वामी का संयोग सम्बन्ध दण्ड और स्वामी में प्रतीत होने वाले विशेषण-विशेष्य-भाव का द्योतक होता है। वैसे सम्बन्ध दो प्रकार का होता है- साक्षात् तथा परम्परा। कोई वस्तु किसी (अन्य वस्तु) से साक्षात् सम्बन्धित होती है, तो किसी अन्य सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धित होती है। व्यवहार में दोनों प्रकार के सम्बन्धों का उपयोग देखा जाता है। नैयायिकों ने साक्षात् सम्बन्धों को संयोग, समवाय, स्वरूप आदि नामों से व्यवहृत किया है। रक्त कमल में रक्त वर्ण और कमल का सम्बन्ध समवाय नाम से जाना जाता है, जबकि दण्ड

और दण्डी का सम्बन्ध संयोग कहलाता है। इसी प्रकार 'घर में देवदत्त नहीं है' यहाँ घर के साथ देवदत्त के अभाव के सम्बन्ध की संज्ञा स्वरूप है।

साक्षात् सम्बन्धों में ही कुछ सम्बन्ध वृत्तिनियामक तथा कुछ अन्य वृत्यनियामक कहलाते हैं। जब विशेषण और विशेष्य के बीच सम्बन्ध प्रतीत होने पर एक में दूसरे की वृत्तिता, आधाराधेयभाव या आश्रय-आश्रयीभाव प्रतीत होता है वह सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहलाता है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध आधेयता को निरूपित करता है। जब एक वस्तु स्पष्ट रूप से किसी अन्य वस्तु पर आश्रित है ऐसा प्रतीत नहीं होता है तभी उक्त सम्बन्ध का प्रत्यय आश्रय के रूप में वस्तु के प्रतीत न होने पर केवल सम्बन्धी-रूप जब प्रतीत होता है तब उनका सम्बन्ध वृत्तिता या आधेयता को व्यक्त नहीं करता। आम तौर-पर संयोग, समवाय, स्वरूप सम्बन्ध वृत्तिनियामक माने जाते हैं। तथापि कभी कभी ये सम्बन्ध भी वृत्तिनियामक नहीं होते। जैसे दो जानवरों का एक के द्वारा दूसरे पर आघात करने पर या दो मल्लों का युद्ध होने पर उनमें जो संयोग होता है वह वृत्तिनियामक नहीं होता, क्योंकि उनमें से कोई किसी का आधार नहीं होता। जो सम्बन्ध वृत्तिनियामक नहीं होते उन्हें वृत्यनियामक कहा जाता है। वृत्यनियामक सम्बन्ध से कोई भी पदार्थ सम्बन्धी मात्र होता है, वृत्ति नहीं। उक्त सम्बन्ध के रहने पर दोनों सम्बन्धी पदार्थ मात्र सम्बन्धी के रूप में ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध स्वत्व, स्वामित्व, तादात्म्य (अभेद) आदि साक्षात् सम्बन्ध तथा स्वाश्रयाश्रयत्व आदि परम्परा-सम्बन्ध हैं। जैसे, गोत्व का गौ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, परन्तु गौ-शाला के साथ स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा सम्बन्ध है। स्व (गोत्व), (उसका) स्वाश्रय गो, और उसकी (गौ की) आश्रय गो-शाला। इस प्रकार उक्त परम्परा सम्बन्ध से गौ-शाला भी गोत्व से युक्त होती है। वृत्यनियामक सम्बन्धों में किसी भी वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता नहीं रहती है ऐसा कुछ नैयायिकों का मत है। उसके पीछे नैयायिकों की यही दृष्टि है कि जिस सम्बन्ध से प्रतियोगी कहीं वृत्ति होता है (याने रहता है) वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक होता है। ऐसा न मानने पर या तो प्रतियोगिता किसी भी सम्बन्ध से नियमित माननी पडेगी, या सभी सम्बन्धों से नियमित जैसे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की मानी जाती है। परन्तु विरोधिता नियम की उपपत्ति के लिये संसर्गाभावकी प्रतियोगिता को ऐसा मानना सम्भव नहीं है।

वृत्यनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगिता का नियामक न मानने में तादात्म्य सम्बन्ध अपवाद है। तादात्म्य सम्बन्ध भी वृत्यनियामक सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध से कोई भी वृत्ति नहीं हो सकता। अत्यन्त निपुण व्यक्ति भी अपने कन्धों पर सवार नहीं हो सकता। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध की वृत्यनियामक सम्बन्ध माना जाता है। तथापि उसे अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना पडता है। अन्यथा भेद (अन्योन्या-भाव) की व्याख्या ही सम्भव, नही है तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित होने वाले अभाव को ही अन्योन्याभाव सज्ञा दी गयी है। अतः वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य सम्बन्ध को छोड़ कर दूसरे

वृत्यनियामक सम्बन्धों मे संसर्गता-रूप अवच्छेदकता नहीं रहती है।[२१]

परन्तु जगदीश का वचन है कि रघुनाथ शिरोमणि तादात्म्य सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक संसर्ग नहीं मानते। जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा गया था, उनके मत मे भेदत्व अखण्डोपाधि है।[२२] परन्तु नैयायिकों का बहुमत तादात्म्य सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानता है। वैसे तो कुछ नैयायिक वृत्यनियामक सम्बन्धों को भी प्रतियोगिता का नियामक मानते है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता है तो जहाँ वृत्यनियामक सम्बन्ध से ही विशिष्टि-बुद्धि होती है वहाँ विरोधिता-नियम का क्या स्वरूप होगा ? उसकी व्याख्या कैसे होगी ? सम्बन्ध का उपयोग किये बिना विरोधिता का नियम बन ही नहीं सकता, और कम-से-कम कालिक सम्बन्ध से सभी जन्य पदार्थ सभी जन्य पदार्थों से सम्बन्धित होते हैं। इसलिए जहाँ वृत्यनियामक सम्बन्ध से विशिष्ट-बुद्धि होती है वहाँ सम्बन्ध के विचार को पूर्णतया हटाया नहीं जा सकता।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जहाँ वृत्यनियामक सम्बन्ध से विशिष्ट प्रतीति होती है वहाँ उक्त विशेषण के अभाव को संसर्गाभाव ही नहीं मानते। अर्थात्, वहाँ विशिष्ट प्रतीति उस सम्बन्ध से सम्बन्धी की प्रतीति है उस सम्बन्ध से वर्तमान विशेषण की प्रतीति नहीं है। तथा विरोधि प्रतीति (याने अभाव की प्रतीति) उक्त सम्बन्ध से सम्बन्धों के भेद को व्यक्त करती है। उदाहरण के लिये, जब 'चारूदत्त धनी है' इस प्रतीति में चारूदत्त धन का आश्रय है यह प्रतीत न होकर चारूदत्त धन-सम्बन्धी (धन का स्वामी) है यह प्रतीत होता है, और जब विरोधि प्रतीति अर्थात् चारूदत्त धनी नहीं है यह प्रतीति होती है तो चारूदत्त धनी व्यक्तियों से भिन्न (व्यक्ति) के रूप में प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वृत्यनियामक सम्बन्ध से सम्बन्धित्व और अभाव की प्रतीति में सम्बन्धिभेद प्रतीत होने से वहाँ भी बिरोधिता-नियम की व्याख्या करने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक न मानने वालों के मत में सम्बन्धिता और सम्बन्धी-भेद के आधार पर उक्त रीत्या विरोधिता-नियम की व्यवस्था लगायी जा सकती है।[२३]

गदाधर को वृत्यनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानने में कोई दोष नजर नहीं आता। समवाय सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले संयोगाभाव की तरह ही जनकता सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले संयोगाभाव की अतिरिक्त अभाव के रूप में कल्पना करने में गौरव दोष होता है, और यह बात समीचीन नहीं है। जनकता सम्बन्ध से संयोगाभाव, संयोगजनकताभाव का समनियत (एक साथ रहने वाला) होने से एक ही है। यह अभाव सभी को मान्य है। उक्त वृत्यनियामक (जनकता) सम्बन्ध से नियमित अभाव की भिन्न प्रतियोगिता की कल्पना करने में गौरव (दोष) होने पर भी विरोधिता-नियम की व्याख्या (हो सकने) मे होने वाले लाघव की ध्यान में रखते हुए उक्त गौरव दोष की उपेक्षा करना ही उचित है।

इस तरह वृत्यनियामक सम्बन्ध में भी अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता मानने में गदाधरादि नव्यनैयायिक कोई दोष नहीं मानते ।[२४] यही कारण है कि कई जगह वृत्यनियामक सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का नियामक मानने वालों के मतों को ध्यान में रख कर लक्षणों के परिष्करण की ओर रूचि दिखायी गयी है।

उपर अवच्छेदकता की आवश्यकता तथा उसके भेदों के विषय में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। इस अध्याय में अवच्छेदकता के स्वरूप के विषय में चर्चा अभीष्ट है। नव्यन्याय में अवच्छेदकता के अनेक स्वरूपों की चर्चा उपलब्ध है। मुख्य रूप से 'स्वरूप सम्बन्ध' रूप तथा अनरितिक्तवृत्तित्व रूप अवच्छेदकत्व की चर्चा प्राप्त होती है।[२५] कहीं पर अवच्छेदकत्व की अन्यनवृत्तित्व[२६] तो कहीं अन्यूनानतिरिक्त वृत्तित्व[२७] तथा कहीं ''स्वव्यापकतत्कत्व''[२८] के रूप में प्रस्तुत किया गया है, तो कहीं उसे अतिरिक्त पदार्थ माना गया है। अवच्छेदक ता या अवच्छेदकत्व जिसमें है वह अवच्छेदक कहलाता है। इसलिये नैयायिकों ने शक्यत्वे सति शक्यव्यावर्तकत्व को ही अवच्छेदकत्व रूप में परिभाषित करने की प्रयास किया है।

अवच्छेदकता के अन्य लक्षणों पर विचार करने के पूर्व 'स्वरूपसम्बन्ध' रूप अवच्छेदकता का विचार करना उचित होगा। सर्व प्रथम यह विचारणीय है कि 'स्वरूप सम्बन्ध' इस शब्द का क्या अर्थ है ? 'स्वरूप सम्बन्ध' इस शब्द से स्पष्ट है कि 'स्व' अर्थात् सम्बन्धी को ही सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है वहाँ 'स्वरूप सम्बन्ध' होता है। यही कारण है कि नित्य सम्बन्ध के रूप में परिभाषित करने पर घट के अत्यन्ताभाव तथा भूतल के बीच में स्वीकृत स्वरूप सम्बन्ध में होने वाली अतिव्याप्ति के निराकरण के हेतु समवाय का लक्षण ''सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्ध'' ऐसा किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वरूप सम्बन्ध की तात्त्विक स्थिति सम्बन्ध के प्रतियोगि या अनुयोगी के रूप में होती है।[२९] फिर भी विशिष्ट-बुद्धि के नियामक के रूप में गृहीत होने से सम्बन्ध के रूप में स्वीकृति प्राप्त होती है। स्वरूप सम्बन्ध को स्वीकार किये बिना 'घटाभावविशिष्ट भूतल' इस प्रत्यय की व्याख्या सम्भव नहीं है। क्योंकि घटाभाव पद घटाभाव को व्यक्त करता है। तो ऐसी अवस्था में 'विशिष्ट' पद किसे व्यक्त करेगा ? 'विशिष्ट' पद संयोग को व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि वहाँ दो द्रव्यों का वैशिष्ट्य नहीं है। तथा वह समवाय को भी व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि समवाय यह अयुतसिद्ध पदार्थों में होने वाला सम्बन्ध है। इसलिये नैयायिकों ने 'स्वरूप सम्बन्ध' की कल्पना की है। अनेक स्वरूप सम्बन्धों के बीच में अवच्छेदकता को भी स्वरूप सम्बन्ध के एक प्रकार के रूप में व्याख्यात किया गया है।[३०]

जैसे प्रतियोगिता को स्वरूप सम्बन्ध रूप तथा अतिरिक्त पदार्थ के रूप में माना गया है वैसे ही अवच्छेदकता को भी स्वरूप सम्बन्ध रूप तथा एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रतियोगिता को प्रतियोगि या प्रतियोगितावच्छेदक के रूप में मान कर उसको विशिष्टबुद्धि नियामक के रूप में जैसे सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार अवच्छेदकता को भी सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता

है। प्रतियोगिता को प्रतियोगी तथा उसके अभाव के बीच प्रतीत होने वाले वैशिष्ट्य के नियामक के रूप में स्वीकार किया जाता है।[३१] जब किसी मेज आदि पर पुस्तकआदि का अभाव प्रतीत होता है तो वहाँ पुस्तकविशिष्ट अभावविशिष्ट मेज का प्रत्यय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अभाव के साथ जो पुस्तक का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है उसका नियामक कौन है ? वह 'प्रतियोगिता' ही है। इस प्रकार प्रतियोगिता, अभाव और प्रतियोगी के बीच एक सम्बन्ध है। लेकिन उसकी तात्त्विकता क्या है ? उसकी अलग तात्त्विकता मानने की अपेक्षा स्वीकृत पदार्थ के अन्तर्गत उसकी व्याख्या करने में लाघव है। जैसे प्रतियोगिता प्रतियोगीरूप को कर लक्षित पदार्थ के अन्तर्गत आते हुए प्रतियोगिता के रूप में सम्बन्ध बनता है उसी प्रकार अवच्छेदकता को भी अवच्छेदक रूप मान कर मेज पर पुस्तकाभाव के प्रत्यय में पुस्तकत्व रूप अवच्छेदक तथा अभाव के बीच में स्वरूप सम्बन्ध के रूप से स्वीकार किया जा सकता है।[३२]

जगदीश ने तो 'पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' में प्रतीत होने वाले 'पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व' में प्रतीत होने वाले पटत्व, अवच्छिन्नत्व और प्रतियोगिताकत्व इन तीनों को भी सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया है।[३३] इसका तात्पर्य यह है कि प्रतियोगित्व आदि जिस प्रकार संसर्ग के रूप में प्रतीत होते हैं उसी प्रकार अवच्छेदकता भी संसर्ग के रूप में प्रतीत होती है और वह सम्बन्ध तत्त्वतः अवच्छेदक से भिन्न न होने के कारण स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष कहलाता है।

'घट नहीं है' इस प्रतीति के आधार पर ही घटत्व में स्वरूप-सम्बन्ध रूप अवच्छेदकता सिद्ध होती है। उक्त प्रतीति में 'नहीं के अर्थ अभाव में घट का घटत्व से नियमित प्रतियोगिता निरूपकत्व सम्बन्ध से अन्वय होने से उक्त प्रतीति में घटत्व ही अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है।

'स्वरूप सम्बन्ध' - विशेष रूप अवच्छेदकता को मानने पर अवच्छेदकता के अवच्छेदक के भेद से भिन्न होने से अनन्त अवच्छेदकताएँ होती हैं और अवच्छेदकता को भी प्रतियोगिता के प्रतियोगि-रूप मानने के समान अवच्छेदक-रूप मानने पर प्रतियोगिता और प्रतियोगि में जैसे अभेद हो जाता है वैसे ही वहाँ अवच्छेदकता और अवच्छेदक में अभेद ही जाता है, तथा अवच्छेदक के भेद से प्रतियोगिता आदि में भी भेद हो जाता है।[३४]

कुछ नैयायिकों का कथन है कि अवच्छेदक-भेद होने पर स्वरूपसम्बन्ध-रूप कारणता प्रतिव्यक्ति भिन्न नहीं होती है।[३५]

दूसरी बात यह है कि प्रतियोगिता की प्रतियागि-स्वरूप या प्रतियोगिता-वच्छेदक-स्वरूप मानने पर जिस प्रकार के दोष उपस्थित होते है उसी प्रकार के दोष अवच्छेदकता की अवच्छेदक-स्वरूप या अवच्छेदकतावच्छेदक-स्वरूप मानने पर भी उपस्थित होते हैं। अवच्छेदकता को अवच्छेदक (जैसे घटत्व)-रूप मानने पर घट भी अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो जायगा, क्योंकि जिसमें अवच्छेदकता रहती है, अतः घट को अवच्छेदक मानना पडेगा। दूसरी बात यह है कि घटत्व अवच्छेदकतावत्

है यह आधाराधेय भाव वाली प्रतीति नहीं होगी इत्यादि दोष भी उपस्थित होते हैं।[३६]

इसलिये कुछ नैयायिक अवच्छेदकता को अन्यूनवृत्तित्व-रूप मानते हैं। उनका कथन यह है कि जो जिसका अन्यूनवृत्ति होता है वह उसका अवच्छेदक होता है। अन्यूनवृत्ति का तात्पर्य है कि उसकी अपेक्षया कम जगह पर रहने वाला न हो। जैसे, घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व होता है, क्योंकि घटत्व उक्त प्रतियोगिता से कम जगह पर रहने वाला नहीं है। परन्तु द्रव्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व इसलिये नहीं है कि वह प्रतियोगि का प्रकार होने पर भी प्रतियोगिता की अपेक्षा कम स्थानों पर रहता है। द्रव्य के अभाव की प्रतियोगिता सभी द्रव्यों में रहती है जब कि घटत्व केवल घटों में ही रहता है, सारे द्रव्यों में नहीं। अतः घटत्व प्रतियोगिता की अपेक्षा कम स्थानों पर रहने वाला होने से द्रव्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। उसी प्रकार अश्वाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक तुरगत्व नहीं हो सकता क्योंकि अश्वत्व की अपेक्षा वह कम स्थान पर रहता है। तुरकीस्थान के अश्व को 'तुरग' कहा जाता है, जब कि अश्वत्व सभी प्रकार के अश्वों में रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रतियोगिता आदि से कम स्थानों पर नहीं रहता है वही अवच्छेदक कहलता है तथा उसीका स्वरूप अवच्छेदकता है।

परन्तु उक्त परिभाषा समीचीन नहीं है क्योंकि उसे अगर स्वीकार किया तो इस तरह पुस्तक आदि के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व धर्म भी होने लगेंगे। द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता से कम जगहों पर नहीं रहता है, अपितु वह उससे अधिक जगह पर ही रहता है। प्रतियोगिता तो पुस्तकों में ही है, जबकि पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व अन्य पार्थिव पदार्थों तथा अन्य द्रव्यों में भी रहता है। अतः वह अन्यूनवृत्ति होने से पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होना चाहिये। अतः अनतिरिक्तवृत्तित्व को अवच्छेदकत्व कहा गया है। उक्त अभाव के विषय में द्रव्यत्व और पृथ्वीत्व पुस्तक से अतिरिक्त पदार्थों में रहने से अनतिरिक्तवृत्ति नहीं है। अनतिरिक्तवृत्तित्व का अर्थ है अतिरिक्त अर्थात् उससे रहित में वृत्ति न होना। उक्त लक्षण से द्रव्यत्व और पृथ्वीत्व का निवारण होने पर भी पृथ्वी के अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में पुस्तकत्व या घटत्व के होने में कोई बाधा नहीं है। द्रव्याभाव की प्रतियोगिता सभी द्रव्यों में होने से पुस्तक में भी है और वहाँ पुस्तकत्व धर्म के विद्यमान होने से तथा पुस्तकत्व के द्रव्य से अतिरिक्त वस्तुओं में न रहने के कारण अनतिरिक्तवृत्ति होने से उसके उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक बनने में कोई बाधा नहीं है। और यदि पुस्तकत्व को द्रव्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान लें तो पुस्तकाभाव और द्रव्याभाव में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। इसके फलस्वरूप प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था ही दूषित हो जायगी। अतः अन्यूनवृत्तित्व तथा अनतिरिक्तवृत्तित्व इन दोनों की मिला कर 'अन्यूनानरिक्तवृत्तित्वम् अवच्छेदकत्वम्' ऐसा कहा गया है। अतः केवल पुस्तकत्व ही पुस्तकभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा क्यों कि वह पुस्तक में रहनेवाली प्रतियोगिता से अधिक जहग पर नहीं रहता है,

केवल पुस्तकों में ही रहता है। इस प्रकार अनतिरिक्तवृत्तित्व-रूप अवच्छेदकता का अर्थ है उससे (याने प्रतियोगिता आदि) शून्य मे न रहते हुए उसके आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना।[३७] जैसे, पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व पुस्तकत्व धर्म में आता है, पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता पुस्तक में रहती है।

उस प्रतियोगिता से शून्य अन्य मेज आदि सभी पदार्थ हैं। उनमें पुस्तकत्व नहीं रहता है, तथा उक्त पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता का अधिकरण है पुस्तक, और उसमें पुस्तकत्व का अभाव नहीं है अन्य घटत्व आदि धर्मों का अभाव है। अतः उक्त अभाव की प्रतियोगिता घटत्व में तथा अप्रतियोगिता पुस्तकत्व में होने से पुस्तकत्व ही पुस्तक के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। यहाँ अवच्छेदकत्व की मात्र तत्शून्यावृत्तित्व के रूप में लक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता शून्य घटादि पदार्थों में विद्यमान न होने से गगन भी पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही जायगा। क्योंकि गगन सर्वत्र अविद्यमान पदार्थ है। अतः तद् (प्रतियोगिता) के अधिकरण में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी न होने की शर्त रखी गयी है। चूँकि गगन कहीं पर भी रहता नहीं; अतः प्रतियोगिता के आश्रय में उसका अभाव विद्यमान होने से उक्त अभाव का अप्रतियोगित्व (याने प्रतियोगिता का अभाव) गगन में नहीं है। फलस्वरूप गगन पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता का नियामक नहीं है। केवल दूसरी ही शर्त रखने पर तथा 'तत्शून्यवृत्तित्व' को हटा लेने पर पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक द्रव्यत्व भी होने लगेगा क्योंकि पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता के आश्रय पुस्तक में द्रव्यत्व भी होने से द्रव्यत्व का अभाव वहाँ नही है। घट आदि अन्य का अभाव रहता है इसलिये उक्त अभाव का अप्रतियोगित्व (प्रतियोगिता का अभाव) द्रव्यत्व में रहता है। अतः प्रथम शर्त 'तद्भाववदवृत्ति' का होना आवश्यक है। इसीलिये गदाधर ने 'स्वव्यापकतत्कत्व' के रूप में अवच्छेदकत्व को परिभाषित किया है। उसका तात्पर्य यह है कि जिसका जो अवच्छेदक होता है उससे वह पदार्थ व्यापक होता है, उस पदार्थ के उस धर्म से व्यापक होने पर ही वह धर्म अवच्छेदक कहलाता है। जैसे पुस्तकत्व धर्म जहाँ-जहाँ हे वहाँ पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता होने से पुस्तकत्व धर्म उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है।

अथवा जैसे, 'पुस्तक से युक्त मेज' इस ज्ञान के लिये 'पुस्तक से शून्य मेज' यह ज्ञान प्रतिबन्धक होता है। अतः उस ज्ञान में रहने वाली प्रतिबन्धकता की अवच्छेदक उक्त ज्ञान में रहने वाली विषयिता भी होती है, क्योंकि जहाँ उक्त ज्ञान की विषयिता है वहाँ पूर्वोक्त 'पुस्तक मेज पर है' इस ज्ञान की प्रतिबन्धकता है। अतः 'स्वव्यापकत्कत्व' के रूप में अवच्छेदकता का स्वरूप उपस्थित किया गया है। उसका तात्पर्य 'स्वव्याप्यत्व' में है अर्थात् वह धर्म जहाँ रहे वहाँ वहाँ प्रतियोगिता होने पर वह धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक कहलाएगा। पुस्तकत्व जहाँ जहाँ रहता है वहाँ वहाँ पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता रहने से पुस्तकत्व ही पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता या अवच्छेदक होता है।

अनतिरिक्तवृत्तित्व का दूसरा अर्थ भी किया गया है। व्यावर्तकत्व,

सामानाधिकरण्य और स्वनिष्ठावच्छेद्यताकत्व इन तीन सम्बन्धों से जिस किसी धर्म का युक्त होना ।[३८] इसका तात्पर्य यह है कि जो धर्म उस पदार्थ की किसी से अलग करता है, तथा जो उसके आश्रय में रहता है और जो उसमें रहनेवाली अवच्छेदकता को प्रदर्शित करता है वह अवच्छेदक होता है। जैसे, दण्ड में रहने वाली घट की कारणता का अवच्छेदक दण्डत्व होता है। दण्डत्व दण्ड रहने वाली कारणताओं को इतर कारणता से भिन्न करता है तथा कारणता का समानाधिकरण होता है और कारणता में रहने वाली अवच्छेधकता को प्रदर्शित करता है। इसलिये वह अवच्छेदक कहलाता है। इस प्रकार अवच्छेदक होने की तीन शर्तें यहाँ प्रस्तुत की गयी हैं - व्यावर्तक होना, समान आश्रय में रहना तथा उसमें रहने वाली अवच्छेद्यता का निरूपक होना। इनमें से एक भी शर्त जहाँ पूरी नहीं होगी वह अवच्छेदक नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त 'तत् शून्यावृत्तित्व' रूप अवच्छेदकत्व सर्वत्र सम्भव नहीं है। जैसे, वन्ह्यभाव-विशिष्ट जल इस ज्ञान में रहने वाली विषयिता केवल जल-ज्ञान में भी है क्योंकि विशिष्टं शुद्धात् न अतिरिच्यते इस मत के आधार पर विशिष्ट जलज्ञान तथा शुद्ध जल ज्ञान में कोई भेद नहीं है। अतः शुद्ध जल के ज्ञान में प्रतिबन्धकता न होने पर भी वहाँ वन्ह्यभाव-विशिष्ट-जल-विषयिता होने से उक्त विषयिता प्रतिबन्धकता की अवच्छेदक नहीं होती है। यही कारण है कि अवच्छेदकत्व को गदाधर ने स्वव्यापकतात्कत्व के रूप में ग्रहण किया है।[३९]

इस प्रकार नैयायिक मुख्यतः स्वरूप-समबन्ध-रूप अवच्छेदकत्व या अनतिरिक्तवृत्तित्व-रूप अवच्छेदकत्व को लेकर ही व्याप्ति आदि के लक्षणों का विचार करते हैं।

स्वरूप-सम्बन्ध-रूप और अनतिरिक्तवृत्तित्व-रूप अवच्छेदकता में मुख्य भेद यही है कि पटाभावीय पटस्वरूप प्रतियोगिता जैसे पटत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है उसी प्रकार द्रव्यत्व-समवेतत्व, ज्ञेयत्व आदि धर्मों से भी अवच्छिन्न होती है। फलस्वरूप पटत्व के समान ही द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, ज्ञेयत्व आदि धर्म भी उक्त अभाव को प्रतियोगिता के अवच्छेदक होते हैं।[४०] परन्तु अनतिरिक्तवृत्तित्व-रूप अवच्छेदकता स्वीकार करने पर उक्त धर्म अतिरिक्तवृत्ति होने से उक्त अभावीय प्रतियोगिता के अवच्छेदक नहीं बनते।

दूसरी बात यह है कि अवच्छेदकता को अवच्छेदक-स्वरूप मानने पर जहाँ 'दण्डिमान् नास्ति' इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक दण्ड होनेसे और दण्ड अनन्त होने से अवच्छेदकताएँ भी अनन्त होंगी। अतः गौरव दोष होता है और यदि उसे अवच्छेदकता का अवच्छेदक-रूप मानेंगे तो भी अवच्छेदक के भेद से अवच्छेदकता भेद मानना पड़ेगा। कुछ नैयायिक स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदकता को भी अवच्छेदकतावच्छेदक-भेद से भिन्न नहीं मानते।

तथापि स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदकता सर्वत्र सम्भव नहीं है 'हेत्वाभास का लक्षण किया गया है- ''यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्य अनुमितिप्रतिबन्धकत्वं तत्वम्'' जिसका अर्थ है जिस विषय का ज्ञान अनुमिति में विरोधी होता है वह हैत्वाभास कहलाता

है। यहाँ 'यद्विषत्वेन' इस शब्द में जो तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है उस तृतीया विभक्ति का अर्थ अवच्छेदकत्व होता है, जिसका तात्पर्य होता है-जिसकी विषयता अनुमिति की प्रतिबन्धकता (याने विरोधिता) की अवच्छेदक होती है वह हेत्वाभास है। इस लक्षण में अवच्छेदकत्व को यदि स्वरूपसम्बन्ध-रूप मानें तो 'वन्ह्यभाववान् पर्वतः' इस ज्ञान की जो केवल वन्ह्यभावविषयता है वह भी 'वन्ह्यभाववान् पर्वतः' इस ज्ञान में रहने वाली विरोधिता की स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदक होने से 'पर्वतो वह्नमान्' इस अनुमिति में वन्ह्यभाव की भी हेत्वाभास-रूपता आती है। पर्वतो वन्ह्यभाववान् इस भ्रमात्मक ज्ञान का विषय वन्ह्यभाव भी होने से उसमें विषयता है। वह विषयता अन्यवन्ह्यभाव के ज्ञान में नहीं हो सकती है। अतः वहाँ 'स्वरूप-सम्बन्ध-रूप' अवच्छेदकता का प्रयोग न कर के अनतिरिक्त-वृत्तित्व का प्रयोग 'स्वव्यापकतकत्व' के रूप में करना पड़ता है।[४१]

अवच्छेदकता के संबंन्ध में एक और विवाद गुरूधर्म को लेकर है। गुरुधर्म को अवच्छेदक न मानने वालों का कथन है कि प्रमेय धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक प्रमेय धूमत्व न हो कर धूमत्व ही है, प्रमेय धूमत्व की अपेक्षा धूमत्व यह लघु धर्म है और लघु धर्म का अवच्छेदक होना संभव हो तो गुरूधर्म को अवच्छेदक नहीं मानना चाहिये।[४२] उसी प्रकार 'कम्बुग्रोवादिमान्' (शंख जैसी गर्दन वाली सुराही) के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक लघुभूत घटत्व है तथा गुरूभूत धर्म कम्बुग्रीवादिमत्व (याने कम्बुग्रीवा) नहीं है।[४३] परन्तु कुछ नैयायिकों का मत है कि गुरूधर्म भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। 'कम्बुग्रोवादिमान् नास्ति' इस प्रतीति का विषय कम्बुग्रोवादिमत्व से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव होता है, घटत्व से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव नहीं होता है। अतः उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व न हो कर गुरूभूत धर्म कम्बुग्रीवादिमत्व ही होता है। अतः गुरूधर्म को भी उनके मतानुसार अवच्छेदक मानना चाहिये।[४४]

परन्तु प्रश्न यह है कि अवच्छेदकत्व स्वरूप सम्बन्ध रूप है या अनतिरिक्तवृत्तित्व रूप ? दीधितिकार का कथन है कि 'कम्बुग्रीवादिमत्व' में जो अवच्छेदकत्व है वह स्वरूप-संबन्ध-रूप नहीं है, अपितु अनतिरिक्तवृत्तित्व-रूप है। उनके विचार से गौरव प्रतीत होने की अवस्था में 'कम्ब्रग्रीवादिमान् नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर गुरूधर्म कम्बुग्रीवादिमत्व भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है।[४५] इसी का समर्थन करते हुए दिनकरीकार ने भी कहा है कि 'कम्ब्रग्रीवादिमान् नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर गुरूधर्म 'कम्ब्रग्रीवादिमत्व भी अवच्छेदक है। परन्तु यह अवच्छेदकत्व अनतिरिक्त-वृत्तित्व-रूप है, स्वरूप-संबन्धरूप नहीं है।[४६] और वह भी प्रतियोगिताशून्यावृत्तित्व-रूप नहीं है। कम्ब्रग्रीवादिमत्व को अवच्छेदक मानने में युक्ति यही है कि 'कम्ब्रग्रीवादिमान् नास्ति' इस प्रतीति का विषय केवल कम्ब्रग्रीवादिमान् का अभाव मात्र नहीं है। कोई एक सुराही होने पर भी उक्त प्रतीति नहीं होती है: इसका तात्पर्य यही है कि जहाँ एक भी सुराही नही होती है वहीं उक्त प्रतीति होती है। अतः कम्ब्रग्रीवादिमत्व से अवच्छिन्न

प्रतियोगिता-वाला अभाव ही उक्त प्रत्यय का विषय है। इसलिये अनतिरिक्तवृत्तित्व-रूप अवच्छेदकत्व गुरूधर्म में भी रहता है। इस पर प्रश्न यह किया जा सकता है कि जब 'घटो नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर घटत्व में स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदकता सिद्ध होती है तो कम्ब्रग्रीवादिमान् नास्ति इस प्रतीति के आधार पर कम्ब्रग्रीवादिमत्व में भी स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदकत्व क्यों नही है ? इस के उत्तर में गुरूधर्म में स्वरूप-संबन्ध-रूप अवच्छेदकत्व न मानने वालों का कथन है कि 'घटो नास्ति' इस प्रतीति से 'न' के अर्थ अभाव में घट घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता संबन्ध से मालूम होता है। इसलिये वहाँ घटत्व अवच्छेदक के रूप प्रतीत होता है। और चूँकि कम्ब्रग्रीवादिमत्व गुरूधर्म होने से कम्ब्रग्रीवादिमान् नास्ति इस प्रतीति में अभाव में घट का कम्ब्रग्रीवादिमत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से भान न होने के कारण कम्ब्रग्रीवादिमत्व प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है। उनका कथन है कि 'कम्ब्रग्रीवादिमान नास्ति' इस प्रत्यय में अभाव में कम्ब्रग्रीवादिमान् का अन्वय स्वावच्छिन्न व्यापकतावच्छिन्न-प्रतियोगिता-सम्बन्ध से होता है, जबकि 'घटो नास्ति' में घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगता सम्बन्ध से घट का अन्वय अभाव के साथ होता है। अतः यहाँ प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व है और वहाँ व्यापकता का अवच्छेदक कम्ब्रग्रीवादिमत्व है। परन्तु यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि एक ही जैसी प्रतितियों में इस प्रकार का भेद करने के लिये कोई ठोस आधार नहीं है। उसकी अपेक्षा दोनों ही प्रतीतियों में अभाव में प्रतियोगि में विशेषणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अभाव में प्रतियोगी का अन्वय मानने में लाघव है। अतः गुरूधर्म में अवच्छेदकता (स्वरूप-सम्बन्ध-रूप) न मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये प्रतीति के आधार पर गुरूधर्म को भी स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदक मानना चाहिये।[४७] परन्तु अधिकांश प्राचीन नैयायिक स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदकता गुरूधर्म में नहीं मानते।[४८]

अवच्छेदकता के सम्बन्ध में कई और भी विचारणीय विषय हैं- जैसे, दैशिक अवच्छेदकता, कालिक अवच्छेदकता, व्यापकत्व-रूप अवच्छेदकत्व व्यधिकरण-धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व आदि। उनका विचार अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत किया जायगा।

दैशिक अवच्छेदकता तथा कालिक अवच्छेदकता के भेद से भी अवच्छेदकता के दो प्रकार बतलाये गये हैं। किसी भी वस्तु का आश्रय होने वाले पदार्थ का एक भाग दैशिक अवच्छेदक होता है। जैसे, वृक्ष की शाखा के साथ कपि का (साक्षात्) संयागे होता है, वृक्ष के मूल के साथ नहीं। चूंकि वृक्ष की शाखा के साथ कपि का संयोग होता है इसलिये वृक्ष का एक अवयव होने वाली शाखा को उक्त कपि-संयोग का अवच्छेदक माना जाता है। क्योंकि वही (शाखा) वृक्ष के साथ होने वाले कपि के संयोग का नियमन करती है। उसी प्रकार वृक्ष का तना, मूल आदि उक्त वृक्ष पर होने वाले कपि-संयोग के अभाव का नियमन करते हैं। अतः उक्त वृक्ष का मूल वृक्ष पर रहने वाले कपि-संयोग के अभाव का नियमन करता है। मूल से अवच्छिन्न कपि-संयोग का अभाव वृक्ष में होने

से मूल उसका 'अवच्छेदक' कहलाता है। कपि संयोग तथा कपि-संयोग का अभाव इस प्रकार सारे वृक्ष को व्याप्त करने वाले न होते से अव्याप्यवृत्ति माने जाते हैं।[४९] इस प्रकार के अवच्छेदक को नैयायिक 'तदधिकरणस्य तन्निष्ठधर्मावच्छेदकत्व' के रूप में परिभाषित करते हैं। इस प्रकार के अवच्छेदकत्व की सिद्धि मूले वृक्षे न कपिसंयोगः किन्तु शाखायाम्-वृक्ष के मूल के साथ (साक्षात्) कपि-संयोग नहीं है किन्तु शाखा के साथ है-इस प्रतीति के आधार पर होती है। यहाँ मूल यह वृक्ष का एक भाग वृक्ष पर प्रतीत होने वाले कपि-संयोग के अभाव का अवच्छेदक होता है। यहाँ अवच्छेदक स्वाश्रय-संबन्धी के रूप में प्रतीत होता है। स्व अर्थात् कपि-संयोग के अभाव के आश्रय वृक्ष का सम्बन्धी उसका मूल होता है।[५०]

यद्यपि वृक्ष में कपि-संयोग अव्याप्य-वृत्ति होने से शाखादि उसके अवच्छेदक होते हैं, परन्तु वृक्ष के साथ आकाश का संयोग व्याप्त ही होता है। अतः शाखा इत्यादि वृक्ष के अवयव उसके अवच्छेदक नहीं होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकार का अवच्छेदक अव्याव्यवृत्ति (याने भागशः रहने वाले) पदार्थों का ही होता है, व्याप्यवृत्ति वस्तुओं का नहीं।[५१]

केवल संयोग ही नहीं संयोग सम्बन्ध से द्रव्य भी अव्याप्य-वृत्ति होता है। क्योंकि 'इस पर्वत के निम्न भाग पर अग्नि है, शिखर पर अग्नि नहीं है' यह प्रत्यय संयोग सम्बन्ध से अग्नि को भी अव्याप्यवृत्ति सिद्ध करता है, चूंकि वृत्ति (सम्बन्ध) जब अव्याप्यवृत्ति होता है तो उसके सम्बन्धी का अव्याप्यवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। वृत्ति के अव्याप्यवृत्ति होने पर वृत्तिसम्बन्ध का व्याप्य वृत्ति होना असम्भव है।[५२]

इस प्रकार जो जिस भाग में सम्बन्ध से रहित होता है वह उस भाग में उस सम्बन्ध से होने वाले अभाव का आश्रय है यह नियम है। इस नियम के आधार पर शिखर संयोग सम्बन्ध से अग्नि के अभाव का अवच्छेदक सिद्ध होता है। शिखरावच्छेदेन अग्नि-संयोग के न होने से शिखर अग्नि के अभाव को नियमित करने के कारण उसका अवच्छेदक होता है।[५३] क

परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस अवच्छेदकत्व का स्वरूप क्या है ? चूंकि अनतिरिक्त वृतित्व-रूप अवच्छेदकत्व यहाँ सम्भव न होने से इसे स्वरूप-सम्बन्ध-रूप या अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करने की अपेक्षा इसे स्वरूप-सम्बन्ध-रूप स्वीकार करने में लाघव होने से नैयायिकों का बहुमत इसे स्वरूप सम्बन्धरूप ही स्वीकार करता है।[५४] ख

दूसरे प्रकार का अवच्छेदकत्व कालिक अवच्छेदकत्व कहालाता है। जिस काल में आश्रय में वस्तु का अस्तित्व होता है उस काल में उक्त अवच्छेदकत्व रहता है। जैसे, उत्पत्ति-काल में द्रव्य में गुण का अभाव रहता है। 'उत्पन्न द्रव्यं क्षणमगुणं अक्रियं च तिष्ठति' यह नियम है। अतः 'उत्पत्ति-काल में पृथ्वी में गन्ध नहीं होता तथा उत्तर काल में है' इस प्रतीति से उत्पत्ति-काल में पृथ्वी में गन्ध का अभाव भासित होने से उत्पत्तिकाल उक्त गन्धाभाव का अवच्छेदक होता है। उसके बाद के काल में गन्ध

होने से बाद का काल गन्ध का अवच्छेदक होता है। इस प्रकार प्रतियोगिमान् देश-काल-विशेष में जो अभाव प्रतीत होता है उसका अवच्छेदक देश के समान काल भी होता है। प्रतियोगि-युक्त काल में देशविशेषावच्छेदेन (विशेष देश में) तथा प्रतियोगिमान् देश में कालविशेषवच्छेदेन (विशेष काल में) वस्तु का अभाव होने से देश और काल दोनों भी अवच्छेदक कहलाते हैं।[५५]

घट-युक्त काल में भी 'इस समय तन्तु में घट नहीं है' इस प्रतीति से जैसे तन्तु के अवच्छेद से इस काल में घट का अभाव प्रतीत होता है वैसे ही घटाश्रय कपाल में भी घट का नाश होने पर 'इस समय कपाल में घट नहीं है, इस प्रतीति के आधार पर घटाभाव के अवच्छेदक के रूप में एतत्काल मालूम होता है। 'इस समय तन्तु में घट नहीं है' इस प्रतीति का विषय एतत्कालावच्छेदेन तन्तु में ही घटाभाव होता है। तन्तु-अवच्छेदेन अर्थात् तन्तु से अवच्छिन्न घटाभाव इस काल में प्रतीत नहीं होता है क्योंकि तन्तु में घटाभाव व्याप्यवृत्ति होने से एतत्काल को अवच्छेदक मानने पर उक्त प्रतीति को भ्रम मानना पड़ेगा। इस समय तन्तुओं में घट नहीं है 'इदानीं तन्तुषु घटाभावः' इस प्रतीति में 'इस काल में वर्तमान जो घट है उसका अभाव तन्तुओं में प्रतीत होता है' ऐसा मानने पर काल को अवच्छेदक न मान घट-रूप प्रतियोगि के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने पर तन्तु ही उक्त अभाव के अवच्छेदक के रूप प्रतीत होने से देश भी अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है यह सर्वानुभव से सिद्ध है। अतः उक्त अवच्छेदकत्व दैशिक अवच्छेदकत्व के रूप में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार काल और देश दोनों ही अवच्छेदक होते हैं। 'इस समय घर में गौ नहीं है' यहाँ जिस प्रकार 'एतत् काल' घर में रहने वाले अभाव का अवच्छेदक होता है उसी प्रकार एतत् काल में रहने वाले अभाव का अवच्छेदक गृह भी होता है। 'इस समय अश्व में गोत्व नहीं है' इस प्रतीति में गो के अभाव का अवच्छेदक अश्व है या एतत् समय है ? इसमें निश्चित रूप से कोई विनिगमक युक्ति न होने से उक्त प्रतीति में देशावच्छेदेन काल तथा एतत् कालावच्छेदेन देश इन दोनों ही प्रकार से गोत्व का अभाव प्रतीत होता है।[५६]

तथापि 'इदानीं अश्वे न गोत्वम्' (इस समय अश्व में गोत्व नहीं है) इस प्रत्यय से अश्व में रहने वाले तथा इस काल में रहने वाले गोत्व का अभाव प्रतीत होता है यह कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि देश में वर्तमान वस्तु का काल जैसे अवच्छेदक होता है वैसे ही काल में वृत्ति वस्तु का देश भी अवच्छेदक होता है। 'इदानीं गृहे गौर्नास्ति' - इस समय घर में गाय नहीं है - यहाँ घर में वृत्ति गाय के अभाव का नियन्त्रक एतत् काल होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि एतत् कालावच्छेदेन घर में गौ का अभाव है। उसी प्रकार कालवृत्तिता प्रतीत होने पर देश-विशेष में उसकी नियन्त्रकता प्रतीत होती है। जैसे 'इदानीं अश्वे न गोत्वम्' यहाँ कालवृत्ति गोत्वाभाव का नियामक अश्व होता है। अतः उक्त प्रतीति से अश्वावच्छेदेन एतत्कालवृत्ति गोत्वाभाव प्रतीत होता है। केवल देश या केवल काल ही अवच्छेदक होता है इसमें कोई युक्ति नहीं है। अतः

कहा गया है 'देशे कालस्येव कालेऽपि देशस्यावच्छेदकत्वात्'। अनुभव के आधार पर देश और काल दोनों ही अवच्छेदक सिद्ध होते हैं। अन्यथा 'गृहे इदानीं न गौ' इस वाक्य से गृह में प्रतीत होने वाली गवाभावाश्रयता का अवच्छेदक काल नहीं होगा, जबकि उपर्युक्त वाक्य से गृह-विद्यमानता के साथ ही एतत् काल विद्यमानता भी प्रतीत होती है। अतः काल को भी देशवृत्तिता का अवच्छेदक मानना आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार देश दैशिक व्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक नहीं होता है वैसे ही काल भी कालिक व्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक नहीं होता है। सर्व देशकालव्याप्त पदार्थ का अवच्छेदक देश और काल नहीं होते हैं। जो अवच्छेद्य का आश्रय हो सकता है वही उसका अवच्छेदक होता है। यही कारण है कि प्रलय-काल गो का अवच्छेदक नहीं होता है।[५७] क्योंकि प्रलय काल गौ का आश्रय नहीं है। दैशिक तथा कालिक अवच्छेदकत्व के आधार पर वस्तुओं की अव्याप्य वृत्तिता को व्याख्या की जाती है। कालिक अवच्छेदकत्व भी दैशिक अवच्छेदकत्व के समान स्वरूप-सम्बन्ध विशेष है अथवा स्वतन्त्र पदार्थ माना जा सकता है।

विषयता के लिये कहीं नैयायिक अवच्छेदकता शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'पर्वतो अग्निमान्' यहाँ पर पर्वतत्व उक्त अनुमिति का विषय होने से उसमें विषयता नामक पदार्थ (विशेष) है। उसे ही उक्त अनुमिति की अग्नि में रहने वाली विधेयता (इसके विषय में आगे विवेचन किया जायगा) के द्वारा निरूपित उद्देश्यता वच्छेदकता के रूप में स्वीकार किया जाता है।[५८]

स्वाश्रय-जन्यत्व या स्वाश्रय-विशेषणत्व के अर्थ में भी अवच्छेदकता का प्रयोग में किया जाता है। जैसे, कर्म कारक की व्याख्या के प्रसङ्ग में धात्वर्थतावच्छेदक फलशालित्वम् यह कार्यत्व की व्याख्या की जाती है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त अवच्छेदकत्व क्या वस्तु है? यहाँ अनतिरिक्त-वृत्तित्वरूप अवच्छेदकत्व नहीं है यह बात तो स्पष्ट है। तथा वह धात्वर्थता का स्वरूप न होने से वह स्वरूप-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदकत्व भी नहीं है। फलतः स्वाश्रयजन्यत्व ही यहाँ अवच्छेदकत्व के रूप में अभिप्रेत है। यहाँ 'स्व' पद से धात्वर्थता का ग्रहण करने पर उसके आश्रय धात्वर्थ की जन्यता फल में होने से फल धात्वर्थ का अवच्छेदक होता है।[५९]

वैयाकरण लोग सम्बन्ध के अर्थ में भी अवच्छेदक शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'फलवच्छिन्न व्यापार' कहने पर फल व्यापार के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है। यहाँ उक्त अवच्छेदकत्व सम्बन्ध-रूप है। अतः उक्त शब्द प्रयोग का अर्थ होता है 'फल-सम्बन्धी व्यापार'।[६०]

पूर्व अध्याय में कहा गया था कि सोन्दड के मत में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार किया गया है जिसके अनुसार प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। जैसे 'घटो नास्ति' - घट नहीं है - कहने पर घट में रहनेवाली प्रतियोगिता का समानाधिकरण धर्म घटत्व उसका अवच्छेदक होता है वैसे ही 'पटत्वेन घटो नास्ति' - पट के रूप में घट नहीं है - कहने पर घट में रहने वाली प्रतियोगिता का

व्यधिकरण-धर्म पटत्व भी अवच्छेदक होता है, चूंकि यह प्रतियोगिता का व्यधिकरण अर्थात् प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म होने से उसमें अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व-रूप अवच्छेदकत्व नहीं है, तब यहाँ का अवच्छेदकत्व क्या है ? आचार्य गङ्गेश ने तो प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदक कह कर उक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व का निरास ही कर दिया है। परन्तु जो लोग 'द्रव्यत्वेन गुणो नास्ति' इत्यादि प्रतीति से सिद्ध अभाव स्वीकार करते हैं उनके मत में 'द्रव्यत्वेन' यहाँ प्रयुक्त तृतीया का अवच्छेदकत्व के सिवाय कोई दूसरा अर्थ सम्भव नहीं है। अतः उक्त तृतीयार्थ के रूप में प्रस्तुत होने वाले अवच्छेदकत्व का क्या लक्षण है यह एक विचारणीय पक्ष है।

व्यधिकरण धर्म को अवच्छेदक मानने वालों के मत में उक्त अवच्छेदकत्व एक पारिभाषिक अवच्छेदकत्व है, तथा उसकी परिभाषा है- "स्वव्यापकतत्कान्यत्व तत्सा-मानाधिकरण्य एतदुभयाभाववत्व"। व्यधिकरण-धर्म में स्वव्यापकतत्कत्व न होने से उभयाभाव है।[६१] यही उसमें रहने वाला अवच्छेदकत्व है। उदाहरणार्थ, जब हम द्रव्यत्वेन गुण का अभाव कहते हैं तो गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक द्रव्यत्व होता है, क्योंकि यहाँ 'स्व' पद से द्रव्यत्व को लेने पर द्रव्यत्व-व्यापक प्रतियोगिता नहीं है। अर्थात्, जहाँ जहाँ द्रव्यत्व है वहाँ वहाँ प्रतियोगिता नहीं है। प्रतियोगिता गुण में है। अर्थात्, द्रव्यत्व-व्यापकत्व प्रतियोगिता में न होने से तत्कत्व भी द्रव्यत्व में नहीं है। अतः तदन्यत्व उसमें है लेकिन द्रव्यत्व में प्रतियोगिता का सामानाधिकरण्य नहीं है। अतः उक्त उभय का अभाव होने से उभयाभाव-रूप अवच्छेदकत्व है।

'तदधिकरणावृत्तित्वेन ज्ञायमानत्व' भी व्यधिकरण धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व है ऐसा मानने पर "द्रव्यत्वेन गुणाभाव" की गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक गुणत्व न हो कर द्रव्यत्व, भी होता है, क्योंकि द्रव्यत्व प्रतियोगी गुण में नहीं रहता है।[६२]

स्वाधिकरणवृत्तिभेद प्रतियोगितानच्छेदकत्व स्वाधिकरणवृत्तित्वोभया-भाव-वद्धर्मवत्व को व्यधिकरण धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व भी कहा जा सकता है।[६३] यहाँ 'स्व' पद से प्रतियोगिता का ग्रहण करने पर स्व "प्रतियोगिता", उसका अधिकरण गुण है, उसमें रहने वाला भेद है द्रव्यभेद। उसकी प्रतियोगिता द्रव्य में है। उस प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व द्रव्यत्व में नहीं है, तथा स्वाधिकरणवृत्तित्व (स्व-प्रतियोगिता, अधिकरण-गुण,वृत्तित्व गुणत्व में) भी द्रव्यत्व में नहीं है। अतः (दोनों) का अभाव द्रव्यत्व में है। अतः द्रव्यत्व में उक्त अवच्छेदकत्व है। क्योंकि "गुणवान् घटः" इस प्रकार का निश्चय होने पर भी "द्रव्यत्वेन गुणो नास्ति"- द्रव्य के रूप में गुण नहीं है - यह प्रत्यय होता है। इसलिये द्रव्यत्व को उक्त प्रतीति में भासित होनेवाली तथा गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा गुणत्वावच्छिन्न गुण में रहने वाली प्रतियोगिता वाले गुणाभाव के ज्ञान में गुणत्वेन गुणवत्ता का निश्चय विरोधी होने से 'द्रव्यत्वेन गुण नहीं है' यह प्रत्यय ही नहीं हो सकेगा। उक्त प्रकार से द्रव्यत्व उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने पर 'द्रव्यत्वेन

गुणाभाव-बुद्धि' में द्रव्यत्वेन गुण का निश्चय विरोधी होने से उक्त प्रकार का निश्चय कहीं भी सम्भव न होने से उक्त प्रकार के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव की प्रतीति सर्वत्र होती है।

इस प्रकार धूमत्व में धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक तीन प्रकार का होता है। पहला, शुद्ध सामानाधिकरण के रूप में। जैसे, धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूमत्व में है क्योंकि धूमत्व प्रतियोगिता का समानाधिकरण है। दूसरा, किसी अंश में समानाधिकरण होने पर और किसी अंश में व्याधिकरण होने पर। जैसे, 'धूमत्वेन प्रमेयाभाव' की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूम में, किसी प्रमेय (धूम) में धूमत्व रहने से अंशतः समानाधिकरण है और वृक्षादि प्रमेय में धूमत्व न होने से व्यधिकरण है। तीसरा, शुद्ध वैयधिकरण्य से अवच्छेदकत्व होना। जैसे, धूमत्वेन घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूमत्व में है जो कि शुद्ध रूप से प्रतियोगिता का व्यधिकरण है।[६४]

एक और भी प्रकार का अवच्छेदकत्व नैयायिक स्वीकार करते है जो कि 'अवच्छेदकावच्छेदेन' प्रतीति में परिलक्षित होता है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है' इस कथन से पर्वत में अग्नि का बोध दो प्रकार का होता है- 'धर्मितावच्छेदक सामानाधिकरण्येन' अर्थात् धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व के समानाधिकरण (एक ही आश्रय में रहने वाले) के रूप में। इस में किसी एक पर्वत में अग्नि का अस्तित्व ज्ञात होता है। दूसरा बोध 'धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन' होता है। इसमें धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व से अवच्छिन्न मात्र में अग्नि की आश्रयता परिलक्षित होती है। यहाँ 'अवच्छेदकावच्छेदेन' प्रतीति में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व में प्रतीत होनेवाला 'अवच्छेदकत्व' प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध में प्रतीत होने वाली धर्मितावच्छेदक की व्यापकता निरूपित व्याप्यत्व ही है। जब पर्वत मात्र में अग्नि की आश्रयता प्रतीत होती है तो उसे नैयायिक अवच्छेदकावच्छेदेन-बुद्धि कहते हैं। उनका आशय यह होता है कि धर्मितावच्छेदक प्रकारतावच्छेदक संसर्ग से व्याप्य होता है तथा प्रकारतावच्छेदक संसर्ग उसका व्यापक होता है। उदाहरणार्थ, जब हम पर्वत अग्निमान् है ऐसा कहते हैं तब पर्वत और अग्नि के बीच होने वाला संयोग सम्बन्ध पर्वतत्व का व्यापक प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ पर्वतत्व है वहाँ-वहाँ अग्नि का संयोग है। इस प्रकार अग्नि-संयोग में पर्वतत्व की व्यापकता प्रतीत होने से उससे निरूपित व्याप्यता पर्वतत्व में प्रतीत होती है। यही व्याप्यता ही 'धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन बुद्धि' होने पर धर्मितावच्छेदक (पर्वतत्व) में प्रतीत होने वाला अवच्छेदकत्व होती है।

सामानाधिकरण्येन (किसी एक पर्वत में अग्नि की) बुद्धि होने में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व में उक्त प्रकारतावच्छेदक संसर्ग में प्रतीत होने वाली व्यापकता से निरूपित व्याप्यत्व-रूप-अअवच्छेदकत्व नहीं रहता है। इसका असर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव के विचार के प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

धर्मितावच्छेदक सामानाधिकरण्येन तद्वताबुद्धि या तद्व्याप्यवत्ताबुद्धि

अवच्छेदकावच्छेदेन तद्भाववत्ताबुद्धि को प्रतिबन्ध करती है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है - किसी एक पर्वत में अग्नि का ज्ञान या किसी एक पर्वत में अग्निव्याप्य धूम का ज्ञान होने पर पर्वत मात्र में अग्नि के अभाव का ज्ञान नहीं होता है यह अनुभव-सिद्ध है। अतः सामानाधिकरण्येन होने वाला तद्वता ज्ञान तदभाववत्ता का अवच्छेदकावच्छेदेन होने वाले ज्ञान का विरोधक होता है।[६५]

अनुमिति में साध्य की सिद्धि की प्रतिबन्धकता के प्रसङ्ग में भी अवच्छेदकावच्छेदेन ज्ञान और सामानाधिकरण्येन होने वाले ज्ञान की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि (किसी एक पक्ष में साध्य का ज्ञान) उसी पक्ष में होने वाली अनुमिति की विरोधी होती है, परन्तु अवच्छेदकावच्छेदेन साध्य की सिद्धि दोनों ही प्रकार की अनुमितियों की विरोधी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि पर्वत मात्र में साध्य की सिद्धि होने पर न तो पर्वत मात्र में अनुमिति होती है और न ही पर्वत-विशेष में अनुमिति होती है।[६६]

अग्रिम पंक्तियों में अवच्छेदकता को सम्बन्ध मानने की युक्तियों का तथा विभिन्न प्रकार की अवच्छेदकताओं का उदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

अवच्छेदकता का स्वरूप तथा भेदों के विषय में पूर्व अध्याय में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। जिस प्रकार प्रतियोगिता का सम्बन्ध के रूप में प्रयोग होता है उसी प्रकार अवच्छेदकता का भी सम्बन्ध के रूप में अनेकत्र प्रयोग किया जाता है। किंबहुना अवच्छेदकता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किये बिना अनेकत्र उपस्थित कार्य-कारण-भाव का सुविचारित स्पष्टीकरण ही नहीं किया जा सकेगा। किन्हीं दो वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव बनने के लिये यह आवश्यक होता है कि वे दोनों ही वस्तुएँ एक स्थान में विद्यमान हों। लेकिन बहुत से ऐसे कार्य-कारण-भाव व्यवहार में देखे जाते हैं जहाँ कार्य और कारण (संयोग आदि) प्रसिद्ध सम्बन्धों से एक स्थान में (याने एकत्र) नहीं रहते हैं। परन्तु फिर भी उनमें कार्य-कारण-भाव माना जाता है। इस प्रकार के कार्य-कारण-भावों की व्याख्या करने के लिये प्रसिद्ध सम्बन्धों से भिन्न अवच्छेदकता (नियामकत्व) आदि सम्बन्धों का सहारा लेना पड़ता है।

उदाहरणार्थ, शाब्द-बोध, अनुमिति आदि प्रकार के (ज्ञानात्मक) कार्यकारण-भाव दो प्रकार से [६७] बनते हैं। आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से और विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से। याने इस प्रकार के ज्ञान के दोन प्रकार के नियामक होते हैं- आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियमित और विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियमित। 'आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से' (आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्या) का अर्थ होता है आत्मा (याने जानने वाले व्यक्ति) में रहनेवाले सम्बन्ध से, तथा 'विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से' (विषयनिष्ठ प्रत्यासत्या) का अर्थ होता है विषय में रहनेवाले सम्बन्ध से। शाब्द-बोध होने के लिये (याने शब्द से किसी पदार्थ का ज्ञान होने के लिए) उक्त पदार्थ की उपस्थिति (का ज्ञान), योग्यता-ज्ञान (शब्दों की अबाधित अर्थवता का ज्ञान,) तात्पर्य-ज्ञान (वक्ता को ईप्सित अर्थ का ज्ञान) आदि कारण (नियामक) होते हैं। शाब्द-बोध यह ज्ञान होने से वह आत्मा में समवाय सम्बन्ध से

उत्पन्न होता है। अतः उक्त ज्ञान के उपर्युक्त योग्यता-ज्ञान आदि कारण (नियामक) आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः समवाय सम्बन्ध से शाब्द-बोध होने के लिये समवाय सम्बन्ध से योग्यता-ज्ञान का जो कार्य-कारण-भाव है वह आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्त्या कार्य-कारण-भाव कहा जाता है।

प्रत्यासत्ति का अर्थ है सम्बन्ध। योग्यता-ज्ञानादि शाब्द-बोध के कारण आत्मा (व्यक्ति) में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। वहीं पर (आत्मा में) शाब्दबोध भी समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। समवाय सम्बन्ध से शाब्द-बोध उत्पन्न होने के लिये समवाय सम्बन्ध से योग्यता-ज्ञान का जो कार्य-कारण-भाव है वह आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियन्त्रित होनेवाला कार्य-कारण-भाव माना जाता है। इसी प्रकार अनुमिति और परामर्श में जो कार्य-कारण-भाव होता है (परामर्श अनुमिति का कारण है) वह भी आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से होता है। परन्तु केवल आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से ही ज्ञानजनक कार्यकारण-भाव नियन्त्रित होता है ऐसा मानने पर आपत्ति यह होती है कि जहाँ समवाय सम्बन्ध से अश्व की उपस्थिति है वहाँ गौ का भी शाब्द-बोध होना चाहिये। लेकिन वैसा वह नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिये उक्त कार्य-कारण-भाव में विषय का ग्रहण भी करना अनिवार्य हो जाता है। अर्थात् यह मानना पड़ता है कि समवाय सम्बन्ध से गौ-विषयक शाब्द-बोध होने के लिये समवाय सम्बन्ध से गौ-विषयक उपस्थिति कारण है। इस प्रकार प्रत्येक विषय का अलग अलग ग्रहण करने पर तथा ज्ञेय विषय अनन्त होने से तथा अनन्त विषयों के उल्लेख से गौरव दोष होता है उसे टालने के लिये नैयायिक को विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से भी ज्ञानात्मक कार्यकारण-भाव की व्यवस्था स्वीकार हैं।

जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आत्मा से सम्बन्धित है (इसी का उल्लेख सामान्यतः ज्ञान आत्मा में रहता है ऐसा बता कर किया जाता है।) उसी प्रकार ज्ञान विषयता सम्बन्ध (जिसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा) से विषय से भी सम्बन्धित रहता है। उदाहरणार्थ, शाब्द-बोध यह ज्ञान है। इसलिये वह और योग्यता-ज्ञानादि उसके कारण जिस प्रकार आत्मा से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार विषयता सम्बन्ध से विषय से भी सम्बन्धित हैं। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार आत्मा और ज्ञान में होनेवाला समवाय सम्बन्ध ज्ञान का नियामक है उसी प्रकार विषय में रहनेवाला विषयता सम्बन्ध भी उक्त ज्ञान का नियामक है।) विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति याने विषय में रहनेवाला विषयता-रूप सम्बन्ध। उस सम्बन्ध से शाब्द-बोध और उसके कारण विषय में सम्बन्धित होने से उनमें नियम्य-नियामक-भाव सम्बन्ध (और उस सम्बन्ध के आधारपर कार्य-कारण-भाव) सिद्ध होता है। और उसके स्पष्टीकरणार्थ अवच्छेदकता का सहारा लेना पड़ता है। यह विषयता अनेक प्रकार की होती है। जैसे, 'श्वेताश्व' यहाँ पर अश्व में रहनेवाली विषयता विशेष्यता या धार्मिता के रूप में गृहीत होती है। अश्व के समान अश्वत्व सामान्य भी उक्त ज्ञान का विषय होनेसे (क्योंकि किसी भी व्यक्ति का ज्ञान जाति के व्यतिरिक्त नहीं होता है ऐसा नैयायिक स्वीकार करते हैं।) उसमें रहनेवाली विषयता धर्मितावच्छेदकता (याने धर्मिता की नियामक) की अवच्छेदक संसर्गता के

रूप में प्रतीत होती है, जबकि श्वेत रूप में रहनेवाली विषयता प्रकारता, श्वेतत्व में प्रकारतावच्छेदकता तथा श्वेत और श्वेतत्व के बीच होनेवाले समवाय सम्बन्ध में रहनेवाली विषयता, प्रकारतावच्छेदकता वच्छेदकता के रूप में मानी जाती है।

विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से जो कार्य-कारण-भाव माना जाता है वहाँ कार्य (शाब्दबोध आदि) विषयता सम्बन्ध से विषय की ओर से नियन्त्रित होता है, आत्मा (व्यक्ति) से नहीं। और वहीं पर (याने विषय से) कारण भी उसी सम्बन्ध से रहने के कारण ही विषय में और शाब्दबोध तथा उसके कारण योग्यता-ज्ञानादि में कारण-कार्य-भाव सिद्ध होता है। (यही बात नैयायिक सामान्यतः इस प्रकार बताते हैं -ज्ञान जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है उसी प्रकार वह विषयता सम्बन्ध से विषय में रहता है। इसका मतलब इतना ही है कि जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से आत्मा (ज्ञान का आश्रय होने से) ज्ञान का नियामक है उसी प्रकार विषय (विषय में रहनेवाली विषयता का आश्रय) विषयता सम्बन्ध से ज्ञान का नियामक है। उदाहरणार्थ, 'नीलोत्पलम्' इस वाक्य से होनेवाला शाब्द-बोध धर्मिता-रूप विषयता सम्बन्ध से उत्पन्न का होता है, क्योंकि उत्पल यहाँ पर धर्मि (विषय) है। अतः धर्मिता उत्पल में होने से धर्मिताख्य विषयता सम्बन्ध से शाब्द-बोध उत्पल (में होता है) से नियन्त्रित होता है, और उसी उत्पल से (याने उत्पल में होनेवाले धर्मिताख्य विषयता सम्बन्ध से) योग्यता-ज्ञानादि भी नियन्त्रित होते हैं। उसी तरह उक्त वाक्य से होने वाला शाब्द-बोध उत्पलत्व में होनेवाले धर्मितावच्छेदकता सम्बध से नियन्त्रित होता है। क्योंकि 'उत्पलत्व' यहाँ उत्पल में रहनेवाली धर्मिता का अवच्छेदक (नियन्त्रक) है। उसी प्रकार उसी वाक्य से होनेवाला शाब्दबोध प्रकारता नामक विषयता सम्बन्ध से 'नील' से नियन्त्रित होता है नील वहाँ प्रकार के रूप प्रतीत होता है, जबकि नील में रहनेवाला नीलत्व यह धर्म प्रकारतावच्छेदक (प्रकारता का नियन्त्रक) के रूप में भासित होने से प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से वही शाब्दबोध नीलत्व से नियन्त्रित होता है। नील और नीलत्व का जो समवाय सम्बन्ध भी उक्त शाब्दबोध का विषय होता है वहाँ प्रकारतावच्छेदकतावच्छेकता सम्बन्ध से शाब्दबोध नियन्त्रित होता है। इस प्रकार उत्पल, उत्पलत्व, उनका समवाय, नील, नीलत्व और उनका समवाय, तथा उत्पल और नील का अभेद सम्बन्ध (क्योंकि उत्पल और उसका नील धर्म एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते) ये सभी उक्त वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के विषय होने से ये सभी अलग अलग सम्बन्धों से उक्त शाब्दबोध के नियन्त्रक या नियामक हैं। इसलिये धर्मितावच्छेदकता आदि सम्बन्धों से उक्त शाब्दबोध के लिये उन्हीं सम्बन्धों से उपस्थिति इत्यादि को कारण मानना पड़ता है। इसके फलस्वरूप उक्त प्रकार के शाब्दबोध के स्पष्टीकरणार्थ तत् तत् वस्तुओं में रहने वाली अवच्छेदकताओं का सम्बन्ध के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके बिना विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियन्त्रित होनेवाला कार्यकारण भाव ही उचित रूप से व्याख्यात नहीं हो सकेगा।

जब 'नीलोत्पलम्' इस वाक्य से होनेवाले शाब्दबोध के विषय जितने पदार्थ

होते है उनमें प्रत्येक से भिन्न सम्बन्ध से शाब्दबोध नियन्त्रित होता है। इसका चित्रण निम्नप्रकार से किया जा सकता है।

इस चित्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न पदार्थों की स्थिति एक दूसरे के समान नहीं है। उनमें रहने वाली अलग-अलग विशेषताएँ उनकी भिन्न-भिन्न स्थिति को स्पष्ट करती हैं। इस तरह उक्त चित्र में दिग्दर्शित प्रत्येक पदार्थ का उक्त शाब्दबोध में भान होता है। अतः उनमें से प्रत्येक से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध
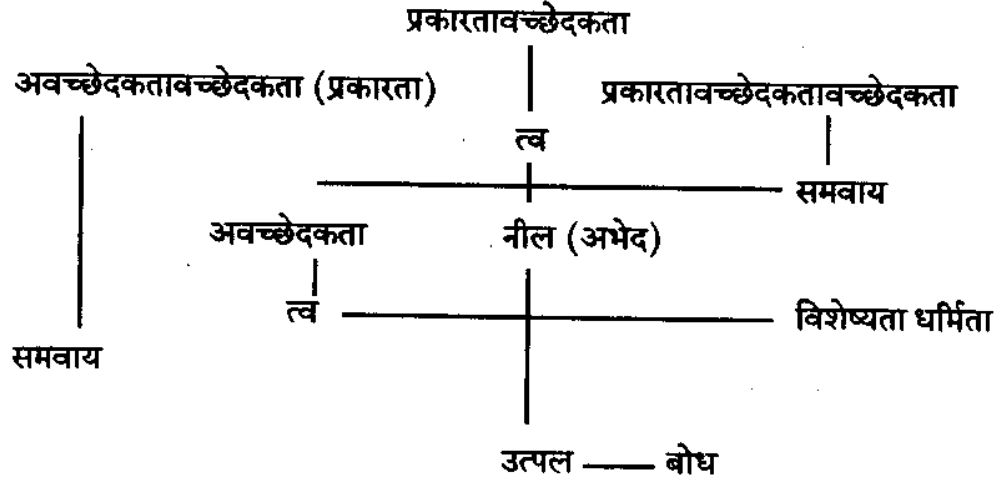
नियन्त्रित होता है। जैसे, उत्पलत्व से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उक्त शाब्दबोध नियन्त्रित होता है, तो नीलत्व से प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से वह नियन्त्रित होता है। इस प्रकार अवच्छेदकता का सम्बन्ध के रूप में व्यवहार होता है।

इस प्रकार विषयनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर शाब्दबोध का कार्यकारण की भाषा में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जाता है-विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध होने के लिये विषयता सम्बन्ध से उक्त पदार्थ की उपस्थिति कारण होती है।

यहाँ 'विषयनिष्ठप्रत्यासत्या' और 'आत्मनिष्ठत्यासत्या' इन दोन प्रकार के शाब्दबोध के नियामक कार्य-कारण-भावों पर कुछ और प्रकाश ड़ालना अप्रासंगिक नहीं होगा।

ऊपर यह बताया गया कि विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध होने के लिये विषयता सम्बन्ध से उक्त पदार्थ की उपस्थिति कारण है। इस प्रकार का कार्यकारण-भाव विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से नियन्त्रित होनेवाला कार्य-कारण-भाव है यह पहले ही कहा जा चुका है। विषयता यह विषय में रहनेवाली प्रत्यासत्ति अर्थात् सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध से आत्मा को (में) शाब्दबोध होने के लिये समवाय सम्बन्ध से शाब्दबोध की उपस्थिति कारण है यह आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति अर्थात् समवाय सम्बन्ध से होनेवाला कार्य-कारण-भाव है।

देवदत्त को पद से पदार्थ की उपस्थिति (ज्ञान) होने से यज्ञदत्त को शाब्दबोध होने की आपत्ति के निवारण हेतु कार्यकारण-भाव के विचार में 'तत्पुरुषीयत्व' का

उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। अर्थात्, जिस पुरुष को जो शाब्दबोध होता है उस शाब्दबोध के लिये उसी पुरुष को होनेवाला पदार्थज्ञान कारण है। इस प्रकार विषयनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर कार्य-कारण भाव स्वीकार करने के बावजूद 'तत्पुरुषीयत्व' का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, जबकि 'आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्त्या' कार्य-कारण-भाव का निर्धारण करने पर उसकी आवश्यकता नहीं होती। कार्य और कारण का एक स्थान में रहना आवश्यक होने से तथा समवायेन शाब्दबोध आत्मा (व्यक्ति) में उत्पन्न होने से तथा व्यक्ति अनेक होने से जिस व्यक्ति में पदार्थ की उपस्थिति रहेगी (याने जिस व्यक्ति को पदार्थ का ज्ञान होगा) उसी व्यक्ति को शाब्दबोध होने से तत्पुरुषीय के स्वतन्त्र उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति तथा आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति ऐसी दो प्रकार की प्रत्यासत्तियाँ उक्त प्रकार के शाब्दबोध की नियामक होती है ऐसा स्वीकार करने के बजाय मात्र आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति वाला कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने में लाघव है ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से आत्मा (व्यक्ति) में घट पदार्थ की उपस्थिति (ज्ञान) होने पर पट पदार्थ का शाब्दबोध होने की आपत्ति के निवारण के हेतु उक्त कार्य-कारण-भाव में विषयों का उल्लेख करना आवश्यक होता है। लेकिन इस प्रकार प्रत्येक विषय का उल्लेख करने से उक्त कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा गौरव दोष ही प्रतीत होता है। विषयनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर कार्य-कारण-भाव की स्थापना में विषय का अलग उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि विषय का विषयता सम्बन्ध में अन्तःप्रवेश रहता है। जब घट में विषयता सम्बन्ध से उपस्थिति है (याने जब विषयता सम्बन्ध से घट का ज्ञान होता है) तो पट के बोध की आपत्ति के लिये कोई अवसर नहीं रहता है। कार्य और कारण दोनों एक स्थान में उपस्थित होना नियमतः आवश्यक होने से जब कारण पदार्थ की उपस्थिति आदि विषयता सम्बन्ध से घट में रहती है, तब उसका कार्य शाब्दबोध भी उसी सम्बन्ध से घट में उत्पन्न होता है जहाँ उपस्थिति-रूप कारण रहता है। विषयों के भिन्न-भिन्न होने के कारण विषयों में रहनेवाली विषयतायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिये जिस घट में विषयता सम्बन्ध से उपस्थिति आदि शाब्दबोध के कारण रहेंगे उसी में (याने उसी विषय से) उस सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न होगा (याने नियन्त्रित होगा)। उक्त प्रकार की विषयता पट में न होने से घट की उपस्थिति होने पर पट का शाब्दबोध नहीं होगा। इस प्रकार से उक्त कार्य-कारण-भाव में विषय का अतिरिक्त उल्लेख करने की आवश्यकता न होनें से आत्म (व्यक्ति) निष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा लाघव है।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मान लीजिये एक ही घट देवदत्त के ज्ञान का विषय हुआ और वही घट उमादत्त के ज्ञान का भी विषय हो सकता है। तो वहाँ देवदत्त को घट का ज्ञान होने के बाद उमादत्त को भी शाब्दबोध होना चाहिये, क्योंकि कार्य और कारण की उपस्थिति और शाब्दबोध विषयता सम्बन्ध से घट (में) से ही नियन्त्रित होने से उनमें 'सामानाधिकरण्य' अक्षुण्ण ही है। उपस्थिति तथा शाब्दबोध के

आश्रय व्यक्तियों की भिन्नता विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर होनेवाले कार्य-कारण-भाव में बाधक नहीं है।

विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने पर विषय ही विषयता सम्बन्ध से पदार्थ की उपस्थिति तथा शाब्दबोध का आश्रय (याने नियामक) होने से यज्ञदत्त को गो की उपस्थिति होने पर देवदत्त को शाब्दबोध होने की जो आपत्ति होती है उसके निवारण के हेतु कार्य-कारण-भाव में 'तत्पुरुषीय' का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने पर 'तत्पुरुषीय' का उल्लेख करने से आत्म (व्यक्ति) निष्ठ प्रत्यासत्ति से होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा गौरव दोष होता है, क्योंकि आत्म (व्यक्ति) निष्ठ सम्बन्ध (समवाय) के आधार पर कार्य-कारण-भाव का विवेचन करने पर 'तत्पुरुष' के उल्लेख की आवश्यकता नही होती है। इस तरह उसमें लाघव होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ विशेषण और विशेष्य की संख्या समान होती है -जैसे, 'नीलोघटः' इत्यादि में एक हा विशेषण और एकही विशेष्य होता है - वहाँ विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करें या आत्म (व्यक्ति) निष्ठ कार्य-कारण-भाव स्वीकार करें कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर तत्पुरुषीयत्व का निवेश स्वतन्त्रतया नहीं करना पड़ता है। उसी प्रकार ऐसी अवस्था में विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर विषय का स्वतन्त्र उल्लेख न करने से लाघव होता है। परन्तु पहले प्रकार के कार्य-कारण-भाव में विषय का उल्लेख करना पड़ता है जबकि दूसरे में 'तत्पुरुषीयत्व' का उल्लेख करना पड़ता है। इस प्रकार दोनों तरह के कार्य-कारण-भावों में एक लाघव तथा और एक गौरव होने से बराबरी ही रहती है।

परन्तु जहाँ विशेषण और विशेष्य समसंख्याक नहीं होते याने जिनमें न्यूनाधिक्य होता है वहाँ आत्म (व्यक्ति) निष्ठ सम्बन्ध से होने वाले कार्यकारण-भाव की अपेक्षा विषयनिष्ठ सम्बन्ध से होने वाले कार्य-कारण-भाव के स्वीकार में लाघव होता है। जैसे 'नीलो घट; पीतो घट; सुन्दरो घट;' आदि। यहाँ पर विशेषण नील, पीत, सुन्दर आदि अनेक हैं, जबकि विशेष्य एक ही है। वहाँ यदि आत्म (व्यक्ति) निष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार किया तो 'समवायेन नीला घटः' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के लिये समवायेन नील घट की उपस्थिति को कारण मानना पडेगा, तथा 'पीतो घटः' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के लिये समवायेन पीत घट की उपस्थिति को कारण मानना पडेगा। लेकिन इस प्रकार से पृथक् पृथक् कार्य-कारण-भावों को स्वीकार करने पर अत्यन्त गौरव दोष होता है।

विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधारपर शाब्दबोध का कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने पर प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से तत्पुरुष के शाब्दबोध के लिये प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से तत्पुरुष को होने वाली पदार्थ की उपस्थिति कारण होती है। इसलिये एक ही प्रकार के कार्य-कारण-भाव के आधार पर 'नीलो घटः' 'पीतो

घटः' 'सुन्दरो घटः' इत्यादि अनेक घट-विशेष्य वाले सभी वाक्यों से होनेवाले शाब्दबोध और उसके लिये कारण होने वाले पदार्थोप-स्थिति इत्यादि के कार्य-कारण-भावों की एकरूपता (अनुगम) स्थापित होती है। जहाँ नीलत्व, पीतत्व और सुन्दरत्व में शाब्दबोध के लिये आवश्यक उपस्थित्यादि कारण प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से रहते है वहीं पर शाब्दबोध भी प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। वहाँ कार्य-कारण-भाव के उच्चारण में अनेक नील, पीत आदि विशेषणों के स्वतन्त्र उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं होती है। विशेष्य (घट) एक है। अतः उसीका 'घटत्वावच्छिन्न' कह कर उच्चारण किया जाता है। इसलिये आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा लाघव होता है। आत्मनिष्ठ समवाय सम्बन्ध के आधार पर वहाँ कार्य-कारण-भाव होने से वहाँ विशेष्य और प्रकारों का उच्चारण आवश्यक होता है।

उसी प्रकार 'घटो नीलः', 'पटो नीलः', 'मठो नीलः' इन वाक्यों से होने वाले शाब्द-बोध में जहाँ विशेष्य अनेक है और विशेषण एक ही है वहाँ भी आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर समवाय सम्बन्ध से नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता वाले शाब्दबोध के लिये समवाय सम्बन्ध से नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित से घट में रहने वाली विशेष्यता वाल पदार्थ की उपस्थिति को कारण मानने पर उन-उन वाक्यों से होने वाले शाब्द-बोध और उनके अनुरूप पदार्थों की उपस्थिति के अलग-अलग ही कार्य-कारण-भाव मानने पर महान् गौरव दोष होता है।

इसके विरूद्ध विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति के आधार पर कार्य-कारण-भाव का विधान करने पर उक्त प्रत्यासत्ति के आधार पर उक्त वाक्यों से होने वाले शाब्द-बोध का कार्य-कारण-भाव इस प्रकार का होगा-नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से होने वाले उस व्यक्ति के शाब्द-बोध के लिये उसी सम्बन्ध से उसी व्यक्ति का पदार्थ-ज्ञान (उपस्थिति) कारण है। इस प्रकार का कार्य-कारण-भाव मानने पर एक ही कार्य-कारण-भाव के आधार पर 'घटो नीलः' इत्यादि एक नील विशेष्य वाले सभी वाक्यों के शब्द-बोध और उपस्थिति सम्बन्धी कार्य-कारण-भाव की एकरूपता स्थापित होती है। क्योंकि घटत्व, पटत्व, मठत्व में जहाँ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से जिस व्यक्ति की उपस्थिति कारण मे रहते हैं वहाँ पर उक्त सम्बन्ध से उस व्यक्ति को शाब्द-बोध होता है। अनेक घट,पट आदि विशेष्यों के अलग-अलग उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। विशेषण एक ही होने से उसी का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव मानने पर आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्ति से होने वाले कार्य-कारण-भाव की अपेक्षा लाघव होता है। क्योंकि उक्त कार्य-कारण-भाव में विशेष्य और विशेषण दोनों का ही उल्लेख करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार जहाँ विशेषण एकाधिक होते हैं वहाँ प्रकारतावच्छेदकता सम्बन्ध से

कार्य-कारण-भाव कहना उचित होगा। अनेक विशेषणों के स्वतन्त्र उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार जहाँ विशेष्य अनेक होते हैं वहाँ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से कार्य-कारण-भाव कहना चाहिये। यहाँ अनेक विशेष्यों के अलग-अलग उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार विषयनिष्ठ प्रत्यासत्ति से कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने में लाघव होने से उसे स्वीकार करने पर 'प्रकारतावच्छेदकता' तथा 'धर्मितावच्छेदकता' को सम्बन्ध के रूप में प्रयुक्त करना पड़ता है। यही कारण है कि 'घटोघटः' यहाँ पर अभेदान्वय बोध की आपत्ति उठायी जाने पर आपाद्य के अभाव होने से उक्त आपत्ति नहीं शेष रहती इस उत्तर के विरोध में गदाधर ने कहा है कि वहाँ द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले शुद्ध घट-प्रकारक अभेदान्वयबोध की घटत्वादि में आपत्ति सम्भव है।[६८]

केवल विषयतारूप अवच्छेदकता को ही सम्बन्ध माना है[६९] यह बात नहीं है। अन्य दैशिकादि अवच्छेदकताओं को भी सम्बन्ध माना गया है। रघुनाथ शिरोमणि[७०] के 'एकावच्छेदेन यावद्विशेषाभावत्वस्योपाधित्वाच्च' इस दीधिति वचन की व्याख्या करने हुए जगदीश[७१] ने कहा है कि एकावच्छेदेन का तात्पर्य है "अवच्छेदकता सम्बन्ध से तत् तत् अभावाधिकरण-स्थान का अवच्छेद्यता सम्बन्ध से अभाव होने से"। 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' यहाँ शाखा, मूल आदि अवच्छेदकता-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले कपिसंयोगाभाव के अधिकरण होते हैं। इस प्रकार वृक्ष में जो कपिसंयोगाभाव प्रतीत होता है उसका अधिकरण अवच्छेदकता सम्बन्ध से मूल होने से वह (कपिसंयोगाभाव) वृक्ष में माना जाता है (यद्यपि कपि उसी वृक्ष की शाखा पर बैठा हो)।

आत्मा को 'इन्द्रियाधिष्ठाता' कहा गया है। आत्मा इन्द्रियादिकों का अधिष्ठाता है यह कहने का अर्थ यह है कि इन्द्रियों और शरीर में परम्परा सम्बन्ध से वह चैतन्य का सम्पादक है। 'परम्परा' का अर्थ है जनकता-सम्बन्ध या अवच्छेदकता सम्बन्ध।[७२] आत्मा में ज्ञान शरीरावच्छेदेन उत्पन्न होता है। अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से आत्मा में रहने वाला चैतन्य शरीर में रहता है। इस प्रकार न्यायशास्त्र में अनेकत्र अवच्छेदकता का सम्बन्ध के रूप में स्वीकार कर अनेक संकल्पनाओं का आख्यान किया गया है।

अवच्छेदकताओं के कुछ प्रयोग

वैसे तो किसी भी पदार्थ में रहने वाली शक्ति को ले कर उसके साथ अवच्छेदकता को उसके नियामक के रूप में ग्रहण कर उसमें अवच्छेदकता को समाविष्ट कर के अनन्त अवच्छेदकताएँ प्रदर्शित की जा सकती हैं। परन्तु नव्यन्याय में जिनका अत्यधिक प्रयोग होता है ऐसी लगभग सत्रह शक्तितयाँ स्वीकार की जाती हैं और उनके नियामक धर्मों का अवच्छेदक के रूप में प्रयोग होता है। उनमें से कुछ इस प्रकार की हैं-

प्रतियोगितावच्छेदकता

अभावीय प्रतियोगितावच्छेदकता का प्रयोग नव्यन्याय में व्याप्ति आदि के लक्षणों में बहुतायत से होता है। जैसे व्याप्ति का लक्षण-'साध्याभावाधिकरण-

निरूपितवृत्तित्वाभाव'। यहाँ 'वृत्तित्वाभाव' तथा 'साध्याभाव' इन दोनों का ही अर्थ क्रमशः 'वृत्तितात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' ७३ और 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' ७४ होता है। इन्हें निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है-

प्रथम उदाहरण में वृत्तिता में रहने वाली प्रतियोगिता वृत्तितात्व से नियमित होने से उसका अवच्छेदक वृत्तितात्व है। अतः उसमें प्रतियोगिता की अवच्छेदकता है।
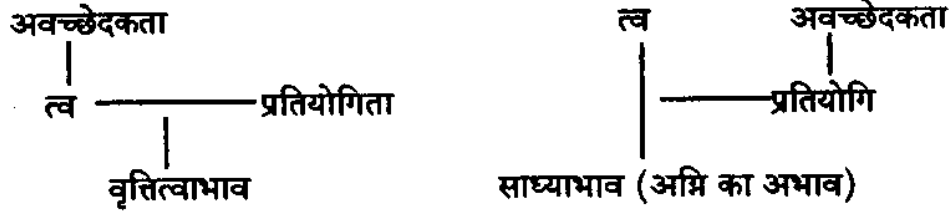
दूसरे उदाहरण में सध्याभाव के रूप में अग्नि के अभाव का ग्रहण होता है। अतः अग्नि में रहने वाली अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक अग्नित्व होता है। अतः अग्नित्व में उक्त अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता रहती है।

विषयतावच्छेदकता

दूसरी अत्यधिक प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति विषयता है। इस शक्ति की चर्चा ज्ञान के सन्दर्भ में होती हैं। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह वस्तु उस ज्ञान का विषय होती है। और उस विषय में रहने वाली शक्ति विषयता है। वह (विषयता) जिस धर्म से नियमित होती है वह विषयतावच्छेदक कहलाता है, तथा उसमें रहने वाली शक्ति का नाम अवच्छेदकता है। जब हमें पर्वत पर अग्नि का ज्ञान होता है तो अग्नि में रहने वाली विषयता अग्नित्व धर्म से नियमित होने के कारण अग्नित्व में अवच्छेदकता रहती है।
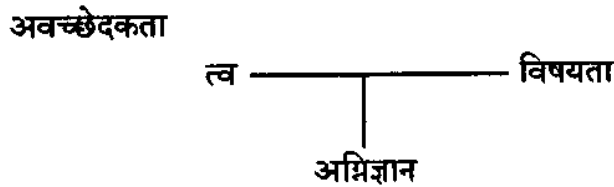
अपर्युक्त उदाहरण में अग्नि और ज्ञान ये दो पदार्थ हमें दृष्टीगोचर होते है। उनमें से एक विषय (अग्नि) और दूसरा विषयी (ज्ञान) है।
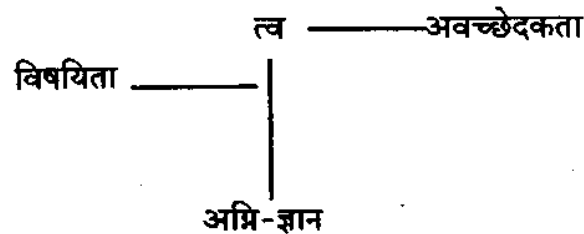
जिस प्रकार अभाव में अनुयोगिता होती है उसी प्रकार विषयी में विषयिता होती है। जिस प्रकार विषयता की अवच्छेदकता अग्नित्व में होती है उसी प्रकार विषयिता की अवच्छेदकता ज्ञानत्व में रहती है।

निरूपकतावच्छेदकता

निरूपकता और निरूप्यता का प्रयोग भी नव्य-न्याय में अत्यधिक मात्रा में होता है। जब हम घट का अभाव या अग्नि का अभाव कहते हैं तो अभाव की प्रतियोगिता वस्तु (जैसे यहाँ घट या अग्नि) में आती है, तथा अवच्छेदकता घटत्व या अग्नित्व में रहती है। उस अवच्छेदकता तथा प्रतियोगिता के बीच जो सम्बन्ध है उसे निरूप्य-निरूपक-भाव कहते हैं। अग्नि का अभाव कहने पर अग्नि में रहने वाली अभाव की प्रतियोगिता अग्नित्व में रहने वाली अवच्छेदकता से निरूपित होती है। चूंकि प्रतियोगिता निरूप्य होने से अवच्छेदकतात्व निरूपकतावच्छेदक होता है। चूंकि प्रतियोगिता निरूप्य है अतः उसमें निरूप्यता है और उसकी अवच्छेदकता प्रतियोगितात्व में रहती है।[७५]

उसी प्रकार प्रतियोगिता और अभाव का भी निरूप्य-निरूपक भाव माना जाता है। इसलिये प्रतियोगिता का निरूपक अभाव होने से अभावत्व निरूपकतावच्छेदक होता है, तथा प्रतियोगितात्व निरूप्यतावच्छेदक होता है और उनमें क्रमशः निरूपकतावच्छेदकता तथा निरूप्यतावच्छेदकता रहती है।
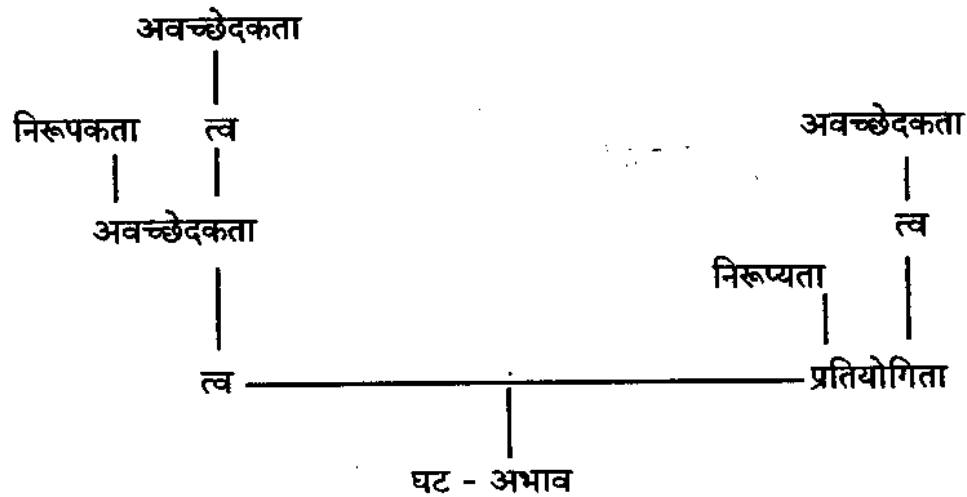
इसी प्रकार से साध्यतावच्छेदकता, हेतुतावच्छेदकता, कार्यतावच्छेदकता, कारणतावच्छेदकता, आधेयतावच्छेदकता, अधिकणतावच्छेदकता, अनुयोगितावच्छेदकता, शक्यतावच्छेदकता, लक्ष्यतावच्छेदकता, अवच्छेदकतावच्छेदकता आदि का प्रयोग नव्य-न्याय में वारंवार होता है और उन्हें उपर्युक्त उदाहरणों जैसे उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। तथापि इस प्रकार की चर्चा की गहराई में न उत्तर कर विषगता और उसके भेदों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

टिप्पणियाँ

१. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; अवयववयविनोः जातिव्यक्त्योः गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावन्तोः विशेषनित्यद्रव्ययोश्च य सम्बन्धः स समवायः। न्यायसिद्धान्तुमुक्तावल्यां समवायनिरूपणे
२. जगदीश तर्कालङ्कार; वह्नित्वावच्छिन्नस्य सर्वस्यैव धूमादिमन्निष्ठाभाव प्रतियोगितावच्छेदकीभूत तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नत्वादव्याप्तिरिति। जागदीशी सिद्धान्तलक्षणे
३. पण्डित हरिराम शुक्ल; सर्वत्राभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिग्रहस्याऽपेक्षितत्वात्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याः टिप्पण्यम्
४. गंगेशोपाध्याय; तद्विशिष्टज्ञानस्याऽभावधीहेतुत्वात्, अन्यथा निर्विकल्पादपि घटो नास्तीति प्रतीत्यापत्तेः। गविशशशृंगाभावप्रतीतेरसिद्धेः, शशशृङ्गो नास्तीति च शशे शृङ्गाभाव इत्यर्थः। तत्त्वचिन्तामणि व्यधिकरणप्रकरणे
५. तत्रैव, व्याप्तिपञ्चके
६. मथुरानाथ तर्कवागीश; सकलसाध्याभाववन्निष्ठाअभावप्रतियोगितावच्छेदक हेतुतावच्छेदकधर्मवत्वम्। व्याप्तितपञ्चकरहस्ये चतुर्थलक्षणम्
७. जगदीश तर्कालङ्कार; बाधनिश्चयादिप्रतिबन्धकत्वानुरोधेनैव भेदात्यन्ताभावयोर्गोत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितकत्वोपगमात्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे
८. शिवदत्त मिश्र; केचित् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावानुरोधाभावेऽपि बाधनिश्चयाभावस्य कारणत्वानुरोधेनापि तत्स्वीकार आवश्यकः। तत्र हि तादृश निश्चयत्वावच्छिन्नाभात्वेनैव कारणत्वम्। अन्यथा यत्किञ्चिदबाधनिश्चयाभावसत्वेऽपि तद्वत्ताबुद्ध्युत्पदापत्तेरिति आहुः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणटिप्पण्याम्।
९. वस्तुतो महानसीयत्वोपलक्षित वह्न्यभाववत्तानिश्चयस्यापि केवलवह्निमताबुद्धौ प्रतिबन्धकत्वात्। तत्र च केवलवह्नित्वपर्याप्तावच्छेदताक प्रकारताकत्वविरहात्तस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिः। न च तत्रावच्छेदकतायाः महानसीयत्वविह्नत्वधर्मद्वयपर्याप्ततया नैकदोष इति वाच्यम्। वह्नित्वमात्रावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं युक्तमिति। वहीं
१०. वेणीमाधव शुक्ल; अवच्छेदकतावैलक्षण्यमेव तद्वैलक्षण्यं साधयेत्। परिष्कारदर्पणे
११. यद्यवच्छेदकत्वं न स्वीक्रियते, वह्न्यभावविशिष्टबुद्धिप्रतिबध्यप्रतिबन्धकाभावादीनां केषामपि व्यवस्था न स्यात्। वहीं
१२. तत्र यथार्थ विशिष्टधीनियामकस्यैव सःबन्धत्वात्।
१३. दिनकर; अत्यन्ताभावीयसंयोगनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकतायाः संयोगत्वेनैवावच्छिन्नत्वात्। दिनकर्यां, अभावनिरूपणे
१४. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया,

विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्। न्यायासिद्धान्तमुक्तावल्यां, समवायनिरूपणे

१५. जगदीश; तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावीयप्रतियोगिता तत्सम्बन्धेन वृत्तिमत्येव प्रतियोगिनि स्वीक्रियते। जागदीशी, गङ्गाव्याख्यायाम्, सिद्धान्तलक्षणे

१६. ननु अनुभवबलान्न समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदक सम्बधादरः किन्तु बाधबुद्धिप्रतिबन्धकतायाः सम्बन्धविशेषनियन्त्रितत्वानुरोधेनैव, अन्यथा एकैकविधाभावाज्ञानस्य संयोगसमवायादि निखिलसंसर्गवगाहि-ज्ञानप्रतिबध्यत्वप्रसङ्गात्। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे, प्रथमलक्षणस्य गङ्गा व्याख्यायाम्

१७. गदाधर; नञ् पदं विना यादृशसमभिव्याहारस्थले यत्र धर्मिणि येन सम्बन्धेन यस्य विशेषणतया भानं तत्र नञ् समभिव्याहारे तत्र धर्मिणि तत्सम्बन्धावच्छिन्न तदभावः प्रतीयते। व्युत्पत्तिवादे

१८. जगदीश तर्कालङ्कर; कस्यचिदभावस्य केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वाऽवच्छिन्न-व्यवहारबलात् न तु सम्बन्धेन धर्मेण सर्वेण वा, समवायावच्छिन्नवन्ह्यभाव-प्रतियोगित्वं न तु संयोगावच्छिन्नमिति व्यवहारबलात्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

१९. अन्यथा भूतलं संयोगेन घटत्वावच्छिन्नं घटवत् इत्येवं निर्णयसत्वेऽपिभूतले संयोगेन घटत्वेन घटो नास्तीति प्रत्ययापत्तेः। तत्रैव, व्यधिकरणप्रकरणे, प्रथमलक्षणम्

२०. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नोप्यभावश्चेत्प्रामाणिकः तदा सर्वेसम्बन्धैस्तत् प्रतियोगिता अवच्छिद्यन्तामिति। तत्रैव गदाधर; स्वत्वादि सम्बन्धस्य वृत्यनियामकतया प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाऽप्रसिद्धेः। व्युत्पत्तिवादे

२१. ननु तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोन्योभाव इति प्रतीतिबलादेव तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वं प्रतियोगितायां स्वीकार्यम्। तदतिरिक्त-वृत्यनियामक सम्बन्धवच्छिन्नत्वं तु न। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणस्य गङ्गा व्याख्यायाम्

२२. जगदीश तर्कालङ्कर; साधनवन्निष्ठान्योन्याभाव प्रतियागिताया, साध्यता-वच्छेदकतादात्म्यसम्बन्धन्धावच्छिन्नत्वे मानाभावस्य स्वयमेव बौद्धधिकारटिप्पण्याँ उक्तत्वात्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

२३. गदाधर; वृत्यनियामक सम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽपि। व्युत्पत्तिवादे

२४. ननु वृत्यनियामक सम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वं न भवतीति नात्र श्रुतिरस्ति येन पुरुषो न राज्ञः इत्यत्र वृत्यनियामकस्य स्वत्वस्य पुरुषे राजाभाव-प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धत्वं न स्यातथा च पुरुषो न राज्ञः इत्यत्र स्वत्वस्यैवाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन संसर्गत्वमेवेति नात्र सर्वजनानुभव-स्यापलापापत्तिः। व्युत्पत्तिवादस्य आदर्शटीकायाम्।

२५. स्वरूपसम्बन्धरूपानतिरिक्तवृत्तित्वस्थानवच्छेदकता साधारणावच्छेदकतात्व-स्यैकस्याभावेन-व्याख्या, शिवदत्त मिश्र; जागदीशी अवच्छेदकत्व निरुक्तिः

२६. अवच्छेदकत्वञ्च अन्यूनवृत्तित्वमेव। जागदीशी , सिद्धान्तलक्षणे
२७. अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्मस्यैवावच्छेदकत्वम्। न्यायकोश, पृ. ८४
२८. अनतिरिक्तवृत्तित्वं स्वव्यापकतत्कत्वम्। गादाधरी सामान्य निरूक्तिः
२९. तथा च सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सति नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवाय लक्षणं, अतः प्रतियोग्यनुयोग्यात्मक स्वरूपसम्बन्धे नातिव्याप्तिः रामरुदी, समवाय प्रकरणे
३०. स्वरूपसम्बन्धविशेषः स च क्वचित् प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूत धर्मत्वम् न्यायकोश, पृ. ८४
३१. यथा प्रतियोगित्वादिः प्रतियोगित्वस्य प्रतियोगिस्वरूपतया क्लृप्तपदार्थत्वात् प्रतियोगितात्वेन संसर्गतावत्वाच्चअवच्छेदकत्व निरुक्ति, व्याख्या, शिवदत्त मिश्र
३२. पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगितात्वन्तु पटत्वमवच्छिन्नत्वं प्रतियोगित्वञ्चेति त्रितयमेव विशेषण विशेष्यभावापन्नं संसर्गः। जागदीशी, व्याप्तिपञ्चकम्
३३. अत एव केवलान्वयिग्रन्थे वह्निनस्तीत्यत्र वह्नित्वं तदवच्छिन्नत्वं प्रतियोगित्वं च संसर्गमुद्रया भासत इति स्वयमप्युक्तम्। वहीं
३४. यद्यपि स्वरूपसम्बन्धरूपकार्यता व्यक्तिनां तत्तद्व्यक्ति मात्र पर्यवसितन्वेन नाऽनुगतपक्षतावच्छेदकलाभः। दिनकरी, ईश्वरानुमानम्
३५. तथाचाऽवच्छेदकतावच्छेदक भेदादवच्छेदकताभेदः। तद्भेदेन च कारणता भेदः। दिनकरी, पदार्थनिरूपणे
३६. स्वरूपसम्बन्धरूपाया अतिरिक्ताया वा कारणताया अवच्छेदकभेदेऽप्यभेदादिति। वहीं
३७. तच्छून्यावृत्तित्वे सति तदधिकरणवृत्यभावाप्रतियोगित्वम्। न्यायकोश, पृ. ८४
३८. द्वितीयं तु व्यावर्तकत्व सामानाधिकरण्य स्वनिष्ठावच्छेद्यताकत्व एतत् त्रितय सम्बन्धेन यत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टत्वम्। वहीं
३९. अनतिरिक्तवृत्तित्वं स्वव्यापकतत्कत्वं नतु तच्छून्यावृत्तित्वं, तादृशनिश्चय-वृत्तित्वविशिष्टस्य विशिष्टविषयकत्वस्य विशेष्यीभूत विशिष्टविषयकत्वानतिरिक्ततया तस्यातिप्रसक्तत्वे विशिष्टे तस्मिन्नतिप्रसक्तत्वस्य दुर्घटत्वात्। गादाधरी, सामान्यनिरुक्ति
४०. किन्तु स्वरूपसम्बन्धविशेषः। स च यदि प्रतियोगिस्वरूपः तदा वह्निमान् धूमादित्यादौ सर्वत्राऽसम्भवः पटादिस्वरूपस्यैकस्यैव पटाद्यभावप्रतियोगित्वस्य पटत्वा-वच्छिन्नत्ववत् द्रव्यत्व, समवेतत्व, ज्ञेयत्वावच्छिन्नतया तादृशावच्छेदकीभूत ज्ञेयत्वावच्छिन्नस्य-जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे
४१. तथा च पर्वतो वह्निमान् इत्यादि अनुमितिप्रतिबन्धकभ्रमविषय ह्न्यभावादावति-प्रसङः तद्विषयत्वस्याऽपि प्रतिबन्धकतावच्छेदकघटकत्वात्। गादाधरी, सामान्य निरुक्ति
४२. सम्भवति लघौ धर्मे गुरी तदभावात्। जागदीशी, अवच्छेदकत्व निरुक्ति

४३. प्रमेय धूमाभावप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं धूमत्वे–न्यायकोश, पृ. ८४
४४. कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीत्या कम्बुग्रीवादिमत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताविषयीकरणे गुरूधर्मस्यऽप्यवच्छेदत्वस्वीकारादिति। न्यायसिद्धा-न्तमुक्तावलि, व्याप्तिनिरूपणम्
४५. गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि कम्बुग्रोवादिमान् नास्तीति प्रतीतिबलाद् गुरूरपिधर्मोऽवच्छेदकः प्रतियोगितायाः । दीधिति अवच्छेदकत्वनिरुक्ति
४६. नन्वमवच्छेदकत्वमवगाहत एव कम्बुग्रीवादिमान् नास्तीति प्रतीतिः किन्तु तन्न स्वरूपसम्बन्धरूपं किन्तु अनतिरिक्तवृत्तित्वम्। दिनकरी सिद्धान्तव्याप्ति निरूपणम्।
४७. लाघवादुभयतयैव प्रतियोगिविशेषणीभूतधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता संसर्गावगाहित्वाकल्पनस्यैव उचितत्वेन गुरूधर्मस्य नाऽवच्छेदकत्वं इत्यत्रैव प्रमाणदौर्लभ्यात् प्रतीत्यनुरोधेनैव अवच्छेदकता सिद्धिरूपगन्तव्यत्वादिति ध्येयम्।
४८. स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकताया एव गुरूधर्मे प्राचीनैरङ्गीकारात्। वहीं
४९. झळकीकर, भीमाचार्य; क्वचित् तदधिकरणस्य तन्निष्ठधर्मावच्छेदकत्वम् यथा मूले वृक्षे न कपिसंयोगः किन्तु शाखायामित्यादौ वृक्षाधिकरणस्य मूलस्य वृक्षनिष्ठ-कपिसंयोगाभावावच्छेदकत्वम्। वृक्षाधिकरणस्यशाखादेः वृक्षनिष्ठकपिसंयोगा-भावावच्छेदकत्वम्। न्यायकोशे
५०. अत्रावच्छेदकत्वम् च स्वाश्रयसम्बन्धित्वम्। वहीं
५१. जगदीश तर्कालङ्कार; व्याप्तवृत्तेरवच्छेदकानङ्गीकारादिति वाच्यम्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे
५२. रघुनाथ शिरोमणि; वृत्तेरव्याप्यवृत्तित्वे वृत्तिमतो व्याप्यवृत्तित्वस्यात्यन्तम-सम्भावितत्वात्। दीधिति, सिद्धान्तलक्षणे
५३. क. तथाच यो यदवच्छेदेन यदीय यत्सम्बन्धाभाववान् स तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभाववान् इति व्याप्त्या शिखरावच्छेदेन संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नवहन्यभावसिद्धिरिति भावः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे
५४. ख. देशकालयोरवच्छेदकत्वं तु स्वरूपसम्बन्धमेवेति नियमोत्र ज्ञेयः। न्यायकोशे
५५. तथा च प्रतियोगिमतिकाले देशविशेषावच्छेदेन प्रतियोगितमति देशे कालविशेषा-वच्छेदेन तदभावः। शिवदत्त मिश्र; जागदीशी; सिद्धान्तलक्षणस्य व्याख्यायाम्
५६. तथा च यथादेशे वृत्तौ कालस्यावच्छेदत्वमनुभूयमानम् इदानीं गृहे गौर्नास्तीत्यनुभवबलात्, तथा कालवृत्तावपि देशविशेषस्यावच्छेदकत्व मनुभूयमानम् इदानीं अश्वे न गौत्वमिति प्रतीतिबलात्, तादृशप्रतीतेः कालावच्छेदेन देशवृत्तिः देशावच्छेदेन वा कालवृत्तिविषय इत्यत्र विनिगमनाभावात्। वहीं
५७. किञ्चात्र अवच्छेद्याधिकरणत्वं यस्य सम्भवति तस्यैवावच्छेदकत्वम् इति नियमोप्यङ्गीकर्तव्यः। न्यायकोशे
५८. अवच्छेदकत्वाख्यो विषयतात्मकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। वहीं
५९. स्वाश्रयजन्यत्वं स्वाश्रयविशेषत्वं वा। वहीं
६०. वहीं

६१. वहीं

६२. वहीं

६३. शिवदत्त मिश्र; अथ व्यधिकरणधर्मस्तु स्वाधिकरणवृत्तिभेद प्रतियोगितावच्छेदकत्व स्वाधिकरणवृत्तित्वोभयाभाववद्धर्म एव। जागदीशी, व्यधिकरणधर्मानुगम-पत्रिकायाम्

६४. शिवदत्त मिश्र; तथाहि धूमत्वे प्रतियोगितावच्छेदकत्वं हि त्रेधा, एकं शुद्धसामाना-धिकरण्येन, यथा-धूमत्वादिना धूमाद्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं; द्वितीयं हि किञ्चिदंशे सामानाधिकरण्येन किञ्चिचदशे वैय्यधिकरण्येन, यथा-धूमत्वादिना प्रमेयासामान्याभावादि प्रतियोगितावच्छेदकत्वं; तृतीयं च शुद्ध वैय्यधिकरण्येन, यथा-धूमत्वादिना घटाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदस्य व्याख्यायाम्

६५. शिवदत्त मिश्र; सामानाधिकरण्येन बाधनिश्चयोऽवच्छेदकावच्छेदेनऽनुमिति प्रतिबध्नाति। जागदीशी, सामान्यनिरूक्ते व्याख्यायाम्

६६. रघुनाथ शिरोमणि; पक्षतावच्छेदकस्य सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदव-च्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमिति प्रति तदवच्छेदेन सिद्धेः सामानाधिकरण्यमात्रेणानुमिति प्रति तु सिद्धमात्रस्य विरोधित्वम्। दीधिति, पक्षता-प्रकरणे

६७. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; मन्मते तु समवाय सम्बन्धेन व्याप्तिप्रकारकं पक्षधर्मताज्ञानं समवाय सम्बन्धेन अनुमिबिं जनयतीति। न्यायसिद्धान्त मुक्तावल्याँ अनुमानखण्डे.

६८. गदाधर; अथ द्रव्यत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन प्रसिद्धस्य शुद्ध घटत्वावच्छिन्नप्रकारकाभेदान्वयबोधस्य घटत्वावऽपत्ति सम्भवात्! व्युत्पत्तिवादे

६९. गदाधर; घटदिनिष्ठं तद्विषयत्वञ्च तत्प्रतियोगिकः सम्बन्धविशेषः। गादाधर्यां विषयतावादे

७०. दीधित्यों सिद्धान्तलक्षणे

७१. केचित्तु एकावच्छेदेनेत्यस्य अवच्छेदकतासम्बन्धेन तद् तदभावाधिकरणीभूत देशस्यावच्छद्यतासम्बन्धेन अभाववत्वेनेत्यर्थः।

७२. दिनकर; परम्परया जनकतासम्बन्धेन, अवच्छेदकता सम्बन्धेन वा। चैतन्यत्वं ज्ञानवत्वम्। दिनकर्यां, आत्मनिरूपणे

७३. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताभावः। न्यायासिद्धान्तमुक्तावल्याँ अनुमान खण्डे

७४. मथुरानाथ; साध्याभावश्च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यता-वच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताको बोध्यः। व्याप्ति पञ्चकरहस्ये

७५. गदाधर; अभावे तत्प्रतियोगिस्वरूपनिरूपितानुयोगितानामो सम्बन्ध विशेषः। सिद्धान्तलक्षणे

अध्याय ६ वा

विषयता

नव्य-न्याय में प्रतियोगिता और अवच्छेदकता के समान अत्यधिक प्रयुक्त होनेवाला पारिभाषिक शब्द है विषयता। न्याय सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, इच्छा, कृति और द्वेष ये आत्मा (व्यक्ति) के गुण हैं। ये गुण सर्वदा सविषयक होते हैं।[१] विषय के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं है। जब भी ज्ञान होता है तो वह किसी न किसी वस्तु का किसी घटना का होता है। जिस वस्तु या घटना का जब जो ज्ञान होता है वह वस्तु या घटना उस ज्ञान का विषय होती है, तथा स्वयं ज्ञान विषयी होता है। (लेकिन ऐसा स्वीकार करते समय ज्ञान को ज्ञाता के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये।) बिना किसी विषय के हम कभी नहीं कह सकते कि 'हम जानते हैं'। जब भी ज्ञान के बारे में हम कुछ कहते हैं तो यही कहते हैं कि 'मैं अमुक वस्तु को जानता हूँ', मैं अमुक शास्त्र को जानना हूँ' आदि। किसी भी विषय से विरहित 'मैं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती। अतः बुद्धि (ज्ञान) सर्वदा विषय को ले कर ही होती है।[२]

उसी प्रकार इच्छा भी किसी विषय की होती है। बिना किसी विषय के कोई इच्छा नहीं होती। हम कभी इतना मात्र नहीं कह सकते कि 'मेरी इच्छा है' या 'मै इच्छा करता हूँ'। हम जब भी इच्छा को प्रकट करते हैं तो कहते हैं 'मैं अमुक वस्तु की इच्छा करता हूँ' या 'मेरी अमुक इच्छा है'। उसी प्रकार कृति भी बिना विषय की नहीं होती है। कोई भी मात्र यह नहीं कहता कि 'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ'। सभी कहते हैं कि 'मैं अमुक विषय में प्रयत्न कर रहा हूँ'। उसी प्रकार द्वेष भी बिना विषय के नहीं होता। द्वेष का विषय भी कोई व्यक्ति, वस्तु या घटना होती हैं। बिना विषय के द्वेष भी उत्पन्न नहीं होता। कोई भी व्यक्ति कभी भी मात्र यह नहीं कहता कि 'मैं द्वेष करता हूँ'। सर्वदा हर कोई यही कहा करता है कि 'मैं अमुक का द्वेष करता हूँ'। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न तथा द्वेष सर्वदा किसी न किसी विषय को ले कर उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें सविषयक अर्थात् विषय से सम्बन्धित कहा जाता है।

इस प्रकार जिस का ज्ञान होता है उसमें विषयता नामक पदार्थ (धर्म) रहता है और ज्ञान में विषयिता नामक पदार्थ (धर्म) रहता है। विषयता यह ज्ञान, इच्छा, कृति,द्वेष इन में से किसी न किसी के द्वारा प्रदर्शित होनेवाला एक स्वतन्त्र पदार्थ या स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है। ''मैं अमुक वस्तु की इच्छा करता हूँ'' इस प्रकार की प्रतीति से ही विषयता नामक पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। बुद्धि, इच्छा आदि पदार्थ वस्तुविषयक हो कर ही जन्म लेते हैं। बिना विषयके उनका न तो जन्म ही होता है और न ही वे प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार अभाव की विलक्षणता प्रतियोगिता की विलक्षणता पर आधारित होती है उसी प्रकार विभिन्न ज्ञानों का भेद उनकी विषयता की विभिन्नता के आधार पर

ही ज्ञात होता है। विषयता पदार्थ स्वीकार न करने पर संशय, निश्चय, समूहालम्बज्ञान, समुच्चय-सम्भावना आदि में भेद करना असम्भव है। विषयताओं की भिन्नता ही बुद्धियों की भिन्नता को प्रकाशित करती है।

विषयता में रहनेवाला विषयतात्व धर्म अखण्डोपाधि है। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार जो कहीं पर रहता है वह धर्म है। "ध्रियते, तिष्ठति, वर्तते यः स धर्मः"। आकाश, काल, दिशा आदि को छोड़ कर सभी पदार्थ कहीं न कहीं रहते है। अतः वे सब धर्म कहे जाते हैं। जो पदार्थ जिस में (पर) रहता है वह उसका धर्म कहलाता है। जैसे, मनुष्यत्व मनुष्य मात्र में रहता है, और वह (मनुष्यत्व) उसका (मनुष्य का) धर्म है। उसी तरह पशुत्व पशु का धर्म है। पुस्तक मेज़ का धर्म बनता है। तन्तुओं पर वस्त्र रहता है (याने तन्तुओं का वस्त्र बनता है) तो वस्त्र तन्तुओं का धर्म है, पात्र में जल रहता है तो जल पात्र का धर्म है। आकाश इत्यादि पदार्थ कहीं नहीं रहते हैं, इसलिये आकाश किसी भी पदार्थ का धर्म नहीं है।

धर्म दो प्रकार का होता है - जाति और उपाधि। जिसके कारण विभिन्न आकृति, रंग, रूप वाले पदार्थ एक श्रेणी या वर्ग में समाविष्ट होते हैं ऐसा समवाय नामक सम्बन्ध से रहनेवाला अविनाशी पदार्थ जाति कहलाता है। जाति, पदार्थ के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग करने का भी काम करती है। जैसे, विभिन्न देशों में रहनेवाले मनुष्य आकृति, रूप और रंग में भिन्न होने पर भी एक मनुष्य जाति के कारण एक समुदाय के रूप में जाने जाते है और दूसरे पशुओं के समुदाय से भिन्न किये जाते हैं।

जो पदार्थ जाति न हो कर भी अपने आश्रयको दूसरे पदार्थों से अलग रूप में प्रस्तुत करता है उपाधि कहलाता है।

उपाधि के दो प्रकार हैं - सखण्डोपाधि और अखण्डोपाधि। खण्ड या भागशः जो रहती है वह सखण्डोपाधि कहलाती है। याने जिसका खण्डशः विश्लेषण किया जा सकता है वह धर्म सखण्डोपाधि होता है। जैसे, पशुत्व धर्म। पशुत्व धर्म का अंशतः विश्लेषण सम्भव है क्यों कि पशु का अर्थ है "रोम और पूँछ से युक्त होना"। याने कि रोम, पूँछ ये पशु के धर्म हैं। रोम और पूँछ ये अंश अनेक हैं तथा इनका विश्लेषण रोमत्व युक्त तथा पुच्छत्व युक्त के रूप में किया जा सकता है। अतः पशुत्व यह सखण्डोपाधि है। उसी प्रकार 'जलयुक्त पात्र' का धर्म जल भी सखण्ड है क्योंकि उसको जलत्व जातियुक्त के रूप में जल और जलान्य के द्वारा अंशतः विभाजित कर सकते हैं, क्योंकि यहाँ जल के दो अंश प्रकट होते हैं - जल तथा जलत्व जाति।

जिसका कोई अंशतः विश्लेषण नहीं हो सकता है वह पदार्थ, याने जो कि मनुष्यत्व, द्रव्यत्व आदि के समान अंशतः व्याख्यात नहीं होता है वह अखण्डोपाधि कहलाता है - जैसे, आकाशत्व भावत्व आदि। विषयतात्व भी किसी प्रकार से अंशतः विश्लेषण द्वारा व्याख्यात नहीं है। इसलिये वह अखण्डोपाधि कहलाता है। जाति और अखण्डोपाधि में यही भेद है कि जाति समवाय सम्बन्ध से अपने आश्रय के साथ सम्बन्धित होती है जब कि अखण्डोपाधि स्वरूप सम्बन्ध से अपने आश्रय से सम्बन्धित

होती है।

विषयता, ज्ञान आदि से निरूपित (प्रदर्शित) होती है। वह उनकी निरूपक (प्रदर्शक) नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयता और ज्ञान में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं है, जैसा कि अन्य पदार्थों में होता है। उनकी चर्चा पूर्व अध्याय में की जा चुकी है।

विषमता के कई भेद होते हैं, जिन्हें प्रकारता, विशेष्यता आदि के रूप में जाना जाता है। प्रकारता और विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। जैसे प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होती है उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता भी होती है। इनके विषय में आगे विवेचन किया जायगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि घट आदि पदार्थों में रहने वाली ज्ञान; इच्छा आदि की विषयता यह कौनसा पदार्थ है ? कुछ नैयायिकों का कथन है कि घट आदि पदार्थ में रहने वाली विषमता विषयाकार प्रतीति को साक्षी में रख कर प्रतीत होने वाला स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है।[३] विषयता, का ज्ञान प्रतियोगिक सम्बन्ध-विशेष है और वह प्रतियोगिता आदि के समान ही स्वरूप (याने यहाँ प्रतियोगि) से भिन्न नहीं है। इसे (विषयता को) स्वीकृत स्वरूप-सम्बन्ध के रूप में मानने से ही प्रश्न का समाधान हो सकता है और इसलिये अतिरिक्त पदार्थ के रूप में इसकी कल्पना करने के लिये कोई स्थान नहीं है।

परन्तु स्वरूप-सम्बन्ध के रूप में विषयता को स्वीकार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता कि वह ज्ञान-स्वरूप है या विषय स्वरूप ? और उसे केवल ज्ञान स्वरूप या केवल विषय स्वरूप मानने में कोई युक्ति न होने से उसे दोनों के ही रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। लेकिन उसे दोनों के रूप में स्वीकार करने में गौरव दोष होने से उसे अलग सम्बन्ध के रूप में याने एक विषयता के रूप में स्वीकार करना उचित हैं।[४]

तथापि इसका भी औचित्य कहाँ तक स्वीकार किया जा सकता है ? जब कि विषयता को विषय-रूप मानने पर विषय के साथ उसका आधाराधेय-भाव सम्भव नहीं है, विषयता का हमें होने वाला प्रत्यय आधेय के रूप में तथा विषय का हमें होने वाला प्रत्यय आधार के रूप में होता है। जैसे ज्ञानविषयतवान् घटः। अतः उसे ज्ञान-स्वरूप मानने में कोई बाधा नहीं है। विषयता को विषयस्वरूप मानने पर भी विषय और विषयता के बीच आधार-आधेय-भाव मानने पर ज्ञानविषयतावान् घटः के समान घटः घटवान् यह भी प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि यहाँ विषयता और घट एक होने पर यदि विषयतावान् घटः यह प्रतीति होती है तो घट घटवान् है इस प्रतीति के होने में क्या बाधा हो सकती है ?[५]

विषयता = घट
घट = घट

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि विषयतात्व से नियमित (अवच्छिन्न) अधिकरणता घट में प्रतीत होती है, परन्तु घटत्व से नियमित अधिकरणता नहीं प्रतीत

होती। इसलिये 'विषयतावान् घटः। यह प्रतीति होती है, जब कि 'घटवान् घटः' यह प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार नियामक धर्मों की भिन्नता के कारण प्रतीतियों में भेद हो जाता है और उसके फलस्वरूप 'विषयतावान् घटः' यह प्रतीति होती है। तथापि एक प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। वह यह कि क्या उस धर्म से नियमित होने वाला निरूपितत्व उस धर्म के आश्रय से निरूपितत्व से विलक्षण है या अविलक्षण है ? गदाधर कहते हैं कि तदवच्छिन्न निरूपितत्व को तदाश्रय निरूपितत्व से भिन्न रूप में परिभाषित करना कठिन है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयतातात्व से नियमित निरूपितता और विषयतात्वाश्रय (विषयता=घट) निरूपितता में कोई अन्तर नहीं है।[६]अतः जिस प्रकार 'विषयतावान् घटः' यह प्रत्यय होता है उसी प्रकार विषयता विषय-स्वरूप अर्थात् यहाँ घट स्वरूप होने से 'घटो घटवान्' यह प्रत्यय भी होना चाहिये। इसलिये विषयता को विषय-स्वरूप मानना सम्भव नहीं है।

गदाधर का विचार यह है कि विषयता को एक-रूप (विषय-रूप या ज्ञान-रूप) मानने में कोई प्रबल आधार न होने से उसकी दोनों (याने विषय एवं ज्ञान) रूप मानने पर भी उनमें से उनमें से उभय पूर्व-सिद्ध होने से एक अलग विषयता और उसे ज्ञान के सम्बन्ध के रूप में कल्पना करने की अपेक्षा उस पूर्व सिद्ध स्वरूप (विषय एवं ज्ञान) को ज्ञान, इच्छा आदि के सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने पर गौरव दोष के लिये स्थान न होने से विषयता का उक्त युगल रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती है।[७]

नवीन नैयायिकों के मत में विषयता यह एक अलग पदार्थ ही है। वह स्वरूप-सम्बन्ध का एक प्रकार नहीं है। इसका कारण यह है कि विषयता को ज्ञान-स्वरूप मानने पर कई आपत्तियाँ आती हैं। पहली आपत्ति यह है कि यदि विषयता को ज्ञान-रूप मानें तो ज्ञान का आश्रय काल (क्योंकि कोई भी ज्ञान किसी को भी किसी-न-किसी काल में ही होता है।) भी ज्ञान का विषय हो जायगा। क्योंकि काल में होने वाला ज्ञान का सम्बन्ध भी ज्ञान-स्वरूप है। घट-ज्ञान की विषयता तथा काल के साथ घट-ज्ञान का जो कालिक सम्बन्ध है वे दोनों ही ज्ञान-स्वरूप होने से एक हैं। अतः जैसे 'घट विषतावान् घट है' यह प्रत्यय होता है वैसे ही 'घटज्ञानविषयतावान् कालः' यह भी प्रत्यय होना चाहिये। और यदि काल के साथ होने वाले ज्ञान के सम्बन्ध को अलग किस्म का मानने पर उनमें से एक को (याने विषयता को) अतिरिक्त और दूसरे को (याने काल को) ज्ञान-रूप मानने में कोई युक्ति न होने से काल में रहने वाले ज्ञान के सम्बन्ध के समान विषय में रहने वाले ज्ञान के विषयता नामक सम्बन्ध को अलग मानना ही उचित है।[८]

दूसरी आपत्ति यह है कि विषयता ज्ञान-स्वरूप होने से 'घट एवं पट' अथवा 'गौ एवं अश्व' इस प्रकार के अनेक आलम्बन रहने वाले ज्ञान में रहने वाली तथा घट और पट इन दोनों विषयों में रहनेवाली विषयता एक ही होने से उस प्रकार के अनेक आलम्बनों वाले ज्ञानों को भ्रम मानना पडेगा। क्योंकि ज्ञान एक होने से उसकी विषयता भी एक है। अतः उक्त ज्ञान में घट-विषयता भी पटत्वावाच्छिन्न है और पट-विषयता

भी घटत्वावच्छिन्न है। इसके फलस्वरूप घट में न रहने वाले पटत्व धर्म से नियमित विषयता वाला वह ज्ञान होने से शुक्ति में होनेवाले रजत ज्ञान के समान इसे भी भ्रम मानना पडेगा। और परिणामतः उक्त अनेक आलम्बनों वाले ज्ञान के बाद 'मैं घटत्व धर्म से पट को जानता हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक प्रत्यय होना चाहिये ऐसा स्वीकार करना पडेगा। क्योंकि घटत्व धर्म से नियमित पट में रहनेवाली विषयता वाला ज्ञान ही उक्त अनुव्यवसाय का विषय होता है।

यदि उपर्युक्त दोषों के कारण जिस प्रकार विषयता को ज्ञान-स्वरूप नहीं मान सकते उसी प्रकार उसे विषय-स्वरूप भी नहीं मान सकते। क्योंकि विषयता को विषय (घट) - स्वरूप मानने पर प्रमात्मक ज्ञान भी भ्रम हो जायगा। जैसे, रजत के विषय मेंजो 'इदं रजत' यह ज्ञान होता है उस ज्ञान की विषयता रजतत्व प्रकारक प्रमात्मक ज्ञान की है। वही विषयता रजत में शुक्ति का भ्रम होने पर शुक्तित्व प्रकारक भ्रम की विषयता है, और विषयता विषय-स्वरूप होने से दोनों की विषयताएँ रजत-स्वरूप ही हैं। अतः रजत का प्रमात्मक ज्ञान को भी भ्रम मानना पडेगा।[९]

उसी प्रकारविषयता को विषय-स्वरूप मानने पर ''घटवद्भूतलम्'' और ''घटभूतलसंयोग'' इन दोनों में कोई भेद नहीं किया जा सकेगा।[१०] क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में विषय समान है। अतः विषय-रूप होनेवाली उनकी विषयताएँ भी समान हैं। 'घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान के विषय घट, भूतल और उनका संयोग ये तीन हैं। उसी प्रकार 'घटभूतलसंयोगः' इस ज्ञान के विषय भी वे ही तीन पदार्थ हैं - घट, भूतल और संयोग। अतः विषयाताएँ भी वे ही तीन हैं जो पूर्व ज्ञान में है। अतः इन ज्ञानों में भेद करने के लिये कोई आधार नहीं है, और विषयता भेद के बिना ज्ञानों में भेद नहीं किया जा सकता यह पहले ही कहा जा चुका है।

इस विषय में यज्ञपति उपाध्याय [११] का विचार यह है कि पहले वाले ज्ञान में घट और भूतल के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होनेवाले संयोग का भी सम्बन्ध अधिक प्रतीत होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में, जो कि समूह विषय का ज्ञान है, उसमें संयोग का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। उसमें केवल तीन वस्तुएँ-घट, भूतल और संयोग ही प्रतीत होती हैं, जब कि पूर्व ज्ञान मे संयोग का सम्बन्ध लेकर चार वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। अतः दोनों ज्ञानों में भेद है। परन्तु गदाधर के अनुसार उपाध्याय का यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि सम्बन्ध के सम्बन्ध को ले कर भी समूहालम्बन-ज्ञान हो सकता है। जैसे, 'घटभूतलसंयोगप्रतियोगित्व अनियोगित्व' इसमें और 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान में कोई भेद नहीं हो सकेगा। अतः गदाधर के विचार से विषयता एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह न ती.विषय-स्वरूप है और न ही ज्ञान-स्वरूप।

विषयता को विषय-रूप मानने पर दूसरी आपत्ति यह है कि द्रव्य के रूप होने वाले घट-ज्ञान तथा घट के रूप में होने वाले घट-ज्ञान में कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में विषयता घट-स्वरूप ही है।[१२]

जो लोग विषयता को ज्ञान और विषय-रूप एक साथ मान कर 'घटवद् भूतलम्'

और 'घटभूतलसंयोगः' इस समूहालम्बन ज्ञान के एकीकरण की आपत्ति का निराकरण करते हैं उनका यह मत है कि उक्त समूहालम्बनज्ञान 'घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान से अभिव्यक्त होने वाली ज्ञान और घट उभयात्मक प्रकारता को अभिव्यक्ति देने वाला न होने से उक्त दोनों ज्ञानों में विषयता की विलक्षणता अति स्पष्ट है। तथापि उन लोगों का यह मत सही नहीं है। क्योंकि ज्ञान और विषय दोनों रूप विषयता के मानने पर 'जातिमान् घटः' इस ज्ञान में भासित होने वाली घटत्व-रूप विषयता में द्वैविध्य नहीं होगा। इस ज्ञान में घटत्व-विषयता दो प्रकार की है - एक घटत्व विषयता है और दूसरी जाति-विषयता है। ये दोनों ही विषयताएँ भिन्न हैं। जाति में रहनेवाली विषयता जातित्व से नियमित है तथा घटत्व में रहने वाली विषयता किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है। परन्तु विषयता-विषय-स्वरूप तथा ज्ञान-स्वरूप मानने पर ज्ञान एक और विषय भी एक ही है तो विषयताएँ दो कैसे होंगी। इसके फलस्वरूप 'जातिमान्' और जातिमान् घटः' इन ज्ञानों में कोई भेद नहीं होगा। 'जातिमान् घटः' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली विषयता 'जातिमान्' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली विषयता से भिन्न न होने से उनके स्वरूप में कोई विलक्षणता नहीं होगी। अतः विषयता को अलग पदार्थ मानना ही उचित है।[१३]

अब प्रश्न यह है कि यदि विषयता स्वरूपसम्बन्ध नहीं है तो वह कम -से-कम सम्बन्ध तो है या नहीं ? इस का विचार और विषयता के भेदों का विचार अग्रिम पंक्तियों में किया जायगा।

विषयता के अनेक प्रकार होते हैं। जैसे, प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता आदि। प्रकारता और विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। याने, प्रकारता से निरूपित जैसे विशेष्यता होती है, उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। किसी सविकल्पक ज्ञान की दो विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय-मतानुसार किसी भी सविकल्पक ज्ञान में प्रकारता और विशेष्यता भासित होनी ही चाहिये, नहीं तो वह ज्ञान सविकल्पक हो ही नहीं सकता।) जैसे, 'यह पुस्तक है' इस ज्ञान की एक विषयता जो पुस्तकत्व इस धर्म में है वह प्रकारता-रूप है, तथा जो विषयता पुस्तक में है वह विशेष्यतारूप है। इसलिये पुस्तक में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित पुस्तकत्व में रहने वाली प्रकारता वाला ज्ञान, या; पुस्तकत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित पुस्तक में रहने वाली विषयता वाला ज्ञान ऐसा कहने पर एक ही प्रकार के '(यह) पुस्तक है' इस ज्ञान का बोध होता है।

इसके विरूद्ध निर्विकल्पक ज्ञान की जो विषयता होती है वह प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न तरह की होती है। वह किसी अन्य विषयता से निरूपित नहीं होती। (संभवतः इसी बात को बौद्ध नैयायिकों ने यह कह कर प्रस्तुत करना चाहा कि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय हमेशा स्वलक्षण हुआ करता है। क्योंकि किसी भी निर्विकल्पक ज्ञान में न प्रकारता का बोध होता है, न ही विशेष्यता का। तथापि उक्त प्रकार के ज्ञान में बोध ही नहीं होता है ऐसा कहना अनुभव के विरूद्ध होगा। अस्तु। प्रस्तुत प्रकरण में इस मुद्दे

की अधिक चर्चा करना अप्रस्तुत है।) निर्विकल्पक ज्ञान प्रकार एवं विशेष्य से रहित होता है।[१४] विशेषण को ही प्रकार कहते हैं। इसलिये प्रकारता यह विशेषणता नामक विषयता का ही एक प्रकार कहा गया है। निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता उसी ज्ञान से निरूपित होती है।(इस सन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों के द्वारा प्रयुक्त 'स्व-लक्षण' यह पारिभाषिक शब्दप्रयोग कितना सार्थक है इसकी ओर ध्यान देना संभवतः उपयुक्त होगा।) विषयता के बारे में यह पहले ही कहा जा चुका है कि विषयता ज्ञान, इच्छा, कृति इत्यादि पदार्थों में से किसी न किसी से अवश्य निरूपित होती है।

विषय में विषयता स्वरूप-सम्बन्ध (दैशिक विशेषणता) से रहती है। 'अमुक विषय है' इस व्यवहार का नियामक सम्बन्ध दैशिक विशेषणता सम्बन्ध ही माना जाता है।

एक ही ज्ञान के ही विषय में अनेक विषयताएँ होती हैं। 'जैसे, 'बन्दुकधारी सवार से युक्त अश्व है' इस ज्ञान में प्रकार होने वाले सवार में जिस प्रकार प्रकारता नामक विषयता हैं, उसी प्रकार बन्दूक-धारी सवार में बन्दूक विशेषण के रूप में प्रतीत होने से सवार में विशेष्यता नामक विषयता भी है। अतः एक ही वस्तु में प्रकारता भी है और विशेष्यता भी है। इस प्रकार एक ही विषय में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यताओं में क्या सम्बन्ध है इसके विषय में नैयायिकों में मतभेद है। इसी तरह के मतभेद से प्रस्तुत होने वाले कुछ बिन्दुओं की चर्चा इस अध्याय में आगे उपस्थित कर रहे हैं।

जगदीश तर्कालङ्कार[१५] आदि कुछ नैयायिकएक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता के बीच अभेद सम्बन्ध मानते हैं। उनके मतमें समानाधिकरण (एक ही स्थान में रहने वाली) विषयताओं में एकरूपता होती है। उन्हें भिन्न-भिन्न मानने में गौरव है, तथा उन्हें एक मानने में ही लाघव है, और लाघव गौरव की अपेक्षा वरीय है।

गदाधर भट्टाचार्य[१६] के मत में एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्ध है। 'दण्डिमान् अश्वः' इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता से निरूपिता प्रकारता से अवच्छिन्न (नियमित) होती है। एक ही वस्तु में रहने वाली दो विषयताओं में अवच्छेदकावच्छेद्यभाव मानने वालों का मन्तव्य यह है कि उक्त दोनों विषयताओं में अभेद स्वीकार करने पर 'रक्तदण्डवान्' बुद्धि (ज्ञान) की 'दण्डाभाववद्रक्तपम्' यह बुद्धि प्रतिबन्धक हो जायेगी, क्योंकि 'रक्तदण्डवान्' यह बुद्धि भी दण्ड-प्रकारता से निरूपित रक्त-रूप विशेष्यता वाली है। इसका कारण यह है कि एक वस्तु में भासित होनेवाली प्रकारता और विशेष्यता में अभेद है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है - (आगे के पृष्ठ पर)

'रक्तदण्डवान्' इस ज्ञान में भासित होनेवाली रक्त में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता एक ही है। इस ज्ञान के प्रतिबन्धक'दण्डाभावद्रक्तम्' इस में रहने वाली विशेष्यता है और प्रतिबन्धक ज्ञान में रक्त में प्रकारता है और विशेष्यता भी है। तथापि ये दोनों एक ही हैं और इसलिये उक्त ज्ञान समान प्रकारता वाला होने से उनमें प्रतिबध्य-

प्रतिबन्धक-भाव होना चाहिये। परन्तु उनमें इस प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव नहीं है यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। अतः एक ही वस्तु में रहने वाली दो विषयताओं में अभेद मानना समीचीन नहीं है। इस प्रकार की कठिनाई को दूर करने के लिये ऐसे स्थान पर गदाधर दो पदार्थों में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यता रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव स्वीकार करते हैं। इस तरह अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार करने पर दण्ड में रहने वाली प्रकारता विशेष्यता-रूप न होने से 'दण्डाभाववद्रक्तम्' इस ज्ञान से प्रतिबध्य नहीं होगीं।
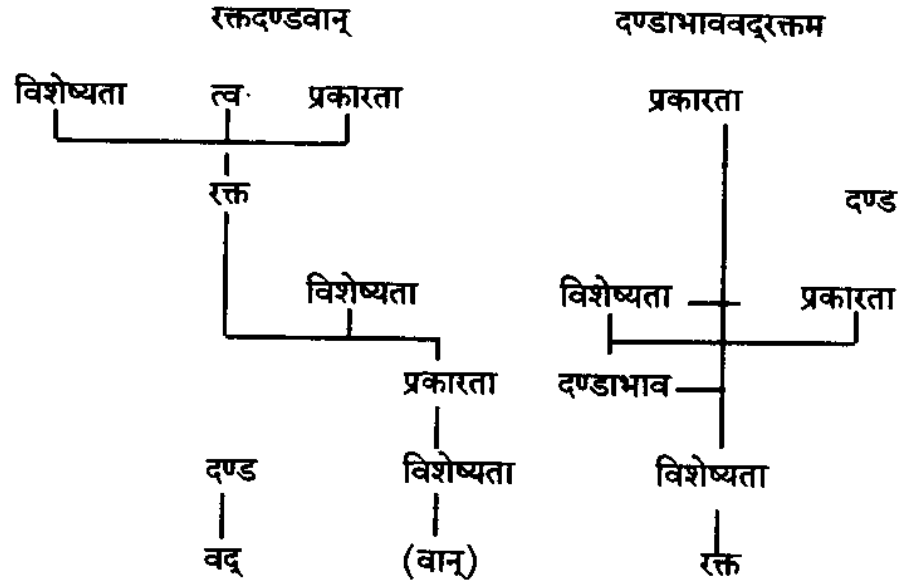
'इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से 'पुरुषाभाववान् दण्ड है' इस बुद्धि के लिये संयोग सम्बन्ध से दण्डवान् पुरुष है यह निश्चय जैसे प्रतिबन्धक होता है वैसे ही 'रक्तदण्डवान् अयं' यह निश्चय भी प्रतिबन्धक होना चाहिये, क्योंकि इसमें भी संयोग सम्बन्ध से नियमित पुरुष में रहने वाली प्रकारता से निरूपित दण्ड में विशेष्यता है। पुरुष में रहने वाली दण्ड-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और देश में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता दोनों एक ही हैं। अतः उनमें समान प्रकारता होने से 'पुरुषवान् दण्डः' इस ज्ञान की तरह ही 'रक्तदण्डवत्पुरुषवान् देशः' यह ज्ञान भी प्रतिबन्धक होना चाहिये।

आकृति १ - रक्तदण्डवत्पुरुषवान्देशः

आकृति २

क्रमांक २ की आकृति देखने पर तथा उसकी आकृति क्रमाङ्क १ से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार क्रमांक १ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में पुरुष में प्रकारता और दण्ड में विशेष्यता है वैसे ही द्वितीय ज्ञान में भी पुरुष में प्रकारता और दण्ड में प्रकारता और विशेष्यता दोनों भी हैं, तथा एक ही स्थान में वे दोनों होने से अभेदवादियों के मत में उनमें अभेद है। इसलिये दोनों ही ज्ञान समान प्रकारता वाले होने से दोनों भी उक्त प्रतिबध्य ज्ञान के प्रतिबन्धक होने चाहिये, जो कि अनुभव के विरूद्ध है। अतः एकत्र विद्यमान प्रकारता और विशेष्यताओं में अभेद मानना उचित नहीं है। अवच्छेद्यावच्छेदकभाव स्वीकार करने पर दोनों ज्ञानों में भेद स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि द्वितीय ज्ञान में प्रकारता से अवच्छिन्न विशेष्यता है, जबकि प्रथम में विशेष्यता प्रकारता से अवच्छिन्न नहीं है।

लेकिन इस विषय में एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अभेद मानने वालों का कथन है कि यद्यपि 'पुरुषवान् दण्ड' इस ज्ञान में भासित होने वाली पुरुष में रहने वाली प्रकारता और दण्ड में रहने वाली विशेष्यता के समान ही 'रक्तदण्डवत्पुरुषवान् देशः' इस ज्ञान में भी पुरुष में प्रकारता और दण्ड में विशेष्यता मालूम होती है, तथा उसमें इसके अलावा पुरुष में प्रतीत होनेवाली विशेष्यता और दण्ड में प्रतीत होनेवाली प्रकारताओं में अभेद होने से उक्त ज्ञान भी प्रतिबन्धक होना चाहिये। 'पुरुषवान् दण्ड' यह ज्ञान प्रतिबध्य होता है तो वह दण्ड में रहने वाली विशेष्यता के धर्म (विशेष्यतात्व) से मुक्त, पुरुष में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित (प्रकारता) से निरूपित, दण्ड में रहने वाली विशेष्यता वाले ज्ञान के रूप में प्रतिबध्य होता है। 'रक्तदण्डवत् पुरुषवान् देशः' इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता, पुरुष में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से अवच्छिन्न

प्रकारता से निरूपित नहीं है। दण्ड में रहने वाली विशेष्यता, रक्तनिष्ठ प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित है। इसका तात्पर्य यह है कि दण्ड में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता एक होने पर भी उनमें होने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव भिन्न है। क्रमांक १ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में भासित होने वाली पुरुष में रहने वाली प्रकारता में रहने वाली निरूपकता पुरुष-प्रकारतात्व से अवच्छिन्न है और उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता क्रमांक २ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में नहीं है। इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता पुरुष में रहने वाले प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित नहीं है। यहाँ 'दण्ड' में रहनेवाली विशेष्यता 'रक्त' में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित है। अतः उक्त ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है।

उक्त रूप से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव स्वीकार करने में गौरव दोष होता है।[१७] इसलिये पदार्थ में प्रतीत होने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव मानना ही उचित है। इसी मत को उत्तरवर्ती नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है।

विषयता विषय के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। जैसे-'घटपटौ'-घट और पट-इस ज्ञान के विषय दो हैं, घट और पट (वस्त्र)। यदि उन दोनों में एक ही विषयता मानेंगे तो यह ज्ञान भ्रम हो जायगा। 'घटपटौ' यह समूहविषय वाला ज्ञान भ्रम नहीं है। परन्तु दोनों वस्तुओं में एक ही विषयता मानने पर यह ज्ञान 'घट' में न रहने वाले धर्म पटत्व से नियमित घट मे रहने वाली विषयता वाला होने से शुक्ति में रजत के ज्ञान के समान ही होगा। यदि घट; पट, पुस्तक आदि एक-एक अलग विषय वाले ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता से समूह विषयक ज्ञान की विषयता भिन्न प्रकार की होती है ऐसा माना जाय तो गौरव दोष होता है।[१८] एक-एक विषय के ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता से भिन्न प्रकार की समूह विषयक (घयपटौ) ज्ञान की विषयता समूह में होती है। यह एक भिन्न कल्पना होने से कल्पनामूलक गौरव दोष होता है। अतः एक-एक ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता के समान ही समूहालम्बन ज्ञान की भी विषयता एक-एक में भिन्न-भिन्न मानना ही उचित है। गदाधर ज्ञान के भेद से विषयताओं में भेद नहीं मानते। समूहालम्बन-ज्ञान में भी पूर्व-स्वीकृत प्रत्येक ज्ञान की विषयताएँ हो होती हैं। भिन्न विषयताओं की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

कुछ नैयायिक 'घट है' या 'घटः' इस घटत्व से युक्त के ज्ञान में घट इस विशेष्य तथा घटत्व इस विशेषण में प्रतीत होने वाली एक ही प्रकार की विषयता मानते हैं। वे विशेष्य में अलग और विशेषण में अलग विषयता नहीं मानते। उनके मत की गदाधर ने आलोचना की है। गदाधर का कथन है कि विशेष्य में रहने वाली विषयता और विशेषण में रहने वाली विषयता को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विशेषण और विशेष्य में रहने वाली विषयता को एक मानने पर 'घटः' इस ज्ञान को घटत्व विशेष्य

और घट-प्रकार-वाला मानना पडेगा,[१९] जो कि अनुभव के विरूद्ध है। 'घटः' यह ज्ञान घटत्व प्रकार तथा घट विशेष्य-वाला ही माना जाता है।

कुछ नैयायिक [२०] एक वस्तु में रहने वाली एक ज्ञान की प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध मानते हैं। जैसे, 'नीलघटवद् भूतलम्' इस ज्ञान में विषय होने वाले घट में दो प्रकार की विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। यहाँ भूतल का घट विशेषण होने से उसमें (घट में) प्रकारता या विशेषणता है और घट का नील विशेषण होने से नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है। इस प्रकार घट में जो दो विशेषणताएँ प्रकारता और विशेष्यता के रूप में प्रतीत होती है इनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। इस मत में उनमें अभेद नहीं है।

जिस प्रकार विषय की भिन्नता के कारण विषयता भिन्न होती है, उसी प्रकार ज्ञान के भेद से भी विषयता भिन्न-भिन्न होती है ऐसा भी कुछ नैयायिक मानते हैं।[२१] परन्तु गदाधर ज्ञान के भेद से विषयता में भेद नहीं मानते। उनके मत में समानाकारक ज्ञानीय विषयताओं में ऐक्य होता है। समान आकार वाले अनेक ज्ञानों की विषयताएँ भिन्न-भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[२२] अतः अनेक ज्ञानों का यदि एक ही आकार है तो उन सब ज्ञानों की विषयता एक ही होगी, जबकि अन्य नैयायिक [२३] समान आकार वाले ज्ञान की विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। जैसे, 'संयोगेन अभावो नास्ति' यहाँ अभाव पद से जैसे उपस्थिति (ज्ञान) होती है वैसेही नास्ति पद से भी होती है। अतः नास्ति' पद से प्रतीत होनेवाली उपस्थिति (ज्ञान) और अभाव पद से होने वाली अभाव की उपस्थिति समान आकार (विषय) वाली होने से, उन दोनों विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

विषयता आदि पदार्थ कभी धर्म रूप में तो कभी सम्बन्ध रूप में प्रतीत होते हैं। जब वे सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होते हैं तो उनमें रहने वाली संसर्गता का नियामक सम्बन्ध विशेषणता (स्वरूप) सम्बन्ध ही होता है।

ये विशेषताएँ लौकिक और अलौकिक भेद से भी दो प्रकार की होती हैं। लौकिक सन्निकर्ष (उदाहरणार्थ, संयोग,समवाय, संयुक्त समवाय आदि) से होने वाले ज्ञान की विषयताएँ लौकिक कहलाती हैं, तथा अलौकिक-सामान्य लक्षण ज्ञानलक्षण या योगजलक्षण-सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान की विशेषणताएँ अलौकिक होती हैं।

प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता आदि जो भेद माने गये हैं वे विषयता के ही भेद हैं या स्वतन्त्र पदार्थ हैं ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में गदाधर का विचार यह है कि विषयों में प्रकारता और विशेष्यता-रूप स्वतन्त्र पदार्थ मानने की अपेक्षा विषयता के प्रकारों के रूप में ही विषयों में वर्तमान प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के प्रकार के रूप में स्वीकार करना उचित है।[२४]

कुछ नैयायिकों [२५] का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान की जो विषयता, प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न होती है याने निर्विकल्पक ज्ञान जैसे निष्प्रकारक और निर्विशेष्यक

होता है-वही विशिष्टज्ञान (उदाहरणार्थ घटः यह घटत्वविशिष्ट घट का ज्ञान) की भी विषयता है। उसे प्रकारता या विशेष्यता के रूप में मानने की क्या आवश्यकता है ? उसी विषयता के आधार पर विशिष्ट ज्ञान सविषयक हो सकता हैं। विषयता के स्वतन्त्र प्रकारता आदि भेद स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? (उसी विषयता के आधार पर विशिष्ट ज्ञान सविषयक हो सकता है। विषयता के स्वतन्त्र प्रकारता आदि भेद स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है) जब निर्विकल्पक ज्ञान कें ये भेद नहीं होते तो वे वैसे ही विशिष्ट ज्ञान में भी न हों, और प्रकारतादि के भेद के बिना भी विषयता के भेद आधार पर ज्ञान में भेद किये जाने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु गदाधर के अनुसार यह मत त्याज्य ही है। प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के रूप में स्वीकार न करने पर 'वह्निव्याप्यधूमः पर्वत' (वह्नि का व्याप्य धूम पर्वत पर है। और 'वह्निव्याप्यधूमवान्ः' पर्वतः' (पर्वते वह्निव्याप्य धूमवान है) इन दोनों परामर्शो में भेद नही होगा। इन दोनों में यही भेद है कि एक में व्याप्य धूम विशेषण है तथा पर्वत प्रकार है, जबकि दूसरे में पर्वत विशेष्य है और वह्निव्याप्य धूम प्रकार (विशेषण) है। इन दोनों परामर्शो का व्याप्य-विषयता से निरूपित पक्ष-विषयता वाले ज्ञान के रूप में एक ही प्रकार से अनुगम कर के अनुमिति के कारण (परामर्श) के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन वह प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के प्रकारों क रूप में स्वीकार न करने पर सम्भव नहीं होगा। अतः उपर्युक्त दोनों परामर्शो को अलग-अलग रूप में कारण मानना पडेगा, जिससे गौरव दोष होगा।

दूसरी बात यह कि निर्विकल्पक ज्ञान की जो (प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न) विषयता होती है वही विषयता (विशिष्ट-बुद्धि) सविकल्पक ज्ञान की भी होती है ऐसा मानने पर जिस प्रकार घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् स्वरूपतः घटत्व-विशिष्ट घट का ज्ञान होता है, वैसे ही जातित्वेन घटत्व के ज्ञान के पश्चात् भी 'घटः' यह विशिष्ट ज्ञान होना चाहिये। घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता के समान जातित्वेन घटत्व के ज्ञान की भी विषयता है। स्वरूपतः (किसी धर्म-ज्ञान के बिना) घटत्व-विशिष्ट घट के ज्ञान के लिये घटत्व विशेष्यक ज्ञान को कारण मानने पर उक्त दोष सम्भव नहीं है यह कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'जातिःघटश्च'-जाति और घट-इस ज्ञान के पश्चात् घटः यह विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी, जो कि अनुभव-सिद्ध है।

जो लोग विशिष्ट बुद्धि की विषयता केवल विशेष्य में ही मानते हैं; विशेषण में नहीं मानते, उनके मत की आलोचना गदाधर ने की है।[२६] विशिष्ट बुद्धि की विषयता विशेष्य में मानने वालों का तर्क यह है कि घट के ज्ञान के बाद जब 'घट जानामि' (मैं घट की जानता हूँ) इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है तब यह स्पष्ट हैं कि 'घट' इस विशेष्य के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का बोध होने से घट के साथ ज्ञान का विषयता सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ता है। घट के ज्ञान के बाद मैं घटत्व को जानता हूँ इस प्रकार का साक्षात्कार नहीं होता है, क्योंकि वह घटत्वत्व-विशिष्ट घटत्व के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाला होने से उसके पूर्व घटत्वत्व का ज्ञान हुआ होना आवश्यक है। विशिष्ट-

वैशिष्ट्यावगाहि बुद्धि में विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान कारण होता है। याने, जब हमें किसी विशिष्ट के वैशिष्ट्य का ज्ञान होता है तब उक्त विशिष्ट के विशेषण को नियमित करने वाला प्रकारक ज्ञान उसका कारण होता है। 'घटः' यह ज्ञान बिना किसी घटत्वत्वादि धर्म के स्वरूपतः ही घटत्व प्रकारक होने से घटत्वत्व प्रकार वाला नहीं होता है। क्योंकि विशेषण (प्रकार) को विशिष्ट-ज्ञान का विषय न मानने पर उस धर्म (घटत्व) से युक्त के ज्ञान के पश्चात् उस धर्म से युक्त का ज्ञान नहीं होना चाहिये। क्योंकि विशिष्ट-ज्ञान के लिये विशेषण (घटत्व) का ज्ञान कारण होता है। जो लोग उस धर्म से युक्त-ज्ञान (विशिष्ट-ज्ञान) को धर्म-विषयक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते उनके मत में प्रथम विशिष्ट-ज्ञान में विशेषण का ज्ञान नहीं होता। अतः उक्त विशेषण-ज्ञान-रूप कारण के न रहने से द्वितीय विशिष्ट ज्ञान रूप कार्य नही उत्पन्न होना चाहिये।

उसी प्रकार यदि विशिष्ट ज्ञान की विषयता विशेषण में न मानें तो विशिष्ट ज्ञान के पश्चात् विशेषण का ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होने वाला प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार के उपनीत भान-रूप ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष के लिये तद्विषय ज्ञान (याने विशेषण विषयक ज्ञान) कारण होता है। जैसे, 'सुरभि चन्दनम्' इस प्रकार के भान के लिये सौरभ का ज्ञान कारण होता है। अतः विशेषण को विशिष्ट-ज्ञान का विषय मानना आवश्यक होने से उक्त विशेषण (प्रकार) में रहने वाली प्रकारता को भी लाघवात् विषयता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रकारता और विशेष्यता के समान संसर्गता भी विषयता का एक प्रकार है।२७ उसकी चर्चा तथा प्रकारता और विशेष्यताओं के स्वरूपों के विषय में मतभेदों की चर्चा आगे की जायगी।

उपर यह बतलाया गया था कि विषयता के प्रकारता, विशेष्यता; संसर्गता आदि अनेक प्रकार हैं। प्रकारता का ही दूसरा नाम विशेषणता भी है ऐसा कुछ नैयायिकों का मत है, जबकि कुछ लोग विशेषणता को प्रकारता का एक प्रकार मानते हैं।[२८]

प्रकारता के स्वरूप के बारे में नव्यनैयायिकों में मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। कुछ लोग भासमान वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) की प्रतियोगिता को प्रकारता तथा सम्बन्ध की अनुयोगिता को विशेष्यता कहते हैं [२९] जैसे, 'यह घट है' ('अयं घटः') इस ज्ञान में घटत्व का समवाय यह वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) घट में ज्ञात होता है। जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक सम्बन्ध के दो सम्बन्धी घटक (सम्बन्ध) पदार्थ होते हैं। उनमें से एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी कहलाता है। जो सम्बन्ध के प्रतियोगी के रूप में प्रतीत होता है उसे ही ज्ञान में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला माना जाता है। अतः सम्बन्ध का प्रतियोगित्व ही विशेषणत्व है।

गदाधर [३०] को यह परिभाषा मान्य नहीं है। उनका कथन है कि यह परिभाषा स्वीकार करने पर ''घटभूतलसंयोगः'' यह जो समूहलम्बनात्मक ज्ञान है वह भी घट प्रतियोगिक तथा संयोग विषयक होने से उसे भी घट-प्रकार वाला ज्ञान मानना पडेगा। उक्त समूहालम्बन-ज्ञान का विषय घट अवश्य है; परन्तु उक्त ज्ञान में प्रकार के रूप में

घट का बोध नहीं होता है। घट का विशेष्य के रूप में ज्ञान होने से यहाँ घटत्व प्रकार के रूप में ज्ञात होता है, घट नहीं। दूसरी बात यह है कि उक्त परिभाषा स्वीकार करने पर "संयोग सम्बन्ध से द्रव्यत्ववान्" इस भ्रम में प्रकार के रूप में द्रव्यत्व की प्रतीति नहीं होगी। संयोग सम्बन्ध से द्रव्यत्व कहीं पर भी नहीं रहता है। (द्रव्यत्व यह जाति समवाय सम्बन्ध से ही रहती है।) इसलिये संयोग सम्बन्ध यहाँ व्यधिकरण-सम्बन्ध माना जाता है। अतः द्रव्यत्व में संयोग सम्बन्ध का प्रतियोगित्व न होने से "भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व"-रूप प्रकारत्व भी उसमें नहीं रहेगा। तीसरी बात यह है कि 'भूतले घटः' (भूतल पर घट है।) इस ज्ञान में भूतल प्रकार के तथा घट विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु इस ज्ञान में प्रतीत होने वाला भूतल और घट का संयोग भूतलनुयोगिक तथा घटप्रतियोगिक है। यदि भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व को प्रकारता और अनुयोगित्व को विशेष्यता के रूप में स्वीकार किया तो उक्त ज्ञान भूतल अनुयोगिक संयोग वाला होने से भूतल विशेष्य वाला हो जायगा, जबकि वह यहाँ प्रकार है, विशेष्य नहीं।

चौथी आपत्ति यह है कि उक्त प्रकारता और विशेष्यता की परिभाषा स्वीकार करने पर जिस व्यक्ति को द्रव्य संयोग सम्बन्ध से गुण में नहीं रहता है। ऐसा ज्ञान नहीं है उसकी गुण में संयोग सम्बन्ध से होने वाला द्रव्य का भ्रम गुण-विशेष्यक नहीं होगा, क्योंकि गुण में संयोग सम्बन्ध की अनुयोगिता नहीं है। संयोग सम्बन्ध से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से ही सम्बन्धित हो सकता है, गुण से नहीं। अतः गुण में संयोग सम्बन्ध की अनुयोगिता स्वीकार नहीं की जा सकती।

वैशिष्ट्य की प्रतियोगता के द्वारा भासमान होना यह भी प्रकारता का स्वरूप नहीं हो सकता है। "वैशिष्ट्य प्रतियोगी" के द्वारा (प्रतियोगितया) यहाँ प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का अर्थ करना सुलभ नहीं है। और 'भासमान होना' का अर्थ ज्ञान-विषय होना ऐसा करने पर प्रकारता और विशेष्यता आदि का प्रतियोगिता आदि से भिन्न विषयता-रूप स्वतः प्रकट हो जाता है। अतः प्रकारता का अर्थ किसी धर्मि (आश्रय) में विशेषण के रूप में भासमान होना, तथा विशेष्यत्व का अर्थ किसी धर्म के आश्रय के रूप में प्रतीत होना ऐसा करना चाहिये। धर्म के रूप में प्रतीत होने वाले में प्रकारता शक्ति तथा धर्मि के रूप में प्रतीत होने वाले में विशेष्यता प्रतीत होती है। इसलिये यह स्पष्ट है कि सांसर्गिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता क्रमशः प्रकारता और विशेष्यता-रूप नहीं हैं। भ्रमात्मक ज्ञान में प्रतीत होने वाली प्रकारता और विशेष्यता का विचार उक्त रूप से नहीं किया जा सकता यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

यदि सम्बन्ध की प्रतियोगिता और प्रकारता में भेद न किया जाय तो 'दण्डपुरुषसंयोगप्रतियोगत्व-अनुयोगित्व' इस प्रकार के ज्ञान तथा 'दण्डी पुरुषः' इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा।३१ क्योंकि यदि विशिष्ट ज्ञान (दण्डी पुरुष इस ज्ञान) में दण्ड में संयोग का प्रतियोगित्व जैसे मालूम होता है उसी तरह उपर्युक्त ज्ञान में संयोग-प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व भी मालूम पड़ता है। इसलिये उक्त समूहालम्बनज्ञान और विशिष्ट-ज्ञान में भेद करने के लिये विशिष्ट-ज्ञान में संयोग के

प्रतियोगित्व के अतिरिक्त प्रकारता को स्वीकार करना आवश्यक है। 'दण्ड-पुरुष-संयोग-प्रतियोगित्व-अनुयोगित्व' इस ज्ञान में दण्ड का विशेषण के रूप में ग्रहण न होने से उसमें उक्त ज्ञान की प्रकारता नहीं है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में प्रकारता को सांसर्गिक प्रतियोगिता से भिन्न मानने पर भेद सिद्ध हो जाता है।

यदि यह माना जाय कि विशिष्ट-ज्ञान में प्रतीत होने वाले प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व के साथ उनका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है, जबकि उपर्युक्त समूहालम्बन ज्ञान में केवल प्रतियोगित्व ही ज्ञान का विषय होता है, प्रतियोगित्व का सम्बन्ध नहीं, तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। विशिष्य-ज्ञान का विषय प्रतियोगित्व और उसका सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का सम्बन्ध इस प्रकार की शृंखला का कहीं भी विश्राम ही नहीं होगा। अतः विशिष्ट-ज्ञान में सम्बन्ध के सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है यह मानना उचित नहीं है।

प्रकारता को भी प्रतियोगिता आदि अन्य पारिभाषिक पदार्थों के समान एक भिन्न पदार्थ भी कुछ लोग मानते हैं।[३२]

विशेषणता और उपलक्षणता के भेद से प्रकारता दो प्रकार की होती हैं[३३] क्योंकि विशेषण और उपलक्षण के भेद से प्रकार दो प्रकार का होता है। जो धर्म विद्यमान होते हुए व्यावर्तक होता है वह विशेषण है, और जो विद्यमानन होते हुए भी व्यावर्तक होता है वह उपलक्षण होता है[३४] ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह समीचीन नहीं है। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ विद्यमान दण्ड पुरुष की अदण्डी से व्यावृत्ति करता है इसलिये उसे विशेषण कहते हैं। परन्तु 'काकवन्तं देवदत्तगृहम्' अथवा 'जटाभिः तापस' यहाँ अनुक्रमशः 'कौवा घर पर बैठा हुआ होना' या शिर पर जटाओं का होना' विशेषण नहीं हैं। 'दण्डी पुरुषः' ऐसा कहने पर दण्ड दण्डी पुरुष को अलग करता है इसलिये अदण्डी की व्यावर्तकता का नियामक (अवच्छेदक) होने से दण्ड विशेषण है। तथापि कौवा, जटादि अनुक्रमशः घर और तापस के विशेषण नहीं हैं, क्योंकि उनके न रहने पर भी अन्य धर्म के द्वारा उक्त गृह की व्यावृत्ति सम्भव है। अतः व्यावृत्ति की अधिकरणता का अतिरिक्त वृत्ति होने के कारण काक और जटा विशेषण न हो कर उपलक्षण हैं। व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होते हुए जो व्यावृत्ति का जनक है वह धर्म विशेषण कहलाता है। उससे भिन्न व्यावर्तक होने वाला धर्म उपलक्षण कहलाता है। अर्थात्, व्यावृत्ति को अधिकरणता का अवच्छेदक न हो कर भी जो व्यावृत्ति का जनक होता है वह धर्म उपलक्षण है।[३५] अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिधर्म अवच्छेदक होता है। अतः काक और जटा इन व्यावृत्तियों के क्रमशः अधिकरण देवदत्तगृह और तापसी में रहनेवाली अधिकरणता से अतिरिक्त स्थल में भी विद्यमान होने से वे उक्त अधिकरणताओं के अवच्छेदक नहीं है। अतः वे उपलक्षण हैं। उपलक्षण में व्यावृत्ति की अधिकरणता की नियामकता नहीं है, जबकि विशेषण में व्यावृत्ति के अधिकरणता की नियामकता होती है।

आचार्य गंगेश[३६] ने विशेषण और उपलक्षण के विषय में होने वाले अनेक मत-मतन्तरों का खण्डन करते हुए स्व-मत से विशेषण और उपलक्षण का भेद प्रस्तुत किया

है। उनके मतानुसार 'प्रतीत होने योग्य व्यावृत्ति की अधिकरणता का नियामक होते हुए जो (धर्म) व्यावर्तक है वह विशेषण होता है, तथा उससे भिन्न होते हुए जो (धर्म) व्यावर्तक हो वह उपलक्षण होता है। अतः 'दण्डी पुरुषः' यहाँ दण्ड अदण्डी की व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होने से विशेषण है, जबकि काक गृह की व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक न होने से उपलक्षण के रूप में व्यावर्तक है। दण्ह के न रहने पर कोई दण्डी नहीं हो सकता, परन्तु जटा के न रहने पर भी तपस्वी हो सकता है। यही विशेषण और उपलक्षण में भेद परिलक्षित होता है। विशेषण में रहने वाली प्रकारता को विशेषणता, तथा उपलक्षण में रहने वाली प्रकारता को उपलक्षणता कहते हैं।

प्रकारता पुनः अन्य दो प्रकार की मानी गयी है-निरवच्छिन्न और अन्य विशेषण से अविच्छन्न। जो प्रकारता किसी भी धर्म से नियमित नहीं होती है उसे निरवच्छिन्न प्रकारता कहते हैं।[३७] जैसे-'घटः' इस ज्ञान की जो घटत्व में प्रकारता है वह किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है। 'घटः' इस ज्ञान में घटत्व स्वरूपतः अर्थात् घटत्वत्व जैसे किसी अन्य धर्म को विशेषण के रूप में लिये बिना ही 'घट' इस ज्ञान का विषय होता है। ऐसी निरवच्छिन्न प्रकारता जाति-रूप धर्म या अखण्डोपधि-रूप धर्म में ही मानी जाती है। वह जाति तथा अखण्डोपधि (द्रव्यत्व तथा भावत्व) से भिन्न अर्थात् सखण्डोपाधि रूप धर्म में नहीं रहती है।

सावच्छिन्न (किसी धर्म से नियमित) प्रकारता वह है जो सखण्डोपाधि रूप पदार्थ में रहती है। जैसे-घटयुक्त भूतल है इस ज्ञान में भूतल इस विशेष्य के विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाले घट में रहने वाली प्रकारता है। इस प्रतीति में घट का 'स्वरूपतः' प्रत्यय नहीं होता है। यहाँ घटत्व के रूप में प्रतीत होता है। अतः यहाँ घट-रूप विशेषण में प्रतीत होने वाला घटत्व यह एक विशेषण होने से उक्त घट में रहने वाली विशेषणता (प्रकारता) घटत्व से नियमित होती है। इसलिये उस प्रकारता को सावच्छिन्न प्रकारता माना जाता है।

प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारताच्छेदक भी कहलाता है। प्रकार का विशेषण होने से उसमें प्रकारता भी है और वह प्रकारता को नियमित करने वाला होने से प्रकारता का अवच्छेदक भी है। अतः उसमें अवच्छेदकता एक ही स्थान में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक भी कहलाता है। प्रकार का विशेषण होने से उसमें प्रकारता भी है और वह प्रकारता को नियमित करने वाला होने से प्रकारता का अवच्छेदक भी है। अतः उसमें अवच्छेदकता भी है। प्रकारता और अवच्छेदकता एक ही स्थान में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित क्यों माना जाय? यदि न मानें तो क्या दोष है? इसका उत्तर यह है कि यदि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान मी घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित न मानें तो 'द्रव्यवत्भूतल घटश्च' इस समूहालम्बन ज्ञान तथा

'घटवद्भूतलंद्रव्यंच' इस ज्ञान में कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में घटत्व तथा द्रव्यत्व घट में प्रकार के रूप में तथा घट भूतल के प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित मानने पर आसानी से प्रकारता की विलक्षणता के आधार पर दोनों ज्ञानों में भेद किया जा सकता है। क्योंकि प्रथम ज्ञान (द्रव्यवद्भूतलंद्रव्यंच) की घट में रहने वाली प्रकारता द्रव्यत्व से नियमित होती है, जबकि द्वितीय ज्ञान 'घटवद्भूतलंघटश्च' की घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व धर्म से नियमित होती है। इस प्रकार प्रकारताओं की भिन्नता के आधार पर दोनों ज्ञानों में होने वाले भेद की व्याख्या की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में गदाधर का मत यह है कि घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व से नियमित होती है इस कथन का तात्पर्य यह है कि घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित है।[३८] इस प्रकार गदाधर दोनों प्रकारताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। प्रकारता और विशेष्यता में ही निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, एक प्रकारता और दूसरी प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की जो भूतल में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित जो घट में प्रकारता है वही घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है। उन दोनों में अभेद होने से प्रकारता और प्रकारता में भी निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

जो लोग एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्ता में अभेद नहीं मानते वे 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान को घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से नियमित मानते हैं। उनके मत में एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। उक्त ज्ञान में भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता जो घट में है वहीं पर घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है जो वहीं रहने वाली प्रकारता को नियमित (अवच्छिन्न) करती है। यह मत स्वीकार करने पर उक्त दोनों ज्ञानों में होने वाला भेद स्पष्ट हो जाता है। 'द्रव्यवद्भूतलंघटश्च' इस ज्ञान की घट में रहने वाली विशेष्यता किसी प्रकारता को नियमित नहीं करती है, जबकि 'घटवत्भूतलद्रव्यंच' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता उसी में रहने वाली घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से नियमित (अवच्छिन्न) होती है। परन्तु यह मत समीचीन नहीं है यह पूर्व में दिखाया जा चूका है।

कुछ दूसरे नैयायिकों का मत है कि 'घटवद्भूतलम्' यह विशिष्ट विशेषणक ज्ञान दो प्रकार का होता है - 'विशिष्ट वैशिष्ट्यविषयक ज्ञान' तथा 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणानान्तरम्' इस रूप में होने वाला ज्ञान। पहले प्रकार के ज्ञान मे घटत्व से युक्त घट का सम्बन्ध (वैशिष्ट्य) भूतल के साथ मालूम होता है, जबकि दूसरे प्रकार से होने वाले ज्ञान में भूतल पर विशेषण के रूप में घट और घट में विशेषणान्तर के रूप में घटत्व प्रतीत होता है। प्रथम तरीके से उत्पन्न ज्ञान म घटत्व प्रकार न होकर प्रकारता

के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है, जबकि दूसरे तरीके से उत्पन्न ज्ञान में घटत्व प्रकारतात्मक विशेष्यता से निरूपित प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। अतः उसमें प्रकारता ही है, प्रकारता की अवच्छेदकता नहीं है।[३९]

प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि के समान प्रकारता भी किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। प्रकार जिस सम्बन्ध से अपने आश्रय में अभीष्ट होता है वह सम्बन्ध प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। जैसे-संयोगेन घटवद्भूतलम्' (भूतल संयोग सम्बन्ध से घट-युक्त है) ऐसा कहने पर घट में रहने वाली प्रकारता संयोग सम्बन्ध से निरूपित होती है। प्रकारता ही सम्बन्ध से नियमित होती है। धर्मि में रहने वाली विशेष्यता भी अनुयोगिता, अधिकरणता, पक्षता आदि के समान किसी भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। विशेष्य, अधिकरण आदि सापेक्ष पदार्थ हैं। उनका सम्बन्ध कहीं प्रतीत नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रतीति में जो सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह प्रकार के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। अतः प्रकारता सम्बन्ध से नियमित होती है, विशेष्यता नहीं होती। विशेष्यता धर्म से तो नियमित होती है, परन्तु सम्बन्ध से नहीं होती। इसका कारण आगे स्पष्ट किया जायगा।

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव और कार्य-कारण-भाव की निर्दुष्टता को सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिता की तरह की प्रकारता को भी सम्बन्ध से नियमित मानना चाहिये यह बात पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है।

यद्यपि प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक तथा प्रकार (विशेषण) दोनों भी होता है तथापि उसमें रहने वाली प्रकारता मुख्य प्रकारता नहीं होती। जो प्रकारता अवच्छेदकता-रूप नहीं होती उसे ही मुख्य प्रकारता कहते हैं। उसी प्रकारता-रूप न होने वाली विशेष्यता को मुख्य विशेष्यता कहते हैं। उसके विषय में अग्रिम अध्याय में विवेचन किया जायगा। प्रकारता के समान ही 'प्रकारतावच्छेदकता' भी कहीं किसी अन्य धर्म से नियमित होती है तो कभी किसी भी धर्म से नियमित नहीं होती है। (याने निरवच्छिन्न होती है) जैसे- 'रूपत्वव्याप्य-जातिमद्वान् घटः' यहाँ पर रूपत्वव्याप्यजाति (नीलत्व, पीतत्व) आदि में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता जातित्व धर्म से नियमित होती है। जाति का उल्लेख करने पर जाति स्वरूपतः प्रकार न हो कर नियमित होती है। उसी प्रकार 'घटवद्भूतलम्' ऐसा ज्ञान होने पर घटत्व में प्रतीत होने वाली प्रकारतावच्छेदकता किसी भी अन्य धर्म से नियमित नहीं होती है। क्योंकि यहाँ घटत्व का उल्लेख न होने से घटत्व घटत्व के रूप में ही प्रतीत होता है, घटत्वत्व के द्वारा नहीं।

प्रकारता के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि प्रकारता कभी धर्म से नियमित होती है तो कभी धर्म से नियमित नहीं होती। अर्थात् वहाँ वह निरवच्छिन्न होती है। परन्तु वह सदा-सर्वदा किसी-न-किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। इसलिये प्रकारता को अन्य विषयताओं से भिन्न सिद्ध करने के लिये उसको संसर्ग (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न विषयता के रूप में परिभाषित किया जाता है।[४०]

प्रकारता के समान ही विशेष्यता, साध्यता, विधेयता, उद्देश्यता, कोटिता आदि अन्य अनेक भेद होते है जिनका विवेचन किया जायगा।

उपर में विषयता के प्रकारता नामक भेद पर विचार किया गया था। इस अध्याय में उसके विशेष्यता नामक अन्य भेद पर विचार करना अभीष्ट है। विशेष्य-विशेष्यणभाव सम्बन्ध होने पर जब किसी वस्तु या धर्म में प्रकारता होती है तब धर्मि के रूप में ज्ञात होने वाले पदार्थ में विशेष्यता होती है। जिस प्रकार प्रकारता, विशेष्यता-सापेक्ष होती है उसी प्रकार विशेष्यता भी प्रकारतासापेक्ष होती है। इसलिये नैयायिक दोनों में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रकारता से निरूपित जैसे विशेष्यता होती है वैसे ही विशेष्यता से निरूपित प्रकारता भी होती है। 'पर्वतः अग्निमान्' ऐसा ज्ञान होने पर पर्वत पर रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता जिस प्रकार अग्नि में है, उसी प्रकार अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता पर्वत में भी होती है।

जिस तरह किसी धर्मि (आश्रय-क्योंकि धर्म का धर्मि आश्रय होता है।) में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकार कहलाता है, उसी प्रकार कोई पदार्थ धर्मि के रूप में प्रतीत होने पर विशेष्य कहलाता है। किसी वस्तु की धर्मि के रूप में भासमानता को ही विशेष्यता कहा जाता है।

गदाधर[४१] ने भासमान वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) के प्रतियोगित्व को विशेषणता तथा उसकी (सम्बन्ध की) अनुयोगिता को विशेष्यता कहा है। जैसे-'पर्वत अग्निमान् है ऐसा प्रतीत होने पर अग्नि और पर्वत का जो सम्बन्ध प्रतीत होता है उस सम्बन्ध का प्रतियोगी अग्नि होने से उसमें रहने वाली प्रतियोगिता को प्रकारता तथा पर्वत में रहने वाली अनुयोगिता को विशेष्यता कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सांसर्गिक (सम्बन्ध-विषयक) अनुयोगिता का ही दूसरा नाम विशेष्यता है। यही कारण है कि समूहालम्बन (समूह विषयक) ज्ञान में जहाँ दो या से अधिक पदार्थों का वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) प्रतीत नहीं होता है वहाँ विशेष्यता नामक विषयता नहीं होती है (याने वहाँ विशेष्यता का बोध नहीं होता है।) इसी के आधार पर समूहालम्बनात्मक ज्ञान तथा विशिष्ट ज्ञान में भेद किया जाता है।[४२]

परन्तु यह मत समीचीन नहीं है। क्योंकि सांसर्गिक प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व को क्रमशः प्रकारता और विशेष्यता मानने पर भ्रमात्मक ज्ञान में भासमान प्रकारता-रूप विशेष्यताओं का समावेश उसमें करना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि भ्रम में दोनों (प्रकार तथा विशेष्य) में वैशिष्ट्य सम्बन्ध नहीं होता है। विशेष्य में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला मुख्य प्रकार से भिन्न धर्म विशेष्यता का अवच्छेदक (नियामक) होता है। जैसे-पर्वत में विशेषण के रूप में पर्वतत्व तथा अग्नि ये दोनों ही प्रतीत होते हैं। परन्तु उनमें से अग्नि मुख्य प्रकार है और उससे भिन्न पर्वतत्व पर्वत में प्रतीत होने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक होता है। विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाले पर्वतत्व में विशेषणता और विशेष्यतावच्छेदकता दोनों भी हैं। परन्तु उक्त विशेषणता (याने प्रकारता) मुख्य नहीं है। मुख्य प्रकारता अग्नि में ही है। अग्नि में रहने वाली प्रकारता अवच्छेदकता-

रूप न होने वे वह मुख्य प्रकारता है, जब कि विशेष्यतावच्छेदकता-रूप होने से पर्वतत्व में रहने वाली प्रकारता गौण प्रकारता है।

जिस प्रकार अवच्छेदकता-रूप न होने वाली प्रकारता मुख्य प्रकारता कहलाती है, उसी प्रकार प्रकारता-रूप न होने वाली विशेष्यता मुख्य विशेष्यता कहलाती है।[४३] 'नीलसरोजयुक्त सरोवर' इस ज्ञान की सरोवर में प्रतीत होने वाली विशेष्यता मुख्य विशेष्यता है, क्योंकि सरोवर अन्य किसी के विशेषण के रूप में उक्त ज्ञान का विषय नहीं है।

विशेष्यता भी कभी किसी धर्म से नियमित (अवच्छिन्न) होती है, तो कभी नहीं होती।जब विशेष्यता किसी दूसरे विशेषण से नियमित होती है, ४४ तब उसे सावच्छिन्न (नियमित) विशेष्यता कहते है; और जब वह किसी भी अन्य धर्म से नियमित नहीं होती है तो उसे निरवच्छिन्न (अनियमित) विशेष्यता के रूप में जाना जाता है। जैसे-'घट' इस ज्ञान की घटत्व में रहने वाली (प्रतीत होने वाली) प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता निरवच्छिन्न विशेष्यता है। इस ज्ञान में 'घटत्व' विशेषण या प्रकार के रूप में प्रतीत होने से उसमें प्रकारता (प्रकारत्व) है और घट में विशेष्यता है। जबकि 'अयं घटः' (यह घट है) इस ज्ञान की घट में प्रतीत होने वाली विशेष्यता सावच्छिन्न है। यहाँ घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता 'इदंत्व' धर्म से नियमित होने के कारण सावच्छिन्न है। यहाँ 'इदंत्व' धर्मितावच्छेदक (धर्मिता का नियामक धर्म) के रूप में प्रतीत होता है। उसमें मुख्य प्रकारता नहीं है, यद्यपि वह घट का विशेषण है। यहाँ मुख्य विशेषण तो घटत्व ही है। विशेष्यतावच्छेदकता को हम मुख्य प्रकारता नहीं मान सकते, अन्यथा 'घट' इस ज्ञान में तथा 'अयं घटः' इस ज्ञान में भी घटत्व को ही समान रूप से धर्मितावच्छेदक मानना पडेगा। इस प्रकार से उस ज्ञान में प्रकार के रूप में किसी का भी ग्रहण नहीं होगा, फिर बिना धर्मितावच्छेदकवाले ज्ञान का विलोप हो जायगा। अतः धर्मितावच्छेदक और मुख्य विशेषण में भेद मानना अनिवार्य है। वह या तो प्रतियोगितावच्छेदकता के समान स्वरूपविशेष है, या कोई भिन्न पदार्थ है।

या यह भी मानना उचित है कि धर्मितावच्छेदकता भी प्रकारता का ही एक भेद है ?[४५] क्योंकि जिस ज्ञान में धर्मितावच्छेदक का प्रत्यय होता है, उसे धर्मितावच्छेदक प्रकार वाला ज्ञान कहते हैं। इसलिये उसे भी विशेष्यतावच्छेदकता प्रकार वाला ज्ञान कहते हैं।इसलिये उसमें भी विशेष्यतावच्छेदकता के अलावा एक प्रकारता की भी कल्पना करनी पडेगी। लेकिन यदि यह स्वीकार किया तो उसमें गौरव दोष उद्‌भूत होता है।

दूसरे ज्ञानों में स्वीकृत उस (प्रकारतावच्छेदक) धर्म में रहने वाली प्रकारता के आधार पर ही इस ज्ञान को भी 'तद्धर्भ-प्रकारक' कहने में कोई बाधा नहीं है यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि उस धर्म के धर्मितावच्छेदक के रूप में प्रतीत होने पर अनन्त ज्ञानों में उस तरह का प्रकारता-निरूपकत्व मानने की अपेक्षा उक्त धर्मितावच्छेदक में स्वतन्त्र प्रकारता मानने में ही लाघव है।

परन्तु फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या 'अयं घटः इस ज्ञान में 'इदत्व'

के समान 'स्व' को भी धर्मितावच्छेदक के रूप में ग्रहण करना पडेगा ? इसके फलस्वरूप 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद 'अयमयम्' इस प्रकार का स्मरण भी होगा। परन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि उस ज्ञान की प्रकारता से निरूपित धर्मितावच्छेदकता का आश्रय ही उस ज्ञान में धर्मितावच्छेदक होता है। 'अयं घटः' इस ज्ञान के विषय में 'इदत्व' में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता और स्वात्मक (घटात्मक) प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव न होने से 'अय घटः' इस अनुभव के बाद 'अयं अयम्' इस स्मरण की आपत्ति नहीं हो सकती।[४६] इस तरह 'इदत्व' में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता और घटत्व में रहने वाली प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण न होने से उनमें भी निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं है। लेकिन परम्परा से निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार करने पर वह (निरूप्य-निरूपक-भाव) उक्त ज्ञान में भी है ऐसा मानना पडेगा। इसलिये धर्मितावच्छेदकता और विशेषण में रहने वाली प्रकारता के बीच उन्हें जोड़ने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव यह सम्बन्ध मानना उचित है। जिसमें रहनेवाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता जिससे अवच्छेद्य (नियम्य) होती है वह ही विशेष्यता का अवच्छेदक कहलाता है। 'अयं घटः' यहाँ स्व-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता स्व से अवच्छिन्न न होने से स्व में धर्मितावच्छेदक के रूप में ग्रहण नहीं होता है।

विशेष्यता के सम्बन्धावच्छिन्न (सम्बन्ध से नियमित) होने के बारे में मत भेद है। कुछ लोक मानते हैं कि धर्मि (आश्रय) में रहने वाली अधिकरणता, अनुयोगिता, विशेष्यता, पक्षता आदि धर्म किसी भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होते हैं। वे सब सापेक्ष शक्तियाँ हैं और वे केवल धर्म से ही नियमित होती हैं, सम्बन्ध से नहीं। उनको जिनकी अपेक्षा होती है वे आधेयता, प्रतियोगिता, प्रकारता आदि ही सम्बन्ध से नियमित होती हैं[४७]

जो लोग प्रकारता-रूप विषयता को सम्बन्ध से नियमित मानते हैं लेकिन विशेष्यता को नहीं मानते, उनका कहना है कि विशेष्यता को सम्बन्ध से नियमित न मानने परही व्याप्यविशेष्य वाले तथा पक्ष-विशेष्य-वाले ऐसे दोनों परामर्शों को एक रूप से अनुमिति का कारण मान सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'अग्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्श से 'पर्वतः अग्निमान्' इस प्रकार की अनुमिति होती है, उसी प्रकार 'पर्वते (पर्वत पर) अग्निव्याप्यधूमः' इस परामर्श से 'पवर्तः अग्निमान्' यह अनुमिति होती है। लेकिन इन दोनों परामर्शों में भेद है। 'अग्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्शात्मक ज्ञान में पर्वत विशेष्य के रूप में तथा अग्निव्याप्यधूम प्रकार के रूप में प्रतीत होता है, जबकि 'पर्वते अग्निव्याप्यधूमः' इस दूसरे परामर्शात्मक ज्ञान में पर्वत प्रकार के रूप में तथा अग्निव्याप्यधूम विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। इन दोनों परामर्शों के संग्रह के लिये संयोग सम्बन्ध से नियमित न होने वाली विषयता वाले निश्चय के रूप में हम दोनों परामर्शों का ग्रहण कर सकते हैं। विशेष्यता को सम्बन्ध से नियमित न मानने पर दोनों ही ज्ञानों की विशेष्यताएँ सम्बन्ध से नियमित होने वाली न होने से दोनों ही परामर्शात्मक ज्ञानों की एक रूप से ही अनुमिति के लिये कारणता सिद्ध

हो जाती है। यदि प्रकारता की तरह विशेष्यता को भी सम्बन्ध से नियमित (अवच्छिन्न) मानें तो 'साध्यव्याप्यवान् पक्षः' इस पक्ष-विशेष्य-वाले परामर्श में रहने वाली विशेष्यता जिस प्रकार आधेयत्व से भिन्न संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है उसी प्रकार 'पक्ष साध्यव्याप्यः' इस परामर्श में साध्यव्याप्य (धूम) में रहने वाली विशेष्यता संयोग से भिन्न आधेयत्व सम्बन्ध (क्योंकि पर्वत पक्ष पर अग्निव्याप्य धूम आधेय होता है) से नियमित होती है। लेकिन वहाँ उक्त दोनों विशेष्यताओं से कथित सम्बन्धों से अनवच्छिन्नत्व (अनियमितत्व) न होने से उक्त दोनों परामर्शों का उस प्रकार से कारण के रूप में संग्रह सम्भव तथा स्वीकार्य नहीं होगा। विशेष्यताओं को सम्बन्ध से नियमित न मानने पर उक्त परामर्शों की विशेष्यताएँ उक्त सम्बन्धों से अनवच्छिन्न (अनियमित) होने से उक्त दोनों परामर्शों को एक रूप से ही अनुमिति का कारण मान सकते हैं। अतः विशेष्यता को सम्बन्ध से नियमित न मानना ही उचित है।

तथापि अन्य कुछ नैयायिकों का कथन है कि प्रकारता को सम्बन्ध से नियमित मानना और विशेष्यता को न मानना उचित नहीं है। उनके मतानुसार संयोगेन अग्नि के अभाव का निश्चय जिस प्रकार संयोग सम्बन्ध से अग्निमान् इस ज्ञान का विरोधी होता है, उसी प्रकार महानसीय संयोगेन अग्निमान् इस ज्ञान का भी विरोधी होता है। इसलिये प्रतिबध्य की कोटि में प्रविष्ट संसर्गता (सम्बन्धता) में संयोगत्व से भिन्न धर्म से अनवच्छिन्न (अनियमित) कह कर उसका निषेध नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में 'स्वसंयोगि संयोगेन अग्निमान्' इस ज्ञान के लिये भी संयोगेन अग्नि-अभाववान् यह निश्चय प्रतिबन्धक हो जायगा। लेकिन 'स्वसंयोगि संयोगेन अग्निमान्' इस निश्चय का विरोध संयोगेन अग्नि-अभावावान् यह निश्चय नहीं करता है, यह बात अनुभव-सिद्ध है। इसलिये प्रकारता से निरूपित तथा विशेष्यता से निरूपित भिन्न संसर्गता स्वीकार करनी चाहिये। प्रकारता और विशेष्यता की तरह संसर्गता और प्रकारता तथा संसर्गता और विशेष्यता में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। इस तरह प्रकारता और विशेष्यता इन दोनों से निरूपित संसर्गता से निरूपित प्रकारता और विशेष्यता एक साथ ही होती है, और संसर्गता से निरूपित होने का ही अर्थ संसर्ग (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न (नियमित) होना ऐसा होता है। इस प्रकार विशेष्यता भी सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है।[४८]

यदि प्रकारता से निरूपित तथा विशेष्यता से भी निरूपित उपरिनिर्दिष्ट बीचवाली संसर्गता स्वीकार नहीं की तो 'स्वयंयोगि संयोग सम्बन्ध से अग्निमान्' इस ज्ञान का संयोग सम्बन्ध से अग्नि-अभाववान् यह ज्ञान विरोधी हो जायगा। 'संयोगेन अग्निमान् ह्रदः' इस निश्चय का 'संयोगेन अग्नि-अभावमान् ह्रदः' यह निश्चय प्रतिबन्धक होता है। प्रतिबध्य होने वाले संयोग सम्बन्ध से 'अग्निमान् ह्रदः' इस ज्ञान की अग्नि में प्रतीत होने वाली जो प्रकारता है उससे निरूपित संसर्गता संयोग में है और उस संसर्गता से निरूपित विशेष्यता ह्रद में है। 'स्वसंयोगि संयोगसम्बन्धेन अग्निमान् ह्रदः' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली संयोग में रहने वाली संसर्गता प्रकारता और विशेष्यता इन दोनों से निरूपित नहीं है। 'स्वयंयोगि संयोगेन अग्निमान् ह्रदः' इस ज्ञान में प्रतीत होने वाली

संसर्गता दो हैं-एक, 'स्वयंयोगी' कहने पर प्रतीत होने वाले संयोग में है, जो कि केवल प्रकारता से निरूपित है; दूसरी, 'स्वयंयोगि संयोग' में प्रतीत होने वाला जो दूसरा संयोग है, उसमें है जो कि केवल ह्रद में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित है। उनमें कोई भी संसर्गता अग्नि में रहने वाली प्रकारता तथा ह्रद में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव स्वीकार करने पर 'संयोगसम्बन्धेन आग्नि-अभाववान् ह्रदः' यह निश्चय 'स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्धेन अग्निमान् ह्रदः' इस निश्चय का प्रतिबन्धक नहीं होता है।

तथापि 'महानसीय संयोग सम्बन्धेन अग्निमान् ह्रदः' इस निश्चय का 'संयोगसम्बन्धेन अग्नि-अभाववान् ह्रदः' यह निश्चय अवश्य प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि महानसीय संयोग में रहने वाली संसर्गता अग्नि में रहने वाली प्रकारता तथा ह्रद में रहने वाली विशेष्यता इन दोनों से ही निरूपित होने से उक्त रूप से प्रतिबध्यता होती है। अतः प्रकारता तथा विशेष्यता ये दोनों भी सम्बन्ध से नियमित होती हैं ऐसा मानना उचित है।

परन्तु नैयायिकों का बहुमत [४१] इन दोनों का इस प्रकार सम्बन्ध से नियमित मानने के विरूद्ध है। उनका कहना है कि स्वययोगि संयोगरूप परम्परा को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उसके आधार पर उपर्युक्त बीच वाली संसर्गता प्रकारता तथा विशेष्यता से निरूपित है ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये विशेष्यता को संसर्ग (सम्बन्ध) से नियमित न मान कर प्रकारता को ही केवल संसर्ग से अवच्छिन्न मानना उचित है। और उसके आधार पर पक्ष विशेष्य वाले तथा व्याप्य विशेष्य वाले दोनों परामर्शों को पूर्वोक्त रीत्या एक रूप से अनुमिति का कारण मानने में कोई बाधा नहीं है।

परन्तु अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकाभाव की व्यवस्था करने के लिये यदि प्रकारता या विशेष्यता इन दोनों में से किसी एक को सम्बन्ध से नियमित है ऐसा मानना आवश्यक है तो विशेष्यता को ही सम्बन्ध से नियमित क्यों न माना जाय ? या दोनों में से सम्बन्ध से नियमित किसे माना जाय इसके बारे में निर्णायक युक्ति न होने से दोनों को ही सम्बन्ध से नियमित क्यों न माना जाय ? इस विषय में नैयायिकों का यह कथन है कि प्रकारता को सम्बन्ध से अवच्छिन्न मानने में लाघव है, क्योंकि 'पर्वतो अग्निमान्' इस ज्ञान का पर्वत पर अग्नि अवृत्ति है यह ज्ञान प्रतिबन्धक है। इन दोनों ही ज्ञानों में परस्पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव होता है। दोनों ज्ञानों में इस प्रकार प्रतिबन्धकता आने के लिये यह आवश्यक है कि ज्ञान की विशेष्यता या प्रकारता को सम्बन्ध से अवच्छिन्न माना जाय। प्रकारता विशेष्यता से निरूपित होती है, तथा इसे सम्बन्ध से नियमित मानने पर पूर्वोक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में अग्नि में रहने वाली प्रकारता के रूप में गृहीत होती है। संयोग सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित अग्नि में रहने वाली प्रकारता वाला ज्ञान संयोग सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित वृत्तित्वाभाव-प्रकारता वाले ज्ञान के लिये प्रतिबन्धक होता है। प्रकारता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर प्रकारता में 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितत्व'

का निवेश करना पड़ता है। संयोग सम्बन्ध से नियमित घट-ज्ञान के लिये संयोग सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले घटाभाव का ज्ञान प्रतिबन्धक होने से उन में होने वाले प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव में कोई दोष नहीं होता है। अतः 'विशेष्यता-निरूपतित्व' का निवेश न करने पर भी दोष नहीं होगा। परन्तु विशेष्यता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की निर्दुष्टता के लिये 'उस सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित प्रकारता' यह कथन आवश्यक हो जाता है। अतः प्रकारता को ही सम्बन्ध से नियमित मानना चाहिये, विशेष्यता को नहीं।

समूहालम्बन ज्ञान [५०] (जैसे-गौ, अश्व, मनुष्य आदि) की विशेष्यता प्रकार के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। 'गौ अश्वमनुष्य' इस ज्ञान की गोत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित गो में रहनेवाली विशेष्यता, अश्वत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित अश्व में रहने वाली विशेष्यता से भिन्न है। समूहालम्बन ज्ञान उसमें अन्तर्भूत प्रत्येक प्रकार वाले ज्ञान-सामग्रीपर आधारित होने से प्रत्येक समूहालम्बन प्रकार वाले ज्ञान की अनेक विशेष्यताएँ उक्त ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। परन्तु जो लोग धर्मितावच्छेदकता को भी प्रकारता के रूप में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार 'अयं घटः' (यह घट है) या 'दण्डीकुण्डली (दण्डी कुण्डल वाला है) इस ज्ञान में मालूम होने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता होती है। धर्मितावच्छेदक में अन्य ज्ञान साधारण (अन्य ज्ञान की प्रकारता को ज्ञान की प्रकारता के रूप में) स्वीकार करने पर प्रकार के भेद से विशेष्यता का भेद मानना उचित है।

विशेषण तथा विशेष्यतावच्छेदक के रूप में जहाँ खड्ग और कुण्डल इन दोनों से युक्त देवदत्त का प्रत्यय नहीं होता है, अपितु खड्गवाला (और) कुण्डल वाला देवदत्त शूर है इस प्रकार का समूहालम्बन-बोध से अलग तरह का बोध यदि अनुभव-सिद्ध हो तो वहाँ भी दो प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता स्वीकार करनी चाहिये। अन्यथा उस बोध को समूहालम्बन-बोध से भिन्न नहीं किया जा सकेगा।

उसी प्रकार खड्ग और कुण्डल ये दोनों परस्पर विशेषण-विशेष्यतावच्छेदक हुए बिना 'खड्गवाला (और) कुण्डल वाला देवदत्त शूर है' इस ज्ञान में शौर्य के धर्मितावच्छेदक के रूप प्रतीत में होते हैं। जैसे-खड्गवाला कुण्डलयुक्त चैत्र शूर है' इस में खड्ग और कुण्डल इन दो में रहने वाली प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता होती है। वह विशेष्यता कुछ नैयायिकों के मत में खड्ग और कुण्डल इन दोनों से नियमित शौर्य में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से भिन्न है तो कुछ अन्य नैयायिकों के मतानुसार उक्त विशेष्यता से अभिन्न है।[५१]

समूहालम्बन-ज्ञान और संशय में भी विशेष्यता के आधार भेद किया जाता है। संशय में दो कोटियों (भाव एवं अभाव या स्थाणु एवं पुरुष) में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता होती,[५२] जबकि समुच्चय विषयक ज्ञान में विशेष्यताएँ अनेक होती हैं। जैसे-भूतल, मनुष्य तथा पशु से युक्त है' इस प्रत्यय में भूतल में प्रतीत होने वाली एक विशेष्यता, मनुष्य में रहने वाली प्रकारता तथा दूसरी पशु

में रहने वाली प्रकारता से निरूपित है।

यद्यपि 'रूपगन्धयुक्तघटतृभूतलवान् देश है' इस प्रतीति में रूप और गन्ध का ग्रहण 'एकत्र द्वयम्' इस रीति से होता है और इसलिये रूप और गन्ध में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित घट में एक ही विशेष्यता है, फिर भी यहाँ विशेषण के विषय में सशयात्मक ज्ञान न होने से तथा मुख्य विशेष्य के विषय में 'एकत्र द्वयम्' (एक ही स्थान में दो वस्तुएँ) इस तरह का ज्ञान न होने से संशय और एकत्र द्वय इस ज्ञान में होने वाला भेद स्पष्ट हो जाता है।

कुछ नैयायिकों का मत है कि संशय कोटिद्वय विषयताओं में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है, जबकि 'एकत्र द्वयं' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली एक विशेष्यता से निरूपित होने वाली दो प्रकारताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब 'नरो वा स्थाणुर्वा' इस प्रकार का संशय होता है तो स्थाणुत्व में रहने वाली प्रकारता नरत्व में रहने वाली प्रकारता से जिस तरह अवच्छिन्न (नियमित) होती है, उसी तरह नरत्व में रहने वाली प्रकारता स्थाणुत्व में रहने वाली प्रकारता से अवच्छिन्न होती है। परन्तु जब 'एकत्र द्वयम् के रूप में' स्थाणुपुरुषवान् देश है' यह प्रत्यय होता है तो स्थाणु में रहने वाली प्रकारता से नियमित न पुरुष में रहने वाली प्रकारता होती है और न ही पुरुष में रहने वाली प्रकारता से नियमित स्थाणु में रहने वाली प्रकारता, यद्यपि वह देश में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित होती है।

यद्यपि संशय और सम्भावना इनमें से हरेक में दो कोटियाँ होती हैं, तथापि सम्भावना की दो कोटियों में से एक में उत्कटता होती है, जबकि संशय में दोनों कोटियाँ समान स्तर की होती हैं। संभावना में प्रतीत होने वाली उत्कटता भी विषयता का ही एक प्रकार है।

विशेष्यता के अतिरिक्त कोटिता, विधेयता, संसर्गता आदि भी विषयता के ही भेद हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायगा।

विषयता के प्रकारता तथा विशेष्यता नामक भेदों पर प्रकाश ड़ाला जा चुका है। विषयता का ही एक तीसरा भेद संसर्गता भी है। संसर्गता भी प्रकारता और विशेष्यता के समान विशिष्टबुद्धि में प्रतीत होती है। प्रकार और विशेष्य (आश्रय) के समान सम्बन्ध भी विशिष्टज्ञान का विषय होता है।[५३] विशेषण और विशेष्य से भिन्न जो विशिष्टबुद्धि का विषय होता है उसे संसर्ग (सम्बन्ध) कहते हैं। दो असम्बद्ध पदार्थों के विषय में विशिष्टबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। इसीलिये आचार्य गंगेश ने सम्बन्ध की परिभाषा देते हुए कहा है कि अविशिष्ट से भिन्न विशिष्टबुद्धि का नियामक सम्बन्ध है।[५४]

परन्तु गंगेश के उक्त लक्षण में 'विशिष्ट' पद सम्बन्ध का पर्यायी होने से आत्माश्रयदोष होता है। अतः रुचिदत्त[५५] ने व्यावृत्त-ज्ञान के कारण-ज्ञान के असाधारण विषय को सम्बन्ध कहा हैं। परन्तु 'प्रमेयत्व' आदि को भी जो सम्बन्ध मानते हैं उनके मत में प्रमेयत्व का ज्ञान व्यावृत्तज्ञान का कारण न होने से अव्याप्ति दोष होता है।[५६] पक्षधर[५७] (जयदेव) के अनुसार 'अविशिष्ट-ज्ञान का कारण न होने हुए जो विशिष्ट-ज्ञान

का कारण होता है वह सम्बन्ध है'। तथापि अतीन्द्रिय संयोग में तथा कालिक-स्वरूप सम्बन्ध में उक्त लक्षण घटित न होने से वह त्याज्य है। अतः इस लक्षण को छोड़ कर विशेषणज्ञान से जन्य ज्ञान का जो असाधारण विषय है वह संसर्ग है ऐसा स्वीकार करना उचित है। इसका तात्पर्य यह है कि विशिष्टज्ञान के लिये विशेषण का ज्ञान कारण होता है। 'दण्डी' यह ज्ञान दण्ड के ज्ञान के बिना नहीं होता है। 'दण्डी' इस ज्ञान के विषय दण्ड का आश्रय (पुरुष) होने पर भी उसकी असाधारण विषय दण्ड और पुरुष के बीच में प्रतीत होने वाला संयोग सम्बन्ध है। इस प्रकार विशिष्टबुद्धि का विषय सम्बन्ध भी होता है तथा उसमें संसर्गता भी होती है और इस प्रकार की संसर्गता यह विषयता का ही एक भेद है।

कुछ नैयायिक [५८] संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय नहीं मानते हैं। उनके अनुसार 'यह घट है' इस ज्ञान के पश्चात् ''मैं समवाय को जानता हूँ'' इस प्रकार का अनुव्यवसाय (पश्चात्-वर्ति ज्ञान) नहीं होता है, अपितु ''मैं घट को जानता हूँ'' इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। 'समवायं जानामि' (मैं समवाय को जानता हूँ) यह अनुव्यवसाय समवायत्व से युक्त (समवाय) के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) को व्यक्त करने वाला होने से वह समवायत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है, (घटत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है), घटत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् नहीं।

परन्तु यदि संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय न मानें तो बाध-ज्ञान में प्रतीत होने वाली प्रतिबन्धकता सम्बन्ध-विशेष से नियमित नहीं होगी और उससे तन्तु में संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होने वाला पट के अभाव का निश्चय तन्तु में संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले पट के ज्ञान का विरोधी होता है, तन्तु में होने वाले सभी प्रकार के पटज्ञान का विरोधी नहीं होता है इस अनुभव का विरोध होगा। अतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था के लिये विशिष्ट बुद्धि को सम्बन्ध-विषयक मानना आवश्यक है।

उसी प्रकार ज्ञान का प्रमात्व या भ्रमत्व सम्बन्ध-विशेष से नियमित होने के कारण भी विशिष्ट-बुद्धि को सम्बन्ध-विषयक मानना आवश्यक है। भ्रमत्व और प्रमात्व को सम्बन्ध-विशेष से नियमित न मानें तो क्या होगा? ऐसा मानने का कारण यह है कि कपाल विशेष्य-वाला और घट प्रकार-वाला कोई ज्ञान तो भ्रम है और कोई ज्ञान प्रमा है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'कपाल समवाय सम्बन्ध से घटवाला है', यह ज्ञान प्रमा है तथापि 'कपाल संयाग सम्बन्ध से घटवाला है' यह ज्ञान भ्रम है। सम्बन्ध को विशिष्ट-बुद्धि का विषय न मानने पर कपाल समवाय सम्बन्ध से घटवान् है ऐसा ज्ञान होने पर सभी घटवान् ज्ञान प्रमा होने चाहिये, और कपाल संयोग सम्बन्ध से घटाभाववान् होने से सभी ज्ञान भ्रम होने चाहिये। लेकिन ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

संसर्गता-रूप विषयता को अलग न मानने पर ज्ञान को प्रमा और भ्रम के भेद से भिन्न सिद्ध करना संभव नहीं होगा। रज्जु में जब सर्प का ज्ञान है तब वहाँ भी सर्पत्व से युक्त रज्जु में उक्त ज्ञान की विषयता विद्यमान होती है। लेकिन वैसे ही वह सत्य सर्प

के ज्ञान की दशा में भी विद्यमान होती है। अतः संसर्गता रूप विषयता को स्वतन्त्र मानना आवश्यक है। असत्य सर्प-स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध रज्जु के साथ न होने से वह ज्ञान प्रमा ज्ञान से भिन्न है। याने सत्य सर्प-स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध सर्प से होता है तो असत्य सर्प-स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध सर्प से न हो कर रज्जु में होता है और इसलिये ये दो ज्ञान प्रकारतः भिन्न हैं।

कुछ नैयायिक संसर्गता को विषयता का एक प्रकार न मान कर अवच्छेदकता का एक प्रकार मानते है और उसे सांसर्गिकी (सम्बन्ध-विषयक) अवच्छेदकता कहते हैं। इनके मतानुसार संसर्ग में रहने वाली प्रकारता की अवच्छेदकता को प्रकारता से निरूपित सांसर्गिक विषयता के रूप में परिभाषित करने पर संसर्ग में विशिष्ट-बुद्धि की विषयता आ जाती है यह कथन उचित नहीं है। प्रकारता से निरूपित होनेवाली संसर्गता में रहने वाली अवच्छेदकता स्वरूप-सम्बन्ध-रूप या अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर उसे विषयता का प्रकार न मान कर अवच्छेदकता का प्रकार ही मानना उचित है।

परन्तु गदाधर [५९] का विचार है कि यदि संसर्ग को विशिष्टबुद्धि का विषय नहीं मानेंगे तो उस सम्बन्ध वाले पदार्थ के ज्ञान से उससे विशिष्ट (याने सम्बद्ध) वस्तु का ज्ञान नहीं होगा और उस सम्बन्ध का उपनीत भान (ज्ञान लक्षण से होने वाला प्रत्यक्ष) नहीं होगा। अतः संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय मान कर संसर्गता को भी विषयता का एक भेद मानना आवश्यक है।

'भूतल घटवान् है' इस प्रतीति से प्रतीत होने वाली तथा घट में रहने वाली आधेयता (वृत्तिता) का नियामक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होता है। वही संयोग सम्बन्ध 'भूतल पर घट नहीं है' इस प्रतीति से प्रतीत होने वाले घट के अभाव की घट में होने वाली प्रतियोगिता का भी नियामक होता है। संयोग सम्बन्ध में रहने वाली जो इस प्रकार की संसर्गता-रूप प्रतियोगिता की अवच्छेदकता या नियामकता है उसका नियामक धर्म संयोगत्व होता है। उसे संसर्गतावच्छेदक भी कहते है। परन्तु संसर्गता का नियामक दूसरा कोई संसर्ग नहीं होता है। संसर्गता का नियामक दूसरा संसर्ग है ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। जैसे 'घटवान् भूतल' में घट और भूतल के बीच में होने वाले संसर्ग के रूप में संयोग की प्रतीति होती है। लेकिन संयोग गुण होने से वह अपने आश्रय (संयोगिन्) के साथ समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये उक्त संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को समवाय सम्बन्ध से नियमित मानने पर उक्त समवाय सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को स्वरूप सम्बन्ध से नियमित तथा उक्त स्वरूप सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को अन्य सम्बन्ध से नियमित मानना होगा। तथापि ऐसा स्वीकार करने से अनवस्था दोष होता है। अतः नैयायिक विशिष्ट प्रतीति में संसर्ग का भान तो स्वीकार करते हैं, परन्तु संसर्ग के संसर्ग का भान स्वीकार नहीं करते और इसलिये संसर्गता अन्य संसर्ग से नियमित नहीं मानते।

तथापि वे सम्बन्ध की प्रतियोगिता उसकी (सम्बन्ध की) अनुयोगिता स्वीकार

करते हैं। जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है कि अभाव के समान ही संसर्ग का एक प्रतियोगी तथा दूसरा (सम्बन्धी) अनुयोगी होता है। और कर जिस सम्बन्ध के सम्बन्धियों में आधार आधेय भाव रहता है वह सम्बन्ध उस सम्बन्ध के अनुयोगी में रहता है (याने अनुयोगी के आधार पर अधिष्ठित होता है) ऐसा कुछ लोग मानते हैं।[६०]

तथापि 'घटवद् भूतल' इस प्रत्यय में संयोग का उल्लेख न होने से संयोग में (घट और भूतल के बीच में होने वाले संयोग में) जो संसर्गता है वह किसी सम्बन्ध से नियमित हो कर प्रतीत नहीं होती है, यद्यपि उक्त संयोग उस के संयोगी में समवाय सम्बन्ध से (क्योंकि उनमें आधारधेय भाव है) होने पर भी उक्त प्रतीति में संयोग का प्रत्यय अन्य सम्बन्ध के प्रत्यय के बिना ही होता है। 'घटसंयोगी भूतल है' यह प्रत्यय होने पर संयोग का (याने संयोग संबंध से संबंधित संयोगियों के साथ का) सम्बन्ध समवाय प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रत्यय में संयोग का प्रत्यय सम्बन्ध का प्रत्यय न हो कर 'प्रकार' का प्रत्यय है तथा यहाँ संसर्ग का प्रत्यय समवाय का प्रत्यय है।

'घटवद् भूतलम्' इस प्रत्यय में संयोग का सम्बन्ध समवाय प्रतीत न होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता और समवाय संसर्ग होने से उसमें होने वाले संसर्गता के अस्तित्व का भी निषेध नहीं किया जा सकता। तथापि उक्त संसर्ग प्रतीति का विषय न होने से उक्त समवाय सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता विषयता-रूप नहीं है। वह अलग प्रकार की ही संसर्गता है।

कुछ नैयायिकों[६१] का विचार है कि जहाँ विशिष्ट-बुद्धि अर्थात् विशेष्य-विशेषण भाव या आधाराधेय भाव-बुद्धि नहीं होती है वहाँ पर भी सम्बन्ध का ज्ञान होता है। उस सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता भिन्न प्रकार की ही संसर्गता है जो सम्बन्ध-बुद्धि का विषय होती है तथा प्रतियोगिता और अनुयोगिता से निरूप्य भी होती है। उक्त संसर्गता में रहने वाला संसर्गतात्व एक पृथक् अखण्ड धर्म है। उस संसर्गता में विशिष्ट-बुद्धि का नियामकत्व नहीं है, क्योंकि जहाँ अधिकरण तार्थक 'मतुप्' आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है वही विशिष्ट-बुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार को विशिष्ट-बुद्धि में विशेषण आधेय के रूप में तथा विशेष्य अधिकरण के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु दो भेडों की टक्कर में या दो पहलवानो की टक्कर में जो संयोग है उसमें दोनों ही भेडों या पहलवानों में से कोई भी आधार या आधेय नहीं है। इसके बावजुद संयोग तो वहाँ प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसलिये उक्त सम्बन्ध में संसर्गता तो अवश्य माननी ही पडेगी, क्योंकि दो भेडों की टक्कर होने पर एक भेड प्रतियोगी और दूसरा उसके अनुयोगी के रूप में भासित होता है। इसलिये उक्त प्रतियोगिता और अनुयोगिता से प्रदर्शित होनेवाली संसर्गता उक्त संयोग में मानना अनिवार्य है। वह संसर्गता भी विषयता-रूप है क्योंकि सम्बन्ध उक्त ज्ञान का विषय है।

संसर्गता को जो सांसर्गिक अवच्छेदकता के रूप में ग्रहण करते हैं उनमें से यज्ञपति उपाध्याय के अनुयोयी संसर्ग के संसर्ग का भी प्रत्यय होता है ऐसा मानते हैं। उनके मत में उक्त संसर्गता सम्बन्धावच्छिन्न होती है। परन्तु जो सम्बन्धके सम्बन्ध को

प्रतीति का विषय नहीं मानते उनके मत में संसर्गता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है।[६२]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट-बुद्धि की विषयता तीन पदार्थों में होती है : प्रकार में प्रकारता-रूप, विशेष्य (आश्रय) में विशेष्यता-रूप तथा संसर्ग मे संसर्गता-रूप। अब प्रश्न यह है कि इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध है या ये पूर्णतया स्वतंत्र हैं ? नैयायिक[६३] मानते हैं कि संसर्गता के साथ प्रकारता और विशेष्यता का निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। प्रकारता से निरूप्य संसर्गता होती है तो संसर्गता निरूप्य कहलाती है और प्रकारता निरूपक कहलाती है। जब संसर्गता से निरूप्य प्रकारता होती है तो संसर्गता निरूपक तथा प्रकारता निरूप्य कहलाती है। प्रकारता और संसर्गता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। याने, दोनों ही एक दूसरे की निरूप्य होती हैं। उसी प्रकार विशेष्यता के साथ भी संसर्गता का निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। विशेष्यता से निरूपित संसर्गता, संसर्गतः से निरूपित विशेष्यता होती है।

उनमें जो यह निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है वह कार्यत्व, कारणत्व, आधारत्व आदि सम्बन्धों के समान ही स्वरूप सम्बन्ध का प्रकार है या अतिरिक्त पदार्थ है ? [६४] यदि संसर्गता को प्रकारता से निरूपित न मानें तो 'उस सम्बन्ध से तत्प्रकारक' की व्याख्या करना दुष्कर है।

'तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारक' (उस सम्बन्ध से तत्प्रकार वाले) की व्याख्या 'उस सम्बन्ध-वाला होते हुए उस (वस्तु) में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित तत्प्रकार-वाला' ऐसा करने पर 'भूतल पर घट है' यह संयोग सम्बन्ध से होने वाला घटज्ञान तथा समवाय सम्बन्ध से रूप है यह रूप-विषयक ज्ञान भूतल में संयोग सम्बन्ध से रूप-प्रकारक तथा समवाय सम्बन्ध से घट-प्रकार वाला माना जायगा। संसर्गता को निरूपक और प्रकारता की निरूप्य मानने पर भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता से निरूपित घट में रहने वाली प्रकारता का प्रतियोगी होना ही उक्त ज्ञान का उस सम्बन्ध से तत्प्रकारकत्व कहलाता है। जहाँ पर जिसका जो सम्बन्ध प्रतीत होता है उसकी विशेष्यता और उसी की प्रकारता से उस सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता निरूपित होती है। जब भूतल पर संयोग में रहने वाली संसर्गता भूतल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, संयोग में रहने वाली संसर्गता कपाल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित नहीं होती है। उसी प्रकार समवाय में रहने वाली संसर्गता कपाल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, भूतल में रहने वाली प्रकारता और घट में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं होती है।

प्रकारता सम्बन्ध से नियमित होती है इसलिये विशेष संसर्ग से नियमित विशेष प्रकारता से निरूपित विशेष विशेष्यता-वाला होना ही उस सम्बन्ध से विशेष प्रकार-वाला होना है ऐसा क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि संसर्ग से नियमित होन का अर्थ है संसर्ग में रहने वाली अवच्छेदकता का निरूपक होना और चूँकि संसर्गता संसर्ग में रहने वाली अवच्छेदकता है अतः उक्त अवच्छेदकता-रूप संसर्गता का निरूप्य-

निरूपक-भाव स्वयं-सिद्ध है।

अब यहाँ दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रकारता और संसर्गता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव हो, परन्तु विशेष्यता और संसर्गता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव क्यों माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि प्रकारता और विशेष्यता दोनों में से किसे न मानें इसके सम्बन्ध में उनमें से एक का पक्षपात करनेवाली कोई युक्ति नहीं है। अतः इस प्रकार की विनिगमना (एकतर पक्षपातिनी युक्तिः) न होने से दोनों को हीं संसर्गता का निरूपक मानना उचित है।

विशेष्यता और प्रकारता में भी जो निरूप्य-निरूपक-भाव है वह भी साक्षात नहीं है, संसर्गता के द्वारा होता है। प्रकारता, विशेष्यता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होती है, उसी तरह विशेष्यता भी प्रकारता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होती है। इसलिये प्रकारता से निरूपित होने का अर्थ है प्रकारता से संसर्गवासे निरूपित होना, तथा विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होने का अर्थ है विशेष्यता से निरूपित संसर्गता से निरूपित प्रकारता का होना।

कार्य-कारण-भाव के प्रसंग में जहाँ प्रकारता और विशेष्यता का उल्लेख होता है वहाँ संसर्ग का उल्लेख अवश्य होता है। अन्यथा कोई भी कार्य-कारण-भाव सही नहीं होगा। अतः संसर्गता और प्रकारता एवं विशेष्यता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध मानने में कोई गौरव दोष नहीं है।

कुछ लोग संसर्गता को विषयता का भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जब हम "रूपवान् घटः' ऐसा सुनते हैं तो हमें सम्बन्ध की कोई प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि उसमें सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है। संसर्ग को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान लेने से ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव समझने में कोई बाधा नहीं होती है। परन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर भूतल संयोग सम्बन्ध से घटवान् है समवाय सम्बन्ध से घटवान् है, कालिक सम्बन्ध से घटवान् है इन प्रतीतियों में कोई भेद नहीं किया जा सकेगा। अतः संयोग, समवाय आदि विषयताओं के आधार पर ही उक्त प्रतीतियों में भेद किया जा सकता है। इस प्रकार संसर्गो में रहने वाली संसर्ग-विषयता ही संसर्गता-रूप विषयता है

इसके पश्चात् विषयता के ही विधेयता, उद्देश्यता आदि अन्य भेदों का विवेचन किया जायगा।

विषयता के संसर्गता नामक भेद का विवेचन किया गया था। इस अध्याय में विषयता के ही एक भेद विधेयता का विवेचन अभीष्ट है। विशेषण दो प्रकार का होता है - १) साध्य और (२) सिद्ध। सिद्ध विशेषण वह होता है जो पूर्व से अवगत होता है तथा विशेष्य को अन्य वस्तुओं से अलग करने के लिये प्रयुक्त होता है। साध्य विशेषण पूर्व-ज्ञात नहीं रहता है। उसका विधान किया जाता है। साध्य का ही दूसरा नाम विधेय है। उदाहरण के लिये - ''दयादाक्षिण्यादि गुणों से युक्त भगवान् राम सब के पूज्य है''। यहाँ विशेष्य राम का दया, दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त होना पूर्वज्ञात है। अतः

उक्त विशेषण सिद्ध-विशेषण है, जो विशेष्य राम को इतर व्यक्तियों से भिन्न सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। परन्तु राम का 'पूज्यत्व' पूर्व में सिद्ध नहीं है। उसका यहाँ विधान किया है। अतः वह विधेय है। विधेय में विधेयता नामक विषयता रहती है।

विधेय का विधान कहीं 'विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन' अर्थात् किसी एक विशेष्य में, तो कहीं 'विशेष्यतावच्छेदककावच्छेदेन' अर्थात् विशेष्य मात्र में होता है। विशेष्यतावच्छेदक के समान याने एक अधिकरण में जो विधान होता है उसको विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन विधान कहते हैं। 'ब्राह्मण विद्वान् होता है' इसका अर्थ यह नहीं होता है सभी ब्राह्मण विद्वान होते हैं; अपितु ऐसा होता है कि जहाँ जहाँ ब्राह्मणत्व है (याने जो ब्राह्मण हैं) उनमें से कोई विद्वान होता है। जहाँ जहाँ विशेष्यतावच्छेदक होता है वहाँ सर्वत्र जब किसी चीज का विधान होता है तब यह विधान विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदेन विधान होता है। जैसे-'मनुष्य मरणशील है' यह विधान किसी एक मनुष्य की मरणशील ता को व्यक्त नहीं करता है, अपितु यहाँ सभी मनुष्यों की मरणशीलता का विधान किया जाता है, क्योंकि मनुष्यत्व-व्याप्त सभी मनुष्यों में मरण शीलता विहित होती है।

सामान्य रूप से प्रकारता-विशेष को ही विधेयता माना जाता है।[६५] आम तौर पर प्रकारता और विधेयता में कोई भेद परिलक्षित नहीं होता है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमान में साध्य के रूप में गृहीत अग्नि विधेय माना जाता है, जो पर्वत में होने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता का आश्रय होता है। अतः विधेयता को प्रकारता का ही एक भेद इस रूप में कुछ नैयायिक स्वीकार करते हैं। जगदीश तर्कालंकार के अनुसार विषयतावच्छेदकता से भिन्न प्रकारता या प्रकारता का ही एक प्रभेद विधेयता है।

जबकि अन्य नैयायिकों का कथन है कि विधेयता प्रकारता का प्रभेद नहीं है।[६६] 'पर्वते वह्निः' यह अनुमिति पर्वत प्रकार तथा वह्नि-विशेष्य वाली होने पर भी विधेयता अग्नि में ही है। वहाँ विधेयता प्रकारता-रूप न हो कर विशेष्यता-रूप होती है। अतः विधेयता भी विषयता एक स्वतन्त्र प्रभेद है।

इस पर गदाधर [६७] का कथन है कि प्रकारता के समान विधेयता भी विषयता का भेद है। प्रकारता ही विधेयता नहीं है। विधेयता को प्रकारता-रूप मानने पर धर्मितावच्छेदकतारूप प्रकारता को भी विधेयता के रूप में स्वीकार करना पडेगा। 'पर्वतो वह्निमान्' यहा पर्वतत्व में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता भी प्रकारता-रूप होती है। परन्तु पर्वतत्व को प्रकार के रूप में स्वीकार करने पर भी उसे विधेय के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता। पर्वतत्व सिद्ध होने से साध्य नहीं है। अतः वह विधेय भी नहीं है। परन्तु विधेयता को प्रकारता माननेवालों का कहना है कि विशेष्यतावच्छेदकता से भिन्न मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता ही विधेयता कहलाती है ६८ 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में जो पर्वतत्व में प्रकारता (धर्मितावच्छेदकता) प्रतीत होती है वह धर्मितावच्छेदकता से भिन्न नहीं है। अतः विधेयता-रूप प्रकारता नहीं है। यद्यपि उक्त ज्ञान में पर्वतत्व (धर्मितावच्छेदक) तथा वह्नि के अतिरिक्त वह्नित्व में भी एक

प्रकारता है। परन्तु वह प्रकारता मुख्य विशेष्यता अर्थात् पर्वत में होनेवाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। अतः उक्त प्रकारता विधेयता-रूप प्रकारता नहीं है। वह्नि में रहनेवाली प्रकारता चूंकि पर्वत में रहनेवाली मुख्य विशेष्यता से निरूपित भी है तथा धर्मितावच्छेदकता से भिन्न भी है अतः वह विधेयतारूप प्रकारता है।

'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतीति को हम इस प्रकार से विश्लेषित कर सकते हैं।
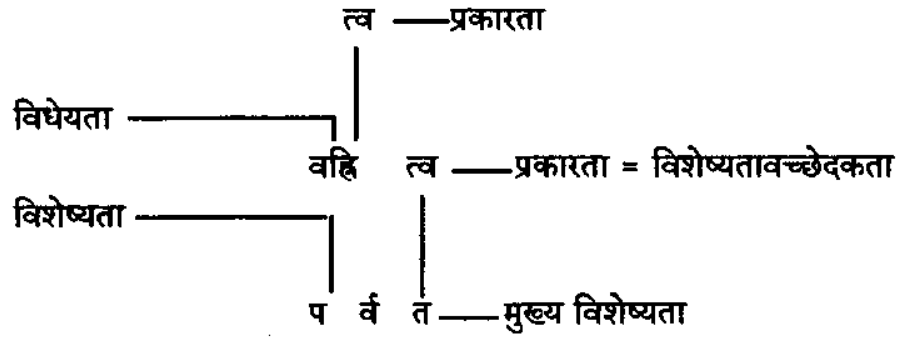
अब यहाँ यह आपत्ति उपस्थित होती है कि यदि विशेष्यतावच्छेदकता से भिन्न तथा मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता को विधेयता मानें तो जहाँ विशेष्यता-वच्छेदकता-भेद की उपस्थिति के बिना ही 'पर्वत अग्निमान् है' इस अनुमिति के बाद 'पर्वत में अग्नि का अनुमान कर रहा हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसाय (साक्षात्कार) उत्पन्न होते से उक्त प्रकारता को विधेयता के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसका समाधान यह है कि उक्त साक्षात्कार अग्नि-प्रकारक अनुमिति-विषयक ही होता है, अग्नि-विधेयक अनुमिति-विषयक नहीं होता है। जब विशेष्यतावच्छेदकता के भिन्नत्वादि ज्ञात होते हैं तभी उक्त साक्षात्कार अग्नि-विधेयक अनुमिति को विषय करता है।

परन्तु यदि उक्त प्रकारता को विधेयता के रूप में स्वीकार करें ती 'पृथ्वी में जलभेद है' या 'ह्रद में धूमाभाव है' इस प्रकार की साध्य को विशेष्य के रूप में प्रदर्शित करनेवाली अनुमितियाँ साध्य-विधेयक नहीं होंगी। क्योंकि उक्त अनुमित्यात्मक प्रतीतियों में साध्य जलभेद या धूमाभाव प्रकार के रूप में गृहीत नहीं होते हैं। अतः वे विधेय नहीं होंगे। परन्तु उनका विधान होने से वे ही विधेय हैं। इस प्रकार की अनुमितियों में विशेष्यता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार करना चाहिये। यदि ऐसा मानें तो उसी प्रकार की अनुमिति की विशेष्यता उसी के समान प्रकार वाली और समान विशेष्य वाली पृथ्वि-साध्यक अनुमिति में भी होने से वह अनुमिति भी इतर-भेद-विधेयक अनुमिति हो जायगी। 'इतरभेदः पृथिव्यां' इस अनुमिति में पृथ्वी साध्य के रूप में प्रतीत होने पर इतर-भेद के विशेष्य के रूप में होने पर उक्त अनुमिति इतर-भेद-विधेयक होनी चाहिये। तथापि उक्त अनुमिति इतर-भेद-विधेयक नहीं है क्योंकि यहाँ इतर-भेद-विधेय के रूप में प्रतिभासित नहीं होता।

संभवतः यह माना जाय कि पृथ्वी-पक्ष वाली अनुमिति और पृथ्वी साध्य वाली

अनुमिति में भासित होने वाली विशेष्यताएँ भिन्न भिन्न हैं और साध्य विशेष्य वाली अनुमिति की विशेष्यता को विधेयता के रूप में स्वीकार करने पर उक्त अनुमिति की आपति नहीं होती है।

परन्तु यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि यदि साध्य-विशेष्यक अनुमिति में एक स्वतन्त्र विधेयतात्मक विशेष्यता स्वीकार करने पर 'इतरभेदः (जलादिभेदः) पृथिव्यों' इस प्रकार की पृथ्वी-साध्य-वाली अनुमिति में एक विधेय-रूप साध्य में विशेष्यता मानने पर भी उसी प्रकार के प्रत्यक्ष में अन्य प्रकार को विशेष्यता और सामान्य रूप से किसी भी ज्ञान में प्रतीत होने वाली विशेष्यता, अर्थात् तीन प्रकार की विशेष्यताओं की कल्पना करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमिति इन दोनों में ही एक प्रकार की विधेयता-रूप विशेष्यता मानने पर भी तीन विशेष्यताओं का कल्पना करना आवश्यक नहीं है यह कथन भी उचित नहीं हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' (पर्वत पर अग्नि है) में विधेयता-रूप एक विशेष्यता तथा दूसरी उससे भिन्न विशेष्यता मानने में कोई युक्ति नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ साध्य प्रकार (विशेषण) के रूप में प्रतीत होता है उस अनुमिति में प्रकारता ही विधेयता है [६९] तथा साध्य जहाँ विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है वहाँ ही विशेष्यता अतिरिक्त विधेयता के रूप में प्रतीत होती है, अनन्त साध्य-विशेष्य वाली अनुमितियों में अतिरिक्त विधेयता की कल्पना करने की अपेक्षा विशेष्यता-निरूपित प्रकारताओं की ही विधेयता के रूप में कल्पना करने में लाघव है। परन्तु यह विचार भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकारता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार करने पर 'पर्वतो वह्निमान, पर्वतो निर्धूमस्यात्' (पर्वत अग्निमान् है, पर्वत निर्धूम है) इस प्रकार के समूह विषयक आपत्ति रूप ज्ञान में अग्नि विधेय हो जायगा। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में उस आपत्ति के बाद 'पर्वत में धूम के अभाव के प्रसक्ति को आपत्ति दे रहा हूँ, अग्नि की नहीं' इस प्रकार की अग्नि को विधेय के रूप में ग्रहण न करने वाली आपत्ति की प्रसक्ति नहीं हो सकेगी, जो कि अनुभवसिद्ध है।

इसी के कारण जो लोग यह मानते हैं कि साध्य-विशेष्य वाली अनुमिति ही अप्रामाणिक है, तथा व्यतिरेक परामर्श स्थल में भी 'विशेष्ये विशेषणम्' इस प्रक्रिया से साध्य प्रकार (विशेषण)वाली ही अनुमिति होती है, विशिष्ट-बुद्धिमात्र में विशेषण-ज्ञान की कारणता का सिद्धान्त अप्रामाणिक है, इसलिये साध्य में रहने वाली विशेषणता (प्रकारता) हो विधेयता है उनका यह मत भी समीचीन नहीं है।

जगदीश [७०] ने यह मत व्यक्त किया है कि जिसको व्याप्तवत्ता-ज्ञान से अनुमिति उत्पन्न होती है वही अनुमिति में विधेय होता है और उसी में विधेयता नामक विषयता रहती है। उदाहरण के लिये- ''पर्वत अग्निमान् है'' यह अनुमिति 'अग्निव्याप्तधूमवान् पर्वत' इस परामर्श से उत्पन्न होती है। अतः यहाँ अग्नि ही विधेय है तथा उसी में विधेयता-रूप विषयता है। इसी का उल्लेख गदाधर ने भी किया है।

'दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इस स्थल में दीधितिकार ने परम्परा सम्बन्ध से दण्डत्व को ही साध्यतावच्छेदक अर्थात् अनुमिति-विधेयतावच्छेदक माना है। इसके आशय

को स्पष्ट करने हुए जगदीश ने कहा है कि उक्त स्थल में व्याप्ति ज्ञान से दण्डि में दण्डत्व प्रकार के रूप में भासित हो कर 'दण्डत्ववद्वान्' ऐसी अनुमिति उत्पन्न होती है, 'दण्डिमान्' इस प्रकार दण्ड को प्रकार के रूप में व्यक्त करने वाली अनुमिति नहीं होती है, क्योंकि वहाँ दण्ड व्यापकता (साध्यता) के अवच्छेदक के रूप में ज्ञात नहीं होता है। अतः दण्ड से युक्त दण्डि विधेय वाली अनुमिति नहीं होती है।[७१]

परन्तु इस मत को गदाधर[७२] ने तथा आगे चल कर जगदीश[७३] ने भी स्वीकार नहीं किया है। गदाधर का कथन है कि यदि प्रकारता से भिन्न अतिरिक्त विधेयता न मानें तो तत् (अग्नि) व्याप्तवताज्ञान से जन्य उस परामर्श के बाद उत्पन्न तत् प्रकार वाली अनुमिति ही माननी पडेगी। कार्यकारणभाव के प्रसंग में तद्विधेयता का निवेश संभव नहीं है। अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा। तद्व्याप्यवत्ता-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली तद्विधेयक अनुमिति के लिये तद् (विधेय) व्याप्यकता-ज्ञान कारण है ऐसा कहने पर तद् की विधेय के रूप में अनुमिति होने के बिना तद् को विधेय के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकेगा।

दूसरी बात इसमें यह है कि शाब्द-बोध को सविधेयक के रूप में अनुमिति के समान नहीं स्वीकार किया जा सकेगा। क्योंकि शाब्द-बोध तद्व्याप्यवत्ताज्ञान मे जन्य नहीं होता है। शाब्दबोध में प्रकारता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। अन्यथा 'पर्वते अग्निः' इस वाक्य से उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध को भी अग्नि-विधेयक शाब्द-बोध के रूप में अस्वीकार करना पडेगा। उक्त शाब्द-बोध में पर्वत प्रकार तथा अग्नि विशेष्य है। वहाँ वह्नि में रहने वाली जो पर्वत की आधेयता है उसे मानेंगे और पर्वत में अग्नि को विधेय मानेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शाब्दबोध में चरम (अन्तिम) निर्दिष्ट पदार्थ ही विधेय होता है। यहाँ अन्तिम निर्दिष्ट अग्नि होने से अग्नि ही विधेय है। पर्वत की आधेयता विधेय नहीं है क्योंकि वह प्रथम निर्दिष्ट है।[७४] यही कारण है कि ''न्यक्कारोध्ययमेव में पदस्य 'यहाँ विधेय के रूप में तात्पर्य का विषय 'न्यक्कार' प्रथम निर्दिष्ट होने से उसका शाब्दबोध में विधेय के रूप में ग्रहण नहीं होता। अतः आलंकारिक इसे 'विधेयाविमर्श' रूप काव्य-दोष के उदाहरण के रूप में उल्लिखित करते हैं।

परन्तु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि शाब्दबोध में अन्तिम निर्दिष्ट पदार्थ को विधेय मानें तो कालिदास के 'वपुर्विरूपाक्ष'[७५] इस पद में आँख (अक्ष) का वैरूप्य विधेय नही होगा। क्योंकि वह प्रथम निर्दिष्ट है। यदि वैरूप्य-विशिष्ट अक्ष को ही विधेय के रूप में स्वीकार करें तो उसी काव्य के 'अलक्ष्यजन्मता' यहाँ पर भी अलक्ष्य-जन्मता' को ही विधेय के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'अलक्ष्यजन्मता' विधेय न होने से उसे अविमुष्ट विधेयांश दोष के उदाहरण के रूप में जो साहित्यिक प्रस्तुत करते हैं वह गलत होगा। इसके विषय में गदाधर का कथन है कि समास से भिन्न स्थल में चरम (अन्तिम) निर्दिष्ट पदार्थ विधेय होता है। समास स्थल में प्रथम निर्दिष्ट भी विधेय हो सकता है। 'वपुविरूपाक्ष' यहाँ समास होने से 'वैरूप्य' चरम निर्दिष्ट होने पर भी

विधेय है।

उक्त प्रकारता को ही विधेयता-रूप मानने पर कालिदास 'द्वितीय मौर्वीमिव।[७६] यहाँ विधेय के रूप में तात्पर्य-विषय समासान्तर्गत पूर्व पद मानने पर जो विधेयाऽविमर्श दोष होता है उसका निवारण 'मौर्वीद्वितीयमिव' इस असमस्त पद का प्रतिपादन कर के आलंकारिकों के द्वारा किया जाता है उसके साथ विरोध होगा।

विधेयता के समान उद्देश्यता भी प्रकारता और विशेष्यता आदि से भिन्न एक स्वतंत्र विषयता है। 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ पर्वत में अग्नि में होने वाली विधेयता से निरूपित उद्देश्यता होती है, जो पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से भिन्न है। यदि विशेष्यता को ही उद्देश्यता मानेंगे तो 'पर्वते अग्निः' इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध और अग्नि विशेष्य वाली अनुमिति प्रामाणिक होने से वहाँ पर्वत में उद्देश्यता नहीं होगी। क्योंकि उक्त अनुमिति में पर्वत विशेष्य नहीं है, अग्नि विशेष्य है; परंतु पर्वत उद्देश्य है। अतः उद्देश्यता को विशेष्यता से भिन्न मानना आवश्यक है।

विधेयता-निरूपकत्व को ही उद्देश्यत्व-रूप मानने पर प्रश्न होता है कि क्यों नहीं उद्देश्यता-निरूपकत्व को ही विधेयत्व मानें ? और क्यों नहीं विधेयता निरूपकत्व को उद्देश्यत्व या उद्देश्यता-निरूपकत्व को विधेयत्व मानें ? इसमें कोई विनिगमक युक्ति न होने से दोनों को ही स्वतंत्र पदार्थ मानना उचित है।

इस पर गदाधर [७७] का अपना मत यह है कि विधेयता और उद्देश्यता भले ही स्वतंत्र पदार्थ हो, परंतु उन्हें विषयताभेद के रूप में स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'पर्वत अग्निमान्' है इस अनुमिति में पर्वत तथा अग्नि में विषयता रूप विशेष्यता और प्रकारता स्वीकार करना तो आवश्यक है। क्योंकि प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं को न मानने पर अनुमिति में बाधज्ञान की प्रतिबद्धता का निर्वचन करना संभव नहीं होगा। अतः प्रतिबद्ध प्रतिबंधक-भाव के नियामक के रूप में उनका अस्तित्व विषयता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। परंतु विधेयता और उद्देश्यता को विषयता के रूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विषयता के अवशिष्ट कुछ भेदों का विवेचन करने के पश्चात् विषयिता के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया जायगा।

यह बतलाया गया था कि अनुमिति की तरह शाब्दबोध में भी उद्देश्यता और विधेयता प्रतीत होती हैं। परंतु "पर्वत अग्निमान् है" इस शाब्दबोध में अग्निमान् ही तादात्म्य सम्बन्ध से पर्वत के प्रकार के रूप में मालूम पडता है। क्योंकि नामार्थ का नामार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से ही अन्वय होता है, भेद सम्बन्ध से नहीं। अतः वहाँ पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता से निरूपित विधेयता अग्नि में प्रतीत नहीं होती है। इसलिए शाब्दबोध में विधेयता आदि को स्वीकार करना अप्रामाणिक है। लेकिन अनुमिति में उन्हें स्वीकार करना आवश्यक है,[७८] अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान्' इस तात्पर्य से 'पर्वत का अनुमान कर रहा हूँ' यह प्रयोग होने लगेगा। अनुमिति में विधेयता और उद्देश्यता आदि पदार्थ मानने पर ही स्थलों में द्वितीया विभक्ति का अर्थ विषयिता यह स्वीकार करने पर

भी 'अनुमिति' के अर्थ वाले धातु का सामीप्य होने से द्वितीया का अर्थ विधेयता तथा सप्तमी का अर्थ उद्देश्यता यह स्वीकार कर के ही "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति के तात्पर्य से 'पर्वतमनुमिनोमि' (पर्वत का अनुमान करता हूँ) इस प्रयोग का निवारण सम्भव है। उद्देश्यता का ऐसा अर्थ न कर के द्वितीया का प्रकारिता ऐसा अर्थ करने पर भी उक्त प्रयोग की आपत्ति का निरास सम्भव है। फिर भी 'पर्वतमनुमिनोमि' इस प्रतीति का निरास सम्भव नहीं प्रतीत होता। इसलिए गदाधर[७९] भट्टाचार्य ने कहा है कि अनुमित्यर्थक धातु का योग होने पर विधेयत्व या विधेयित्व यह द्वितीया का अर्थ है। अतः शब्दार्थक धातु का योग होने पर विषयित्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर भी कोई हानि नहीं है।

विषयिता को इस प्रकार द्वितीया का अर्थ मानने पर 'पर्वते पर्वतं श्रृणोमि' यह प्रयोग ग्राह्य होना चाहिये, क्योंकि पर्वत विशेष्य वाला शाब्दबोध भी पर्वत विषय वाला है ऐसा मानने पर जहाँ सप्तमी विभक्ति वाला पद प्रयुक्त है वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित होने वाली प्रकारिता ही द्वितीया विभक्ति का अर्थ है। तादात्म्य से भिन्न सम्बन्ध कहने का तात्पर्य यह है कि 'पर्वते वह्निमन्तं श्रृणोमि' यह प्रयोग ग्राह्य नहीं होता।

उद्देश्यता और विधेयता के सम्बन्ध में एक और भी बात ध्यान में रखने योग्य है और वह यह कि उद्देश्यता और विधेयता में साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। 'पर्वते वह्निः' यहाँ पर वह्नि में रहने वाली प्रकारता में साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं है। 'पर्वते अग्नि' यहाँ सप्तमी (पर्वते) का अर्थ आधेयता यह प्रकार के रूप में भासित होने पर भी पर्वत उद्देश्य और अग्नि विधेय के रूप में प्रतीत होता है; अतः उनमें साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव है, जब कि उपर्युक्त प्रकारता और विशेष्यता में विधेयता सम्बन्ध के द्वारा निरूप्य-निरूपक-भाव है।

यद्यपि उद्देश्यता आधार में ही होती है, तथापि वह आधारता-रूप नहीं है। 'अग्नि कहाँ है ?' ऐसा पूछने पर उत्तर मिलता है 'पर्वते'। यहाँ पर्वत विधेय तथा अग्नि उद्देश्य होता है। परन्तु अग्नि पर्वत का आधार नहीं है। अतः उद्देश्यता आधारता पदार्थ से भिन्न पदार्थ है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि जहाँ अखण्डोपाधि (आकाशत्व आदि) या जाति (गोत्व आदि) का स्वरूपतः प्रत्यय होता है वहाँ उनमें रहने वाली प्रकारता आदि 'निरवच्छिन्न' अर्थात् किसी धर्म से नियमित नहीं होती है। 'यह गो है या अश्व है' यहाँ गोत्व में रहने वाली या अश्वत्व में रहने वाली प्रकारता किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है, जबकि 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसा कहने पर पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता तथा वह्नि में रहने वाली प्रकारता दोनों भी क्रमशः पर्वतत्व और वह्नित्व धर्मों से अवच्छिन्न हैं। परन्तु उद्देश्यता और विशेष्यता में यह एक और भेदक तत्त्व है कि उद्देश्यता हमेशा 'सावच्छिन्न' (किसी धर्म से नियमित) होती है, जब कि विशेष्यता कभी सवच्छिन्न तो कभी निरवच्छिन्न भी होती है। जैसे, 'नीलोत्पलम्' यहाँ विशेष्यता सावच्छिन्न है, तो 'गोत्ववान्' यहाँ विशेष्यता निरवच्छिन्न है।

उद्देश्यता तथा विधेयता की तरह ही कोटिता भी एक विषयता का प्रकार हैं।[८०]

कोटिता नामक विषयता 'संशय' के प्रसंग में स्वीकार की गयी है। 'अग्निमान्नवा' (अग्निमान् है या नहीं) इस संशय में दो विरोधी वस्तुएँ विषय के रूप में प्रतीत होती हैं। उन्हें नैयायिक कोटियाँ कहते हैं। यहाँ एक कोटि अग्नि है तथा दूसरी कोटि अग्नि का अभाव है। अतः इन कोटियाँ में दो कोटितायें रहती हैं, जो कि कोटिताख्य विषयताएँ कहलाती हैं। संशय में दोनों कोटियाँ परस्पर विरोधी हैं - एक भाव कोटि तथा दूसरी अभाव कोटि। कभी कभी दोनों ही कोटियाँ भाव-रूप होती हैं, जैसे-'अग्निमान् या घटवान् पर्वत है' या 'यह स्थाणु है या पुरुष है' (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) यहाँ एक कोटिता स्थाणु में है और दूसरी पुरुष में है।

कुछ लोग मानते हैं [८१] कि एक धर्मी का विरूद्ध भावा-भाव-वाला ज्ञान ही संशय होता है। उनका कथन है कि भाव और अभाव जैसे विरोधियों के ज्ञान के बिना संशय होता ही नहीं है। उनके मतानुसार 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशय केवल स्थाणु और पुरुष को ले कर होने वाला दो कोटियों वाला संशय नहीं है, बल्कि यह चार कोटियों वाला संशय है। यहाँ स्थाणुत्व एक कोटि है, स्थाणुत्वाभाव दूसरी कोटि, पुरुषत्व तीसरी कोटि और पुरुषत्वाभाव चौथी कोटि है। अतः प्रत्येक कोटि में भिन्न भिन्न कोटिताएँ होने से यह संशय चार कोटियों वाला संशय है।

कुछ नैयायिकों का मत है कि कोटिता विषयता का भिन्न प्रकार नहीं है, अपितु कोटिता का अर्थ ही कोटि-प्रकारता है। इसलिये कोटिता प्रकारता का ही एक भेद है। [८२] दूसरी ओर गदाधर का मत है कि जिस प्रकार लौकिक सन्निकर्ष से जन्य प्रत्यक्ष में 'साक्षात्कारोमि' इस प्रतीति के आधार पर विशेष प्रकार की विषयता मानी जाती है या 'अनुमिनोमि', 'आपादयामि' इन प्रतीतियों से साक्ष्य और आपाद्य में विलक्षण विषयताएँ मानी जाती हैं उसी प्रकार 'सन्दिह्येमि' इस प्रतीति के आधार पर संशय की कोटियों में विलक्षण विषयताएँ होती हैं। प्रकारता में रहने वाला प्रकारतात्व जिस प्रकार अखण्डोपाधि है उसी प्रकार कोटिता में रहने वाला कोटितात्व भी अखण्डोपाधि धर्म है।

यद्यपि संशय के समान समुच्चय में भी कोटिद्वय प्रकारता या दो कोटिताएँ होती हैं जब कि संशय में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित अनेक विशेष्यताएँ होती हैं। जैसे-'वह्निमान् घटवान् वा पर्वतः' और 'वह्निमान् घटवांश्च पर्वतः' इन ज्ञानों में होने वाला भेद इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'वह्निमान् घटवान् वा पर्वतः, में वह्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित तथा घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित पर्वत में एक ही विशेष्यता है, जबकि 'वह्निमान् घटवांश्च पर्वतः' इस ज्ञान में वह्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित एक विशेष्यता पर्वत में है तथा दूसरी घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता भी पर्वत में है।

दूसरी बात यह है कि संशय की कोटिता-रूप प्रकारता प्रकारिता से नियमित प्रकारिता की निरूपक होती है। संशय में भिन्न भिन्न कोटि प्रकारिताओं में परस्पर अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है, जो समुच्चय वाली प्रकारिताओं में नहीं होता है। समुच्चय को संशय से भिन्न सिद्ध करने का आधार संशय की प्रकारिताओं में

अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव का होना यह माना जाता है।८३

कोटिता को प्रकारता से भिन्न मानना इसलिये भी आवश्यक है कि संशय को कोटियाँ जहाँ विशेष्य होती हैं वहाँ उनमें प्रकारताएँ नहीं रहती हैं। जैसे- 'वह्नि पर्वते न वा' इस संशय में वह्नि और वह्न्यभाव-रूप दोनों कोटियाँ विशेष्य के रूप में तथा पर्वत प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। यदि कोटिता को प्रकारता के रूप में स्वीकार करें तो उक्त संशय की कोटिताएँ प्रकारता-रूप न होने से उक्त संशय का संग्रह नहीं होगा। कोटिता को प्रकारता से भिन्न स्वीकार करने पर कोटि-प्रकारक और कोटि-विशेष्यक दोनों ही संशयों का संग्रह हो जाता है। अतः कोटि-विशेष्यक संशय-साधारण कोटिता के संग्रह के लिये कोटिता को प्रकारता से अन्य मानना ही उचित है।

कोटिता को भिन्न स्वीकार करने पर भी उसका अन्तर्भाव विषयता में किया जा सकता है। अतः कोटिता भी विधेयता आदि के समान विषयता का ही एक प्रकार है। अथवा प्रतियोगिता आदि को स्वतन्त्र पदार्थ मानने वालों के मत के अनुसार संशय-स्थलीय कोटिया भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है।८४

कोटियाताओं के सम्बन्ध में जानने योग्य बात यह है कि संशय की दोनों कोटिताएँ दो भिन्न सम्बन्धों तथा भिन्न धर्मो से नियमित (अवच्छिन्न) होती हैं। जैसे 'पर्वतो अग्निमान् न वा' इस संशय की अग्नि में रहने वाली कोटिता संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है, क्योंकि पर्वत पर अग्नि संयोग सम्बन्ध से रहता है। उसी प्रकार अग्नि के अभाव में रहने वाली दूसरी कोटिता स्वरूप सम्बन्ध से नियमित होती है, क्योंकि अभाव स्वरूप सम्बन्ध से पर्वत पर रहता है। उसी तरह जहाँ अग्नि में रहने वाली कोटिता अग्नित्व धर्म से नियमित होती है, वहाँ अग्नि के अभाव में रहने वाली कोटिता अग्न्यभावत्व धर्म से नियमित होती है। कोटिताओं को सम्बन्ध और धर्म से नियमित्त माने बिना संशय और निश्चय में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था नहीं बनेगी। पर्वत पर संयोग सम्बन्ध से अग्नि के संशय का निवर्तक पर्वत पर संयोग सम्बन्ध से ही अग्नि का निश्चय होगा। उसी प्रकार पर्वत पर द्रव्यत्वेन अग्नि के संशय का निवर्तक वहाँ द्रव्यत्वेन अग्नि का निश्चय होगा, अग्नित्वेन अग्नि का निश्चय नहीं।

यद्यपि संशय के समान 'एकत्र द्वयं' इस ज्ञान में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित एक विशेष्यता होती है जैसे, 'पुस्तक और लेखनी-युक्त मेज' कहने पर पुस्तक और लेखनी दोनों में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक विशेष्यता मेज में मालूम पड़ती है - फिर भी संशय और 'एकत्र द्वयं' इन प्रत्ययों में भेद है। संशय में दोनों कोटिताख्य विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है। अर्थात्, 'अग्निमान् न वा' इस संशय की अग्नि-विषयता से अग्नि के अभाव की विषयता अवच्छिन्न होती है। 'एकत्र द्वयं' यहाँ एक विशेष्यता से निरूपित दोनों प्रकारताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव नहीं होता है। यही उन दोनों में होने वाली भिन्नता का परिचायक है।

संशय के समान सम्भावना में भी अनेक या कम-से-कम दो कोटियाँ होती हैं। परन्तु संशय और संभावना में अन्तर है। संशय की दोनों कोटियाँ समान स्तर की

होती हैं, जबकि सम्भावना की एक कोटि उत्कट होती है। ऐसी उत्कट कोटि में रहने वाला औत्कट्य याने उत्कटता भी विषयता का एक प्रकार है। इसलिये उत्कट-एककोटि-प्रकारक नानाकोटि-प्रकारक ज्ञान को सम्भावना कहा जाता है। जैसे 'आश्विन महिने में वृष्टि अधिक होगी या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर अधिक वृष्टि या कम वृष्टि का बोधक यहाँ कुछ भी नहीं है। अतः दोनों भी कोटियाँ यहाँ समान हैं; उनमें से कोई भी उत्कट नहीं है। परन्तु 'भाद्रपद मास में वृष्टि होगी या नहीं' यहाँ भाद्रपद मास वर्षा ऋतु के अन्तर्गत होने से वृष्टि-कोटि उत्कट है और इसलिये उक्त महीने में वृष्टि होने की सम्भावना है। दोनों कोटियाँ उत्कट होने की स्थिति में न तो संशय होता है और न ही सम्भावना। ऐसी स्थिति अनध्यवसाय की कोटि हो सकती है।

इस प्रकार से विषयताओं की विलक्षणता के आधार पर संशय, सम्भावना, समुच्चय तथा 'एकत्र द्वयं' आदि में भेद किया जाता है।

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; बुद्धिर्नाम कश्चिदात्मविशेषगुण..... सा च सविषयिका। गादाधर्यां, विषयितावादे
२. घटमहं जानमीत्याकारणऽऽपामरसाधारणानुभवबलादेव वहीं
३. जानकीनाथ भट्टाचार्य; विषयता च विषयाकारप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां प्रत्यक्ष प्रकरणे
४. गदाधर; न च तादृशसम्बन्धस्य ज्ञानस्वरूपता वा स्वीक्रियते इत्यत्र विनिगमना-विरहादुभयस्तयैव सम्बन्धता कल्प्या इति तदपेक्षयालाघवात् सम्बन्धत्वे-नातिरिक्तैकविषयता कल्पनमेवोचितमिति वाच्यम्। गादाधर्यां, विषयतावादे
५. घटो ज्ञानविषयतावान् इतिवत् घटो घटवानित्यादि प्रतीतियापत्तेः। वहीं
६. अस्तु वा विनिगमनाविरहादुभयमेव विषयत्वं तथापि तादृशोभयस्य क्लृप्तत्वात्, अतिरिक्तविषयास्तत्र ज्ञानादिम्बन्धतायाश्च कल्पना उपेक्षणीया तदुभयस्य ज्ञानादिसम्बन्धत्वकल्पने गौरवानवकाश इति। वहीं
७. नव्यास्तु विषयत्वं पदार्थान्तरमेव। वहीं
८. विषयताया विषयस्वरूपत्वे च घटत्वकारकप्रमानिरूपितायाः घटत्व प्रकारक भ्रमनिरूपिताश्च घटनिष्ठविषयताया ऐक्यप्रसङ्गेन घटत्वप्रकार प्रमाया अपि भ्रमत्वापत्तिः। वहीं
९. एवं घटवद्भूतलं घटभूतलसंयोगादिति ज्ञानयोरविशेषप्रङ्गश्च विषयाणां तदात्मक विषयतानाञ्च अविलक्षणत्वात्। वहीं
१०. न च प्रथमज्ञाने सम्बन्धविधया भासमानस्य संयोगस्य संबंधोऽपि अधिको भासते। वहीं
११. गदाधर; विषयताया विषयरूपत्वे द्रव्यत्वावच्छिन्नघटादिविषयाकारज्ञानाद् घटत्वावच्छिन्न तद्विषयकज्ञानस्य विषयतावैलक्षण्यविरहात् वैलक्षण्यापत्तिः।

गादाधर्यां, सिद्धान्तलक्षणे

१२. ज्ञानविषयोभयस्वरूपत्वे च जातिमान् घट इत्यादिज्ञानीयं घटत्वादिविषयता द्वैविध्यानुपपत्तिः। ज्ञानविषयास्तथात्वात्। वहीं

१३. गदाधर; निर्विकल्पकीया प्रकारता विशेष्याभिन्नत्वेनोभयमतसिद्धा या विषयता। विषयतावाद

१४. रामरुद्र; इदं च प्रकारताविशेष्यतयोरभेदवादिमताभिप्रायेण। रामरुद्री; अनुमानखण्डस्य परामर्श प्रकरणे।

१५. भट्टाचार्य मते तु व्याप्तिप्रकारतानिरूपित विशेष्यावच्छिन्न प्रकारता निरूपित पक्षविशेष्यताशालित्वेन वक्तव्यम्। एकनिष्ठ प्रकारताविशेष्यतयोर (भेदवादिना) वच्छेद्यावच्छेदकभावस्वीकारात् विशेष्यताप्रकारतयोर्भेदास्वीकारे रक्तदण्डवान् इति बुद्धौ रक्तरूपविशेष्यक दण्डाभावनिश्चयप्रतिबध्यत्वापत्तेः दण्डप्रकारतानिरूपितत्वा-दिती ध्येयम्। वहाँ

१६. गदाधर; तत्र गत्यन्तरानुसरणे च गौरवादिति। अनुमिति प्रकरणे

१७. गदाधर; विषयता च विषयभेदात् भिद्यते, अन्यथा घटपटावित्यादिसमूहालम्बनीय घटपटादिनिष्ठविषयताया ऐक्ये पूर्वोक्तयुक्त्या तादृशज्ञानस्य भ्रमत्वापत्तेः। विषयतावादे

१८. तादृशबुद्धौ घटप्रकारत्व घटत्वविशेष्यत्वयोरापत्तेः। वहीं

१९. एकनिष्ठकज्ञानीय प्रकारताविशेष्यतयो (विशेष्यप्रकारतयो) भेंदवादिमते निरूप्यनिरूपकभाववत् धर्मितावच्छेदकत्व विषयितानिरूपकतावच्छेदकतयोरपि निरूप्यनिरूपकभावोऽभ्युपेयते। रामरुद्रयां, हेत्वाभासप्रकरणे।

२०. शिवदत्त मिश्र; धीभेदस्य विषयताभेदकत्वात्। सामान्यनिरूक्तिटीकायाम्। पृ. ४८

२१. गदाधर; ज्ञानभेदेन विषयताभेदे मानाभावात्। विषयतावादे।

२२. शिवदत्त मिश्र; नञ्पदाभावपदजन्योपस्थित्योः समानाकारकत्वेन तदीय विषयतयोनिरूप्यनिरूपकभावादितिचेन्न। व्युत्पत्तिवादटीकायाम्।

२३. गदाधर; विषयेऽतिरिक्त विषयतानां तत्र च विषयतात्वस्य कल्पनामपेक्ष्य विषयवृत्तित्वेन क्लृप्तानां प्रकारविशेष्यानां विषयतात्वकल्पनस्यैव व्याप्तत्वात्। विषयतावादे

२४. निर्विकल्पकीया प्रकारताविशेष्याभिन्नत्वेनोभयमतासिद्धा या विषयता विशिष्टज्ञानस्यापि सैव विषये सम्बन्धः वहीं

२५. विशेषणस्य विशिष्टज्ञानाविषयत्वे तद्धर्मविशिष्टज्ञानानन्तरं तद्धर्मविशिष्टज्ञानानुपत्तेः। वहीं

२६. विशेष्यताप्रकारतावत् संसर्गत्वस्यापि विषयताविशेषात्मकत्वम्। वहीं

२७. जानकीयनाथ भट्टाचार्य; प्रकारता चायं घट इत्यादि ज्ञाने विशेषणस्य घटत्वादेविशेषणत्वापरनामा विषयताविशेषः। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां

२८. (क) वहीं; अन्ये तु भासमानवैशिष्ट्य प्रतियोगित्वं प्रकारत्वम्
(ख) गदाधर; यत्तु भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वं तादृश वैशिष्ट्यानुयोगित्वं च विशेष्यत्वं न विषयतारूपमिति । विषयतावादे

२९. वहीं; तदसत्; उक्तं समूहालम्बनस्यापि घटप्रतियोगिक वैशिष्ट्य विषयकतया घटप्रकारत्वापत्तेः संयोगादिरूपव्यधिकरणसम्बन्धेन द्रव्यत्वादिभ्रमस्य द्रव्यत्वादिप्रकात्वानुपपत्तेः, भूतले घट इत्यादि ज्ञानस्य भूतलाद्यनुयोगिक संयोगादिविषयकतया भूतलत्वादि विशेष्यकत्वापत्तेः, गुणादिसंयोगादिसम्बन्धेन घटादि भ्रमस्य गुणादिविषयकत्वानुपपतेश्च ।

३०. यादवाचार्य; दण्डपुरुषसंयागप्रतियोगत्वानुयोगित्वादिति समूहालम्बनस्य दण्डीपुरुष इति विशिष्टज्ञानस्य च भेदो न स्यात् । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्याः व्याख्यायाम्

३१. जानकीनाथ भट्टाचार्य; पदार्थान्तरमित्येकदेशिनः । न्याय सिद्धान्तमञ्जर्याम्

३२. तत्रैव; विशेषणतोपलक्षणताभेदेन प्रकारता द्विविधा ।

३३. जगदीश तत्र विद्यमानं व्यावर्तक सद्विशेषणम्, अविद्यमानमपि व्यावर्तकं सदुपलक्षणम् । इदं तु बोध्यम्-प्रकृत्यर्यस्य निरूक्त वैशिष्ट्यं यदि वर्तमानतया प्रत्यायते तदैव विशेषणत्वेन यदि चावर्तमानत्वेन तदा उपलक्षणत्वेन व्यपदिश्यते । शब्दशक्ति प्रकाशिकायां कारकप्रकरणे

३४. यादवाचार्य; तस्माद् व्यावृत्यधिकरणावच्छेदकत्वे सति व्यावृत्ति जनकं विशेषणम्, अवच्छेदत्वं चान्यूनानतिरिक्तत्ववृत्तित्वम् । व्यावृत्यधिकरणतानवच्छेदकत्वे सति व्यावृत्तिजनकमुलपलक्षणम् । उपलक्षणस्य व्यावृत्याधिकरतावच्छेदकत्वाभावादिति संक्षेपः । न्यायसिद्धान्तञ्जर्याः व्याख्यायाम्

३५. गंगेशपाध्याय; एवं च प्रत्ययव्यावृत्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम्, तदन्यव्यावर्तककमुपलक्षणम् । तत्त्वचिन्तामणि

३६. गदाधर; प्रकारता च द्विविधा - निरवच्छिन्नाविशेषणान्तरावच्छिन्ना च । वहीं

३७. वस्तुतस्तु घटत्वादिनिष्ठ प्रकारतानिरूपितत्वमेव घटादि प्रकारतायां घटत्वावच्छिन्नत्वम् । वहीं

३८. परे तु घटवदित्याकारकं विशिष्टविशेषणकं ज्ञानं द्विविधम्- विविष्टवैशिष्ट्यावगाहिबोधात्मकं, केवले विशेष्ये विशेषणं । तत्र च विशेषणान्तरमितिरीत्या घटत्वाद्यवगाहि च। वहीं

३९. नीलकण्ठ; संसर्गावच्छिन्विषयतेति यावत् । तर्कसंग्रहस्य नीलकण्ठी टीकायाम् ।

४०. गदाधर; भासमानवैशिष्ट्य प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरेव विशेषणम् विशेष्यात्मकत्वात् । अनुमिति प्रकरणे

४१. यादवाचार्यः एतद्विषयतावत्वस्य समूहालम्बने विरहात्समूहालम्बन विशिष्टज्ञानयोर्भेदः । न्यायसिद्धान्तमञ्जरीटीकायाम्

४२. गदाधर; मुख्यत्वञ्च विशेष्यतायां प्रकारतानवच्छिन्नत्वं प्रकारताभिन्नत्वं वा । विषयतावादे

४३. विशेषता च क्वचिन्निरवच्छिन्ना क्वचिच्च विशेषणान्तरावच्छिन्ना। वहीं
४४. अथवा प्रकारताविशेष एव तत्। वहीं
४५. नचैवमयं घट इत्यादि ज्ञाने इदन्त्वादेः स्वस्यापि धर्मितावच्छेदकत्वापत्तिरिति ततोऽ-यमित्याद्याकारकस्मरणप्रसङ्ग इति वाच्यम्। यतस्तदीय प्रकारतानिरूपिताया धर्मितावच्छेदकताया आश्रय एव तदीयधर्मितावच्छेदकः, उक्तस्थले चेदन्त्वनिष्ठ धर्मितावच्छेदकतायाः स्वात्मक प्रकारतायां निरूप्यनिरूपकभावविरहान्नातिप्रसङ्गः। वहीं
४६. लोकनाथ झा; संसर्गावच्छिन्नत्वं प्रकारतायामेव। उभयाभावादिवारक परिष्कारे
४७. गदाधर; विनिगमनाविरहेणैव विशेष्यतयापिसमं तस्याः निरूप्यनिरूपकभावसिद्धिः निष्प्रत्यूहत्वात्। विषयातावादे
४८. वेणीमाधव शुक्ल; सम्बन्धावच्छिन्नत्वं प्रकारतायामेव न तु विशेष्यतायाम्। परिष्कारदर्पणे
४९. गदाधर; विशेष्यता च समूहालम्बने प्रकारभेदाद्भिद्यते। विषयतावादे
५०. तादृशविशेष्यता च तादृशोभयाद्यवच्छिन्न शौर्यादिप्रकारता निरूपित. विशेष्यतातोभिन्नाऽभिन्नावेति तु पूर्वोक्तवदूहनीयम्। वहीं
५१. विश्वनाथ पञ्चानन; एकधर्मिणि विरूद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्
५२. गदाधर; विशेष्यता प्रकारतावत् संसर्गत्वस्यापि विषयताविशेष्यताकत्वात् संसर्गस्यापि विशिष्टधीविषयत्वम्। विषयतावादे
५३. गंगेशपाध्याय; अविशिष्टव्यावृत विशिष्टधीनियामकस्य सम्बन्धः। तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्डे
५४. व्यावृत्तधीकारणज्ञानासाधारणविषयत्व सम्बन्धत्वमित्यस्य विवक्षितत्वादिति वदन्ति। तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशस्य प्रत्यक्षखण्डे
५५. तच्चिन्त्यम्। प्रमेयत्वादिसम्बन्धेऽव्याप्तेः न हि तद्विषया धीर्व्यावृत्तधीहेतुः। तत्रैव
५६. तथा च अविशिष्टबुद्धयजनकत्वे सति विशिष्टबुद्धिजनकत्वम्। तत्रैव
५७. गदाधर; प्रकारताविशेषस्यैव विधेयत्वात्। गादाथर्यां, सत्प्रतिपक्ष प्रकरणे
५८. जगदीश तर्कालंकार; विधेयत्वं तु न प्रकारतानियतम्। पक्षताप्रमाणे
५९. गदाधर; प्रकारतादिवत् विधेयत्वमपि विषयान्तरं नतूक्तप्रकारत्वमेव तत्। विषयतावादे
६०. अथ विशेष्यतावच्छेदकताभिन्न मुख्यविशेष्यतानिरूपित प्रकारतैव विधेयता। वहीं
६१. यत्तु साध्यविशेषणकानुमिति क्लृप्तनिरूक्तप्रकारतैव विधेयता। वहीं
६२. जगदीश; यद्व्याप्यवत्ताज्ञानजन्यत्वमनुमितौ तदंशे एव विधेयत्वाख्य विषयतास्वीकारात्। पक्षताप्रकरणे
६३. जगदीश; तथाचोक्तव्याप्तिज्ञानात् दण्डद्यंशे दण्डत्वप्रकारिका दण्डत्ववद्वाननित्ये-वानुमितिनं तु दण्डिमान् इति दण्डप्रकारिकाऽपि, तस्य व्यापकतावच्छेदकत्वेनाग्रहात्

कारणबाधेन तदवच्छिन्न विधेयताकानुमित्यसंभवात्। सिद्धान्तलक्षणे

६४. गदाधर; यतोऽतिरिक्तविधेयतानभ्युपगमे तद्व्याप्यवत्तानज्ञानस्य स्वान्तरोत्पन्न तत्प्रकारकानुमितित्वादिकमेव जन्यतावच्छेदकं वाच्यम्। विषयतावादे

६५. जगदीश; किन्तु पर्वते वह्निः, पर्वतो वह्निमान् इत्याद्यनुमितौ पर्वते वह्नि अनुमिनोमि नतु वह्नौ पर्वतामित्याद्यनुभवसाक्षिको विषयता विशेषः। पक्षताप्रकरणे

६६. गदाधर; शाब्दबोधे चरमनिर्दिष्टस्यैव विधेयत्वात्। विषयतावादे

६७. वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वपु। वरेषु यद्बाल मृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।। कालिदास; कुमारसम्भवे ५.७२

६८. स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनःपुनः केसरपुष्पकाञ्चीम्। न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीय मौर्विमिव कार्मुकस्य।। वहीं, ३.५५

६९. गदाधर; विधेयतावत् तन्निरूपितोद्देश्यतापि प्रकारतादिवत् भिन्नविषयताविशेष एव। विषयतावादे

७०. इदन्त्वधेयम् - अस्तु विधेयत्वमद्देश्यत्वञ्चातिरिक्तं तयोविषयातात्वे मानाभावः। वहीं

७१. रामरुद्र; वस्तुतस्तु शाब्देबोधे विधेयकत्वादिकमप्रामाणिकमेव अनुमितावेव तदङ्गीकार आवश्यकः। रामरुद्रयां, पक्षता-प्रकरणे

७२. गदाधर भट्टाचार्य; अनुमित्यर्थकधातुयोगे विधेयत्व विधेयित्वं द्वितीयार्थ इति। वहीं

७३. बालकृष्ण मिश्र; एषैव विषयता कोटितापदेनोच्यते। उभयाभाववादव्याख्यायाम्

७४. विश्वनाथ; एकधार्मिकविरूद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां, संशयनिरूपणे

७५. दिनकर; स्वीयैककोटिप्रकारतावच्छिन्न प्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धतावच्छेदकी-भूतापरकोटिप्रकारताशालिज्ञानत्वं संशयत्वमिति ध्येयम्। दिनकर्यां संशयनिरूपणे

७६. गदाधर; यथा लौकिकसन्निकर्षजन्ये साक्षात्करोमीति प्रतीतिविषयताविशेषः अनुमिनोमि, आपादयामीति प्रतीतेश्चानुमितिपत्त्योः साध्यापाद्ययोः विषयताविशेषो अपह्नवः, तथा सन्देह्मीत्यनुव्यवसायबलात् संशयेऽपि कोट्यंशे विलक्षणविषयता निष्प्रत्यूहैवेति। गादाधर्यां, सत्प्रतिपक्ष-प्रकरणे।

७७. यद्वा प्रकारित्वावच्छिन्न प्रकारितानिरूपकत्वं तत्र विशेष्यत्वं लाघवात् संशये तत्कोटि प्रकारितयो समुच्चयवैलक्षण्याय अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्याभ्युपेतत्वात्। वहीं

७८. तदन्यैव वा कोटिविशेष्यक संशयसाधारण्यानुरोधात्। वहीं

७९. उमानाथ उपाध्याय; ज्ञाने विषयस्य सम्बन्धो विषयिता। व्याप्तिपञ्चकव्याख्यायाम्

अध्याय ७ वा
विषयिता

ज्ञान और उसके विषय के बीच में विषय-विषयिभाव माना जाता है। जिन रजतादि वस्तुओं का ज्ञान होता है वे विषय होते हैं। उनमें विषयता होती है, तथा ज्ञान स्वयं विषयी होता है और अतः उसमें विषयिता होती है। विषयी में रहने वाला धर्म (पदार्थ) विषयिता कहलाता है।[1] विषयता और विषयिता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। अतः विषयता-निरूपकत्व ही विषयित्व है ऐसा भी कुछ नैयायिकों का मत है।

ज्ञान के साथ विषय के होने वाले सम्बन्ध को ही विषयिता कहा गया है तथा विषयता के समान ही यह प्रकारिता, संसर्गिता, विशेष्यिता भेद से तीन प्रकार की होती है।[2] विशेष्य-रूप विषय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध विशेष्यिता है। जब 'पर्वतो अग्निमान्' यह प्रत्यय होता है तो पर्वत इस विशेष्य में रहने वाली विशेष्यता उक्त ज्ञान में प्रतीत होती है। उसी प्रकार उसी ज्ञान में अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारिता भी प्रतीत होती है। विषय का ज्ञान के साथ होने वाला सम्बन्ध विषयता न होकर विषयिता है, क्योंकि अनुयोगि-निष्ठ को ही सम्बन्ध मानने पर ज्ञान अनुयोगी होने से उसका विषय के साथ होने वाला सम्बन्ध विषयिता के रूप में ही गृहीत होता है। अतः ज्ञान विषयी होता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि समान आश्रय वाली एक ज्ञान की विषयताओं के बीच कुछ नैयायिक अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव तथा कुछ अन्य नैयायिक अभेद सम्बन्ध मानते हैं। अतः ज्ञान में प्रतीत होने वाले 'विशेष्यकत्व' का अर्थ है विशेष्यता निरूपित विशेष्यित्व और प्रकारकत्व का अर्थ है प्रकारता निरूपित प्रकारित्व।

'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यित्व जैसे है वैसे ही अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारित्व भी है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता तथा विशेष्यिताओं के बीच में क्या सम्बन्ध है ? इसके विषय में नैयायिकों का यह मत है कि उन विशेष्यिता और प्रकारिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्ध है, क्योंकि जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उनसे निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्याव-च्छेदकभाव होता है ऐसा नियम है।

'पर्वत अग्निमान् है' इस ज्ञान में जैसे एक और अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित हुई प्रकारिता होती है वैसे ही दूसरी ओर पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता भी होती है जो उक्त प्रकारिता से अवच्छिन्न (नियमित) भी होती है। इस प्रकार प्रकारिता से अवच्छिन्न विशेष्यिता तथा विशेष्यिता से अवच्छिन्न प्रकारिता होती है।

विषयिता को कुछ नैयायिक स्वरूप सम्बन्ध का एक प्रकार मानते हैं, जब कि

कुछ अन्य नैयायिक उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं।[३] विषयिता ज्ञान, इच्छा और कृति इन तीन सविषयक पदार्थों में रहती है। विषयिता भी विषयता आदि इतर पदार्थों के समान ही सम्बन्ध तथा धर्म दोनों ही रूपों में प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है उसके अनुसार ज्ञान में विषयिता रहती है, क्योंकि ज्ञान विषयी है। ज्ञान का विषय और ज्ञान इनमें विषयिता सम्बन्ध होता है। अर्थात्, पुस्तकत्व से नियमित विषयता से निरूपित विषयिता याने पुस्तक का उसके ज्ञान, इच्छादि के साथ सम्बन्ध है। उसी प्रकार घट-ज्ञान के साथ घट का सम्बन्ध घटत्व से नियमित विषयता निरूपित विषयिता होता है।

घट-ज्ञान होने पर घटत्व में जो प्रकारता है वही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता है ऐसा भी एक मत है।[४] ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता ही विषयिता है, विषयिता के अन्य भेद विशेष्यिता आदि नहीं, जबकि अन्य नैयायिक विषयिता के भी अन्य भेद स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

विषयिता तब तक रहती है जब तक विषयी ज्ञान, इच्छादि रहते हैं। अर्थात्, ज्ञान के समय में ही विषयिता घट का ज्ञान के साथ सम्बन्ध बनता है। ज्ञान के न रहने पर घट का सम्बन्ध विषयिता नहीं होता है।

जिस प्रकार विशेष्यता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है, प्रकारता ही सम्बन्ध से नियमित होती है उसी प्रकार विषयिता भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। परन्तु विषयिता धर्म से नियमित होती है। प्रत्येक ज्ञान में रहने वाली विषयिता उक्त ज्ञानत्व धर्म से नियमित होती है। ऐसा स्वीकार न करने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इसके विषय में पूर्व अध्याय में पर्याप्त चर्चा की गयी है। आगे भी प्रतिबध्यता और प्रतिबन्धकताओं के विवेचन के प्रसंग में पुनः इसकी चर्चा होगी ही।

पिछले अध्याय में विषयिता की चर्चा की गयी थी और कहा गया था कि विषयिता प्रकारिता, संसर्गिता तथा विशेष्यिता भेद से तीन प्रकार की होती है। जिस प्रकार विषयिता विषयता से निरूपित होती है उसी प्रकार प्रकारिता भी प्रकारता से निरूपित होती है। प्रकारिता प्रकारी में रहने वाला सम्बन्धात्मक धर्म है। ज्ञान, इच्छा आदि सप्रकारक होते हैं। अतः उन्हें प्रकारी कहा जाता हैं। प्रकार और प्रकारी इन में होने वाला सम्बन्ध प्रकारिता हैं।[५]

''पर्वत अग्निमान् है'' इस ज्ञान में पर्वत विशेष्य और अग्नि प्रकार होता है, तथा उक्त ज्ञान प्रकारी होता है। अतः उसमें प्रकारिता रहती है। अतः 'प्रकार'-रूप विषय का ज्ञान के साथ होने वाला सम्बन्ध प्रकारिता कहलाता है।

नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान जैसे विषय से सम्बन्धित होता है वैसे विषय भी ज्ञान से सम्बन्धित होता है। अतः ज्ञान का सम्बन्ध विषय में विषयता-रूप होता है, तो विषय का सम्बन्ध ज्ञान के साथ विषयिता-रूप होता है। अतः एक ही ज्ञान में प्रकारिता, विशेष्यिता तथा संसर्गिता तीनों भी होती हैं। जैसे, ''पर्वत अग्निमान् है'' इस ज्ञान के तीन विषय होते हैं पर्वत, अग्नि तथा उन दोनों का सम्बन्ध। पर्वत में जो विषयता है वह विशेष्यता-रूप है, अग्नि में जो विषयता है वह प्रकारता-रूप है, तथा अग्नि और पर्वत

के बीच में होने वाले सम्बन्ध की जो विषयता है वह संसर्गता-रूप है। परन्तु उक्त तीन ही विषयता से निरूपित तीन अलग-अलग विषयितायें उक्त एक ही ज्ञान में हैं। "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारिता है, पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता है, तथा पर्वत और अग्नि के बीच में होने वाले संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता से निरूपित संसर्गिता भी है।

न्यायसिद्धान्तमंजरी के टीकाकार ने "अयं घटः" यह ज्ञान होने पर घटत्व में रहने वाली प्रकारता को ही ज्ञाननिष्ठ प्रकारिता कहा है।[६] वे ज्ञान में रहने वाली विषयिता को ही प्रकारिता मानते हैं तथा प्रकारिता को विषयिता का एक भेद भी मानते हैं। उनके मत से घट-ज्ञान में रहने वाली प्रकारता घट-ज्ञान का विषय घटत्व आदि से निरूपित होती है।

ज्ञान में रहने वाली विषयिता सर्वदा प्रकारिता-रूप नहीं होती है यह हम पूर्व में बतला चुके हैं। ज्ञान में विशेष्यिता और संसर्गिता भी होती है जो प्रकारिता-रूप नहीं होती। अतः यादवाचार्य का यह कथन कि ज्ञान-निष्ठ प्रकारिता ही विषयिता है समीचीन नहीं है।

यादवाचार्य ने जो यह कहा कि घटत्व में रने वाली प्रकारता ही ज्ञान-निष्ठ प्रकारिता है इसमें उनका अभिप्राय यह लगता है कि प्रकारता जो कि घटत्व में स्वरूप सम्बन्ध से रहती है वही प्रकारता ज्ञान में निरूपकत्व सम्बन्ध से रहती है। घट-ज्ञान घटत्व में रहने वाली प्रकारता का निरूपक होता है। अतः घटत्व में रहने वाली प्रकारता का और घट-ज्ञान का निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है और इसलिये घटत्व में रहने वाली प्रकारता निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहती है तो उसे प्रकारिता कहा जाता है। यद्यपि यादवाचार्य ने प्रकारिता को ज्ञान-निष्ठ कहा है, तथापि ज्ञान यह पद उपलक्षण है। ज्ञान पद से इच्छा, कृति द्वेष इत्यादि सभी सविषयक गुण ग्रहण करने चाहिये। घट-ज्ञान में ज्ञान प्रकारी है तथा घटेच्छा में इच्छा प्रकारी है। उसी प्रकार शत्रु-विषयक द्वेष प्रकारी है।

ज्ञान, इच्छा आदि उस ज्ञान के विषय में रहने वाली विषयता के निरूपक होने से विषयता (प्रकारता) में निरूप्यता आती है, तथा ज्ञान, इच्छा आदि में निरूपकता आती है। प्रकारता चूंकि प्रकार के ज्ञान से निरूपित होती है इसलिये ज्ञान प्रकारता का निरूपक होता है। अतः प्रकार में रहने वाली प्रकारता निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहती है। निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहने वाली उक्त प्रकारता को प्रकारिता कहा जाता है ऐसा यादवाचार्य का मत है। परन्तु अन्य नैयायिक प्रकारता और प्रकारिता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार करने पर भी प्रकारता से निरूपित प्रकारिता को प्रकारता से भिन्न पदार्थ ही स्वीकार करते हैं। निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहने वाली प्रकारता उसी ज्ञान में स्वरूप सम्बन्ध से रहने वाली प्रकारिता से भिन्न है। स्वरूप सम्बन्ध से प्रकार में रहने वाली प्रकारता से भिन्न सिद्ध करने के लिये ही उसे प्रकारिता यह संज्ञा दी गयी है। प्रकारिता भी प्रकारता, प्रतियोगिता आदि के समान स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष

ही है। कुछ लोग प्रकारता ही तरह ही प्रकारिता को भी स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं।[७]

जो लोग प्रकारिता को स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष ही मानते हैं उनके अनुसार प्रकारिता ज्ञान, इच्छा, कृति इत्यादि स्वरूप ही है, जो कि स्वरूप-सम्बन्ध से उनमें रहती है।

यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि प्रकारिता अपने आश्रय ज्ञान, इच्छा, कृति आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रहती है तो वह स्वरूप-सम्बन्ध कैसे हो सकती है ? कोई भी वस्तु उसी सम्बन्ध-रूप हो कर उसी सम्बन्ध से किसी भी स्थान में कैसे रह सकती है ? जो लोग प्रकारिता को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करते हैं उनके मत में प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता है, क्योंकि प्रकारिता जो कि अतिरिक्त पदार्थ है वह अपने आश्रय ज्ञान, इच्छा आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रह सकती है। जैसे, घटाभाव भूतल पर स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, या समवाय सम्बन्ध अपने आश्रय द्रव्य,गुण आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रहता है। परन्तु प्रकारिता को स्वरूप-सम्बन्ध मानने वालों के मत में प्रश्न रहता ही है। क्योंकि कोई भी वस्तु, जो कि विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, उसी सम्बन्ध से अपने आश्रय में नहीं रहती है यह बात अनुभव सिद्ध है। जैसे, अग्नि का पर्वत के साथ होने वाला संयोग संयोग सम्बन्ध से नहीं होता, या घटत्व का घट के साथ होने वाला समवाय उसी समवाय सम्बन्ध से नहीं होता है; वह स्वरूप-सम्बन्ध से ही होता है।

यहाँ नैयायिकों का यह कथन है कि संयोग या समवाय के विषय में भले ही यह हो कि संयोग या समवाय उसी सम्बन्ध से अपने आश्रय में नहीं रहते हैं। परन्तु स्वरूप सम्बन्ध के विषय में यह नियम लागू नहीं है। स्वरूप-सम्बन्ध का अलग स्वरूप-सम्बन्ध या अन्य कोई सम्बन्ध मानने से अनवस्था उत्पन्न होगी। प्रथम स्वरूप-सम्बन्ध का द्वितीय स्वरूप-सम्बन्ध, उसका फिर तृतीय इस प्रकार अनवस्था होगी। उसी अनवस्था दोष से बचने के लिये नैयायिक स्वरूप-सम्बन्ध का कोई दूसरा स्वरूप-सम्बन्ध नहीं मानते। प्रथम स्वरूप-सम्बन्ध प्रथम ही स्वरूप-सम्बन्ध से अपने आश्रय में रहता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

जानकीनाथ भट्टाचार्य का मत है कि पदार्थों में अभेद होने पर भी आधार-आधेय-भाव होता है। जैसे घटाभाव की स्थिति में 'घटो नास्ति' यह प्रतिति होती है। यह घटाभाव आधार-रूप और 'घटो नास्ति' इस प्रतीति से सिद्ध घटाभाव एक ही है।[८] इसका अर्थ यह है कि आधार-आधेय-भाव होने में आधार और आधेय का ऐक्य बाधक नहीं है। यादवाचार्य ने भी अन्य उदाहरण के द्वारा भट्टाचार्य जी के ही मत का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि घटाभावे घटाभावः यह एक उपलक्षण है। ऐसे कई उदाहरण हो सकते हैं, जैसे-प्रमेयत्वम्। प्रमेयत्व पदार्थ भी प्रमेय है, क्योंकि वस्तुमात्र ही प्रमेय है। अतः प्रमेयत्वरूप प्रमेय में प्रमेयत्व होने में कोई बाधा नहीं है। प्रमेयत्वरूप प्रमेय में रहनेवाला प्रमेयत्व, आश्रय-रूप प्रमेयत्व से भिन्न नहीं है।[९]

उसी प्रकार प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध में प्रकारिताप्रतियोगिकत्व और

ज्ञानानुयोगिकत्व रह सकता है। कोई भी सम्बन्ध द्विष्ठ होने से उसका एक सम्बन्धी प्रतियोगी और दूसरा सम्बन्धी अनुयोगी होता है यह बात पहले ही कई बार बतलायी जा चुकी है। प्रतियोगिकत्व का अर्थ है प्रतियोगिवृत्तित्व, और अनुयोगिकत्व का अर्थ है अनुयोगिवृत्तित्व। इस प्रकार प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध प्रतियोगि में वृत्ति होने में तथा अनुयोगि में वृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। जब पदार्थों में ऐक्य होने पर भी आधार-आधेय-भाव में कोई बाधा नहीं है तो सम्बन्ध औरसम्बन्धी में भी अभेद होने पर सम्बन्ध-सम्बन्धिभाव होने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध-रूप सम्बन्धी और उसका स्वरूप-सम्बन्ध एक ही होने पर भी उनमें सम्बन्ध-सम्बन्धि-भाव माना जा सकता है।

कुछ नैयायिक प्रकार-रूप विषय का ज्ञान के साथ होने वाले सम्बन्ध को प्रकारिता कहते हैं। परन्तु कुछ प्राचीन नव्य-नैयायिक प्रकारिता को सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट-बुद्धि का नियामक जो हो वही सम्बन्ध है। जिस सम्बन्ध से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है वह सम्बन्ध ही नहीं है।[१०] उनका मत है कि जहाँ सम्बन्धत्व हो वहाँ उससे विशिष्ट-बुद्धि अवश्य उत्पन्न होती है और वह 'मत्वर्थक' शब्द से द्योतित होती है। जैसे, रूपवान् घटः, वह्निमान् पर्वतः इत्यादि। वह्निमान् ज्ञान है, या वह्निमान् अभाव है ऐसा प्रामाणिक अभिलाप नहीं है। अतः विषयिता (प्रकारिता), प्रतियोगिता आदि सम्बन्ध नहीं हैं। 'वह्निं जानामि' (अग्नि को जानता हूँ), वह्निर्नास्ति (अग्नि नहीं है) इस प्रकार के अभिलाप सर्वजन विश्रुत हैं। इससे विषयिता और प्रतियोगिता का सम्बन्ध तथा 'घटो नास्ति' यहाँ पर घट पद के बाद प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान और अभाव के प्रत्यक्ष में ज्ञान में रहने वाली विषयिता (प्रकारिता) तथा अभाव की प्रतियोगिता प्रकार के रूप में ही प्रतीत होती है, सम्बन्ध के रूप में नहीं।

परन्तु यह मत सभी नैयायिकों को मान्य नहीं है। इसलिये आचार्य जगदीश ने 'प्राचां' पद के द्वारा उसकी अस्वरसता प्रदर्शित की है। उनका आशय यह है कि विषयित्व और प्रतियोगित्व के प्रकार के रूप में उपस्थिति (ज्ञान) न होने से विषय-विशिष्ट-ज्ञान (जैसे-घट-ज्ञान) से प्रतियोगि-विशिष्ट-अभावप्रत्यक्ष (जैसे-घटो नास्ति) नहीं उत्पन्न होना चाहिये, जबकि प्रामाणिक अनुभव है कि प्रतियोगित्व और विषयत्व के प्रकार के रूप में ज्ञात न होने पर भी विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है।

प्रकारिता यह सम्बन्ध अन्य संयोग, समवायादि सम्बन्धों से विलक्षण सम्बन्ध है। संयोग आदि सम्बन्धो में एक प्रतियोगिकत्व और अपरानुयोगिकत्व रहता है। यही कारण है कि पर्वत और तथा पर्वत और धूम इन दोनों का संयोग होने पर भी वह संयोग एक नहीं है। अग्नि-प्रतियोगिक संयोग अलग है, और धूम-प्रतियोगिक संयोग अलग है। एक ही संयोग में उभय प्रतियोगिकत्व नहीं रहता है। परन्तु यह बात प्रकारिता सम्बन्ध के साथ नहीं लागू होती है। प्रकारिता सम्बन्ध अग्नि और धूम का एक ही हो सकता है। अतः अग्नि और धूम उभयत्व से अवच्छिन्न-प्रतियोगिक सम्बन्धत्व प्रकारिता-रूप सम्बन्ध में होने में कोई बाधा नहीं है।[११]

अब प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता, संसर्गता तथा विशेष्यिता में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में नैयायिकों में परस्पर मतभेद है। इस विषय में कई मत उपलब्ध होते हैं। जगदीश आदि कुछ नैयायिक जिस प्रकार एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अभेद मानते हैं[११] उसी प्रकार एक ही ज्ञान में रहनेवाली विशेष्यिता, प्रकारितादि-रूप विषयिताओं में भी अभेद मानते हैं। उनके मतानुसार ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता उसी में रहने वाली विशेष्यिता से भिन्न नहीं है। प्रकारिता को विशेष्यिता से भिन्न या विशेष्यिता को प्रकारिता से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है, तथा एक ही स्थान में रहने वाली समानाधिकरण विषयिताओं को एक मानने में कल्पना-लाघव भी है।

दूसरा मत गदाधर भट्टाचार्यादि नैयायिकों का है। उनके मतानुसार एक ही वस्तु में रहने वाली विषयता और प्रकारता, विशेष्यता आदि में जिस प्रकार अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है उसी प्रकार एक ही ज्ञान में रहने वाली विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है।[१२] अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में रहने वाली विशेष्यिता अवच्छिन्न होती है। अतः विशेष्यिता में अवच्छेद्यता तथा प्रकारिता में अवच्छेदकता होती है। जिन विषयता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उन विषयताओं से भिन्न विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव का नियम है। 'पर्वत अग्निमान् है, इस ज्ञान की पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से, निरूपित अग्नि में रहने वाली प्रकारता होती है। अतः अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता, तथा पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव है। प्रकारिता से अवच्छिन्न विशेष्यिता तथा विशेष्यिता से अवच्छिन्न प्रकारिता होती है।

तृतीय मत के अनुसार विशेष्यता और प्रकारता में निरूप्य-निरूकप-भाव होता है।[१३] ये लोग जिस प्रकार एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता को विशेष्यता से भिन्न मानते हैं, वैसे ही एक ही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता और विशेष्यिता भी भिन्न हैं तथा उनमें भी प्रकारता और विशेष्यता के समान परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है ऐसा स्वीकार करते हैं। 'पर्वत अग्निमान् है' इस ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता जैसे अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, उसी प्रकार पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता से भी निरूपित होती है।

अन्य कुछ नैयायिक प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार कर के भी उन विषयताओं (प्रकारता, विशेष्यता) से निरूपित विषयिताओं (प्रकारिता और विशेष्यिता) में नियम से अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव ही स्वीकार करते हैं।[१४] अर्थात् जिस तरह प्रकारता से निरूपित प्रकारिता से उसी ज्ञान में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता अवच्छिन्न होती है, उसी तरह विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता से उक्त ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता भी अवच्छिन्न होती है।

उपर्युक्त मतों को निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है -

'पर्वत अग्निमान है'
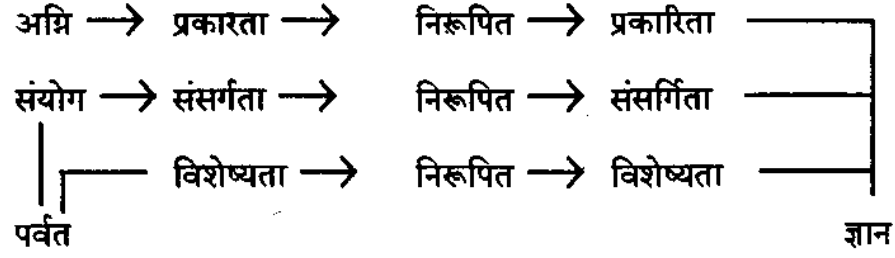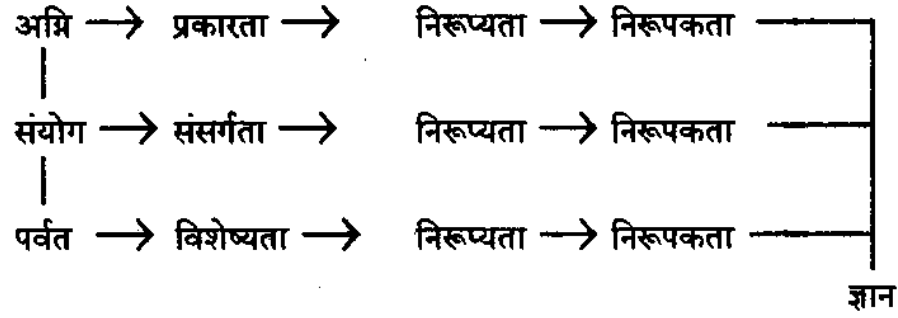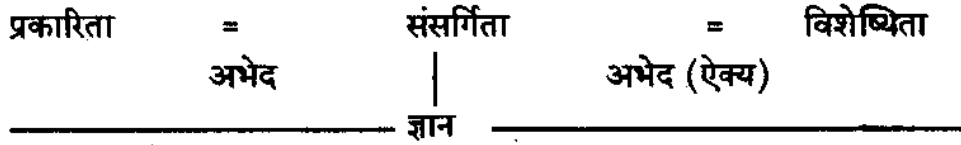
(आकृति - ३)(जगदीश मत)
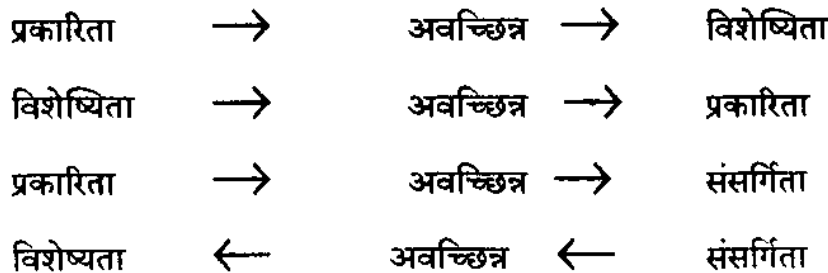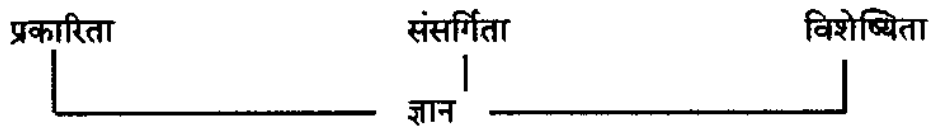
(आकृति - ४) (गदाधर मत)
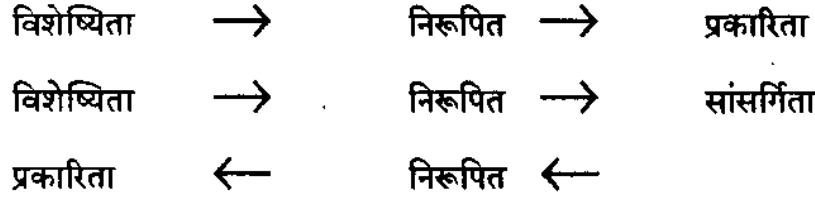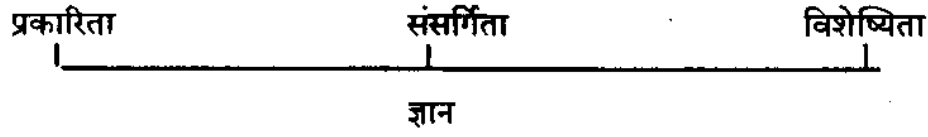
(आकृति - ५) (अन्य मत)

इसके पश्चात् अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्रकार प्रकारता धर्म और सम्बन्ध से नियमित होती है, तो क्या उसी प्रकार प्रकारिता आदि भी सम्बन्ध और धर्म से नियमित होती हैं ? इसके विषय में अग्रिम अध्याय में विचार किया जायगा।

टिप्पणियाँ

१. साच त्रिविधा-प्रकारिता, संसर्गिता, विशेष्यिता भेदात् । वहीं

२. जगदीश; ययोविषतयोः परस्परं निरूप्यनिरूपकभावस्तन्निरूपितविषयत-योरवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति नियमेन । जागदीश्याः शिवदत्त मिश्र कृत व्याख्यायाम, पक्षताप्रकरणे ।

३. रघुनाथ; विषयतात्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्व सम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्थाः इत्येकदेशिनः । दीधित्यां सिद्धान्तलक्षणे

४. यादवाचार्य; या घटत्वादिनिष्ठ प्रकारता सा ज्ञाननिष्ठा प्रकारिता, ज्ञाननिष्ठा या प्रकारिता सैव विषयितेत्युच्यत । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्याः व्याख्यायाम् ।

५. जगदीश; विषयिता च ज्ञानसमानकालीनैवेति । जागदीश्यां, व्यधिकरणप्रकरणे ।

६. उमानाथ उपाध्याय; प्रकाराख्य विषयस्य ज्ञाने सम्बन्धः । व्याप्तिपञ्चकमाथुरी, प्रकारिता टिप्पणी ।

७. यादवाचार्य; या घटत्वनिष्ठा प्रकारता सा ज्ञाननिष्ठा प्रकारिता । न्यायसिद्धान्तमञ्जरी व्याख्या ।

८. (अ) रघुनाथ; विषयतात्वादिवत् प्रतियोगित्वधिकरणत्व सम्बन्धत्वादयोऽ-प्यतिरिक्ता एव पदार्था इत्येकदेशिनः । दीधिती सिद्धान्दलक्षणे
(ब) जगदीश; आदिना प्रकारित्वपरिग्रहः । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

९. जानकीनाथ; घटाभावे घटो नास्तीति प्रतीतिरभेदेऽपित्वयाङ्गीकारात् । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां ।

१०. यादवाचार्य; इदमुपलक्षणं प्रमेयत्वे । न्यायसिद्धान्मञ्जरी व्याख्यायाम् ।

११. जगदीश; प्राचांमते प्रकारित्वादौ सम्बन्धत्वाभावात् विशिष्टधीनियाकस्यैव तथात्वादिति। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे।

१२. न च वह्निधूमोभयत्वावच्छिन्नप्रकारित्वादावेव तादृशोभयावच्छिन्न प्रतियोगि-सम्बन्धसिद्धिसम्भवः। वहीं।

१३. गदाधर; केचितु एकविशेष्यतापस्य यत्रापरांशे प्रकारता तन्निरूपित प्रकारता-विशेष्यतयोरभेदः। गादाधरी, अनुमितिप्रकरणे।

१४. भट्टाचार्यमते समानाधिकरणविषयतोर्नाभेदः, किन्तु अवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति। वहीं।

१५. रामरुद्र; एकनिष्ठैकज्ञानीय प्रकारताविशेष्यतयोभेंदवादिमते निरूप्यनिरूपकभाववत्। रामरुद्री, हेत्वाभासप्रकरणे।

१६. शिवदत्त मिश्र; यादृश विषयतयोनिरूप्यनिरूपकभावः तादृश विषयतानिरूपित विषयितयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावनियमेन...। सामान्यनिरू-क्तिटिप्पण्याम्।

❑❑❑

अध्याय ८

निरूपकता - निरूप्यता

पूर्व अध्याय के अन्तिम भाग में यह प्रश्न उठाया गया था कि जिस प्रकार प्रकारता धर्म और सम्बन्ध से निरूपित होती है उसी प्रकार प्रकारिता आदि भी धर्म और सम्बन्ध से नियमित होती है या नहीं ?

ज्ञान में रहने वाली विषयिता विशेष्यिता रूप होने से वह संसर्गावच्छिन्न नहीं होती है।[१] ज्ञान में रहने वाली विषयिताओं में अभेद मानने पर विशेष्यिता और प्रकारिता में अभेद होने से विशेष्यिता की तरह प्रकारिता भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। परन्तु ज्ञान, कृति, इच्छा आदि में रहने वाली विषयिता-रूप प्रकारिता आदि ज्ञानत्व, इच्छात्व, आदि धर्मों से नियमित होती है।

पूर्व अध्याय में कहा गया था कि एक ही पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है तथा जगदीश के मत में निरूप्यनिरूपक भाव होता है। नैयायिकों के अनुसार प्रतियोग्यनुयोगिभाव इत्यादि के समान निरूप्यनिरूपभाव भी एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

जिन दो वस्तुओं में से एक का ज्ञान होने के लिये दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा रहती है उनमें परस्पर निरूप्यनिरूपभाव सम्बन्ध रहता है। निरूप्य शब्द का अर्थ बोध्य या ज्ञाप्य होता है तथा निरूपक का अर्थ बोधक या ज्ञापक होता है। उदाहरण के लिये, ज्ञान शब्द सुनने पर मन में उत्कंण्ठा होती है कि किस का (याने किस वस्तु का) ज्ञान। उसी तरह इच्छा सुनने पर जिज्ञासा होती है कि किस वस्तु की इच्छा ? उसके उत्तर में जब कहा जाता है कि घट का ज्ञान, या पट की इच्छा तब उक्त प्रकार की जिज्ञासा का निवारण होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान विषय के बिना पूर्ण नहीं है। ज्ञान की पूर्णता उसके विषय में है। इसलिये विषय ज्ञान का बोधक तथा ज्ञान विषय का बोध्य कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान विषय से निरूप्य होता है तथा विषय का निरूपक कहलाता है, जैसे कि कहा गया है - 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानं वित्तिवेद्यो विषय' इति।[२] इस प्रकार ज्ञान विषय का निरूप्य होने से उसमें निरूप्यता तथा विषय में निरूपकता रहती है। यही निरूप्यता और निरूपकता निरूप्यनिरूपकभाव के रूप में ज्ञान और उसके विषय के बीच में होने वाला सम्बन्ध है।

जिस प्रकार ज्ञान और उसके विषय के बीच निरूप्यनिरूपक भाव-सम्बन्ध होता है उसी प्रकार प्रतियोगी और अनुयोगी के बीच भी यही सम्बन्ध होता है। 'अभाव' शब्द सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किस का (याने किस वस्तु का) अभाव ? घट का अभाव या पट का अभाव ऐसा उत्तर मिलने पर उक्त प्रकार की जिज्ञासा का शमन होता है। इससे स्पष्ट है कि अभाव का बोध उसके प्रतियोगी के बोध के बिना अपूर्ण है। प्रतियोगी के बोध से ही अभाव के बोध में सम्पूर्णता आती है। इस प्रकार

प्रतियोगी अभाव का निरूपण करता है। अतः प्रतियोगी में निरूपकता तथा अभाव में निरूप्यता आती है। इसी प्रकार घट का प्रतियोगी के रूप में स्वीकार होने पर यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि घट किसका प्रतियोगी है ? और घट उसके (घट के) अभाव का प्रतियोगी है ऐसा कहने पर उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है। इससे स्पष्टतया यह ज्ञान होता है कि घटादि प्रतियोगी के रूप में ज्ञात होने पर ही घटज्ञान की पूर्णता होती है। इस प्रकार प्रतियोगी निरूप्य होता है, तथा अभाव निरूपक होता है। अतः दोनों में स्पष्टतया निरूप्य-निरूपक-भाव है। इसीलिये घटनिरूपक अभाव घटाभाव कहलाता है।[३]

इसी प्रकार कार्य और कारण में भी निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। दण्ड कारण है ऐसा सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि दण्ड किस का कारण है ? तथा "घट एक कार्य है" ऐसा सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि घट किसका कार्य है ? दण्ड घट का कारण है और घट दण्ड का कार्य है ऐसा ज्ञात होने पर उक्त जिज्ञासा शान्त होती है। इससे स्पष्ट है कि दण्ड का कारण के रूप में होने वाला ज्ञान तथा घट का कार्य के रूप में होने वाल ज्ञान क्रमशः घटज्ञान से तथा दण्डज्ञान से पूर्ण होता है। अतः कार्य के रूप में घट के होने वाले ज्ञान का पूरक होने से दण्ड, घट में रहने वाली कार्यता का निरूपक है, और घट, दण्ड के कार्य ज्ञान का पूरक होने से दण्ड में रहने वाली कारणता का निरूपक है। अतः घट में रहने वाली कार्यता की निरूपकता दण्ड में होती है।

इसी तरह घट के आधार होने की चर्चा होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि घट किसका आधार है ? उसी तरह घट में आश्रितों के सम्बन्ध में सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि गुणादि पदार्थ किसमें आश्रित हैं ? घट आदि गुणों के आश्रय हैं तथा गुण आदि पदार्थ घटाश्रित हैं ऐसा उत्तर मिलने पर जिज्ञासा का शमन होता है। इससे ज्ञात होता है कि घट आदि गुणों के आश्रय के रूप में तथा गुण आदि आश्रित के रूप में ज्ञात होते हैं। इस प्रकार घट में होने वाली आश्रयता गुणों से ज्ञाप्य होने से गुण उसका (आश्रयता का) निरूपक है तथा आश्रयता निरूप्य है।

इसी प्रकार जहाँ दो वस्तुओं के साथ-साथ प्रयोग होते हैं - जैसे, गुरू-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गृह-गृहपति, क्रिया-कर्ता आदि - तब उनमें रहने वाले धर्मों में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नैयायिक मानते हैं कि युगल के रूप में प्रयुक्त होने वाले-प्रतियोगिता और अनुयोगिता, कारणता और कार्यता, प्रकारता और विशेष्यता, विषयिता और विषयता, उद्देश्यता और विधेयता आदि में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

जिस प्रकार अभाव यह प्रतियोगिता का निरूपक होता है, उसी प्रकार घट में रहने वाली अनुयोगिता भी प्रतियोगिता की निरूपक होती है। इसीलिये घटाभाव को घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव जैसे कहते हैं उसी तरह ही उसे घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अनुयोगिताशालि अभाव भी कह सकते हैं। चूंकि प्रतियोगिता और अनुयोगिता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है इसलिये 'घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगितावान् अभाव' को भी घटाभाव कह सकते हैं।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि निरूपकता और निरूप्यता क्या है ? इसका और किसी में अन्तर्भाव होता है ? दूसरी बात यह है कि यदि निरूपकत्व और निरूप्यत्व बोधकत्व और बोध्यत्व-रूप हैं तो निरूप्य ज्ञान के लिये निरूपक ज्ञान की अपेक्षा होगी और निरूपक ज्ञान के लिये निरूप्य ज्ञान की आवश्यकता होगी और ऐसी अवस्था में उनमें परस्पर अन्योन्याश्रम दोष होगा, उसका क्या उत्तर है ? प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि निरूप्यत्व और निरूपकत्व जिनका सम्बन्ध है वह उससे भिन्न नहीं है, और इसलिये सम्बन्धी का अन्तर्भाव जिस पदार्थ में होगा उसी पदार्थ में सम्बन्ध का भी अन्तर्भाव होगा। उदाहरणार्थ, जैसे अग्नि में रहने वाली विधेयता पर्वत में रहने वाले उद्देश्य से निरूपित होती है, उसी प्रकार पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता से निरूपित होने से वह पर्वत-निरूपिता भी है, चूंकि पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता पर्वत-रूप है इसलिये उनका निरूप्यत्व सम्बन्ध भी पर्वत-रूप है तथा पर्वत द्रव्य होने से निरूप्यता भी द्रव्य ही है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुतः निरूप्यत्व और निरूपकत्व बोध्यत्व या बोधकत्व नहीं है। उनके स्वरूप को समझाने के लिये उनको वैसा कह सकते हैं। दोनों भी निरूपकता और निरूप्यता स्वरूप सम्बन्ध-रूप ही हैं। गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध भी कार्यता, कारणता, आधेयता, आधारता, प्रति-योगिता, अनुयोगिता आदि के परस्पर सम्बन्ध के समान स्वरूप-सम्बन्ध विशेष है या पदार्थान्तर (भिन्न पदार्थ) है।[४]

कहीं कहीं निरूपकत्व को प्रतियोगित्व-रूप तथा कहीं पर अनुयोगित्व-रूप भी माना गया है। दीधितिकार ने हेत्वाभास के लक्षण में आये अनुमिति पद की व्याख्या करते समय कहा है कि "तत्रानुमितिपदं अनुमितिनिष्ठ कार्यतानिरूपक सम्बन्धत्वेनानुमिति तत्कारणज्ञानपरम्"।[५] यहाँ आया हुआ निरूपकत्व प्रतियोगित्व रूप नहीं है ऐसा गदाधर कहते हैं। नका कहना है कि यदि निरूपकत्व यहाँ प्रतियोगित्वरूप मानें तो कार्य कार्यता का प्रतियोगी न होने से कार्य कार्यता का निरूपक नहीं होगा।[६] अतः यहाँ प्रतियोगित्वरूप निरूपकत्व नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि कहीं-कहीं निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप भी होता है।

लेकिन निरूपकत्व कहीं-कहीं अनुयोगिता-रूप भी होता है। दीधितिकार के उपर्युक्त उद्धरण में निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप नहीं हो सकता। उसी तरह वह अनुयोगित्व-रूप भी नहीं हो सकता है यह बात टीकाकार ने स्पष्ट की है। गदाधार ने उक्त निरूपकत्व को विषयता रूप में स्वीकार किया है।[८] किन्तु स्थल-विशेष के सन्दर्भ में निरूपकता को विषयता-रूप न मान कर उसे अतिरिक्त पदार्थ के रूप में भी स्वीकार किया गया है। जैसे, 'वह्न्यभाववानह्रदः' इस प्रमा में 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न विलक्षण निरूपकताकत्व' माना जाता हैं। यह निरूपकत्व विषयता-रूप नहीं है, किन्तु अतिरिक्त ही है। उसे विषयता-रूप मानने पर ह्रद-ज्ञान भी विषयिता सम्बन्ध से 'वह्न्यभाववद्ह्रद' वाला है ऐसी प्रतीति होने लगेगी। परन्तु इस प्रकार का प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि उक्त ज्ञान में 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न विलक्ष-णनिरूपकता

(विषयता से भिन्न) नहीं है।[९]

प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि में रहने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव से विषयताओं के बीच होने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव कुछ विलक्षण है। जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, उन विषयताओं स निरूपित विषयिताओं के बीच नियमतः अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है यह बात पूर्व अध्याय में स्पष्ट की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त जिसमें जिसका निरूपितत्व होता है उसमें उसके आश्रय का भी निरूपितत्व होता है। जैसे, दण्ड में रहने वाली कारणता से निरूपित घट में रहने वाली कार्यता होती है वैसे ही उस घट में रहने वाली कार्यता दण्ड से भी निरूपित होती है। अर्थात्, दण्ड भी घट में रहने वाली कार्यता का निरूपक होता है।[१०]

भिन्न भिन्न पदार्थों में रहने वाली विषयताओं में जिस प्रकार निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उसी प्रकार एक ही पदार्थ में रहने वाली विषयताओं में मतभेद से अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव, निरूप्य-निरूपक-भाव आदि होते हैं। परन्तु एक ही पदार्थ में रहने वाली विषयताओं में केवल निरूप्य-निरूपक-भाव ही होता है ऐसा कुछ नैयायिक मानते हैं।[११] मात्र संशय तथा समुच्चय में विलक्षणता लाने के लिये कोटिता-रूप विषयता से निरूपित विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव न स्वीकार कर के अवच्छेद्यावच्छेदकभाव स्वीकार किया जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्तराभासमान् पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता के बीच गदाधर भट्टाचार्य अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव मानते हैं। उनके अनुसार यदि जगदीश स्वीकार करते हैं उस तरह उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाएगा तो उससे गौरव दोष उत्पन्न होता है। उनका आशय यह है कि 'पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यक दण्डाभावत्वावच्छिन्न प्रकारकबुद्धि' (याने दण्डभाववान् पुरुष-बुद्धि) के लिये पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यक दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक होता है। यदि एकत्र रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में अभेद स्वीकार करेंगे तो दण्डाभाववान् पुरुष इस बुद्धि के लिये 'सुन्दरपुरुषदण्डवान्देशः' यह बुद्धि भी प्रतिबन्धक (विरोधक) हो जाएगी। क्योंकि यहाँ भी सुन्दरत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित जो विशष्यता पुरुष में है वही पुरुषत्व से अवच्छिन्न प्रकारता भी है। अतः वह दण्डत्वावच्छिन्न विशेष्यता-रूप प्रकारता से भी निरूपित है। इस प्रकार वह निश्चय भी पुरुषत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चय है। उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव नियम के अनुसार उक्त निश्चय भी प्रतिबन्धक होना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति में ऐसा नहीं होता। जगदीश उक्त दोष के निवारण के लिये दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न निरूपकता से निरूपित निरूप्यतावान् पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यताशालि निश्चय को प्रतिबन्धक मानते हैं, जिसके कारण 'सुन्दरपुरुषदण्डवान् देशः' यह ज्ञान 'दण्डाभाववानपुरुषः' इस ज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं होता है। क्योंकि सुन्दरत्व इस प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता पुरुष में है वह दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न निरूपकता से निरूपित निरूप्यता वाली नहीं है। परन्तु यहाँ जगदीश के मत में 'निरूपकतानिरूपितनिरूप्यता'-रूप अधिक पदार्थ की कल्पना

करने की अपेक्षा एकत्र विद्यमान प्रकारता और विशेष्यताओं में भेद स्वीकार करके अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार करना ही उचित है ऐसा गदाधर का विचार है।[१२]

सादृश्य वर्णन मे प्रसंग में भी निरूप्य-निरूपक-भाव परिलक्षित होता है। जैसे, 'चन्द्रवतमुख' कहने पर चन्द्रनिरूपित सादृश्य मुख में परिलक्षित होता है। यह चन्द्र सादृश्य का निरूपक है। अतः उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। यहाँ निरूपक के अर्थ में प्रतियोगी पद का व्यवहार भी देखा जाता है। अतः 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्ययुक्त मुख' कहने पर चन्द्रनिरूपित सादृश्य मुख में परिलक्षित होता है। यह चन्द्र सादृश्य का निरूपक है। अतः 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्ययुक्त मुख का बोध होता है। इसलिये यहाँ का निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप माना जाता है।

जिस प्रकार प्रतियोगित्व के तात्पर्य से निरूपकत्व का प्रयोग होता है उसी तरह निरूपकत्व के तात्पर्य से प्रतियोगित्व शब्द का भी प्रयोग होता है। जानकीनाथ भट्टाचार्य ने किसी का मत उधृत किया है कि "भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वं" है। यहाँ टीकाकार ने प्रतियोगित्व का अर्थ निरूपकत्व किया है।[१३] क्योंकि प्रतियोगित्व को विरोधित्व के रूप में ग्रहण करने वाले के लिये प्रकार वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का विरोधी न हो कर निरूपक होता है और वहाँ प्रतियोगित्व का अर्थ निरूपकत्व है।

कुछ नैयायिक विषयता से निरूपित ज्ञान आदि में रहने वाली विषयिता को अतिरिक्त न मान कर विषयित्व को विषयता-निरूपकत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार अवच्छिन्नत्व को भी निरूपकत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसे, अग्नि के अभाव को अग्नित्वावच्छिन्नाभाव कहा जाता है। यह अवच्छिन्नत्व अग्नित्वनिष्ठ (अग्नि में रहने वाली) अवच्छेदकता का निरूपकत्व ही है, क्योंकि अग्नित्व से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता अग्नि में रहती है वह अग्नित्व में रहनेवाली अवच्छेदकता की निरूपक होने से उक्त अवच्छिन्नत्व निरूपकत्व-रूप होता है।

विशेष्यता और प्रकारता में जिस प्रकार निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उसी प्रकार प्रकारता और विशेष्यता का संसर्गता के साथ भी निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। जिसका जो सम्बन्ध जहाँ प्रतीत होता है उसकी विशेष्यता और उसकी प्रकारता का भी उस संसर्ग में रहने वाली संसर्गता के साथ निरूप्य-निरूपक-भाव होता है यह एक नियम है। यही कारण है कि विशेष्यता और प्रकारता में जो निरूप्य-निरूपक-भाव है वह संसर्गता के द्वारा ही होता है। अतः प्रकारता में विशेष्यता-निरूपितत्व है वह विशेष्यता निरूपित संसर्गता-निरूपितत्व है, तथा विशेष्यता में प्रकारता-निरपितत्त्व माने प्रकारता निरूपित संसर्गता-निरूपितत्व है। कार्य-कारण-भाव में जहाँ प्रकारता और विशेष्यता का निवेश होता है वहाँ संसर्गता का निवेश होता ही है। अतः प्रकारता और विशेष्यता में स्वतंत्र रूप से निरूप्य-निरूपक-भाव न मानने पर भी कोई गौरव दोष नहीं है।[१४]

कुछ नैयायिकों का मत है कि विनिगमनाविरह होने से उन दोनों में भी स्वतंत्र निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है।[१५]

गदाधर का मत है कि घटत्वावच्छिन्नत्व जो घटनिष्ठ प्रकारता में है वह घटत्वनिष्ठ

प्रकारता-निरूपित्व ही है। अतः घटत्वनिष्ठ प्रकारता से घटनिष्ठ प्रकारता भी निरूपित होती है। प्रकारता और विशेष्यता के बीच में ही निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित घट में रहने वाली प्रकारता ही घटत्वनिष्ठ प्रकारता-निरूपित विशेष्यता-रूप होने से उन दोनों प्रकारताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है।[१६]

इस प्रकार प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि नियमतः जिसकी आकांक्षा रखते हैं वह निरूपक तथा प्रतियोगित्व आदि निरूप्य (निरूपित) होते हैं। घट किसका प्रतियोगी है? यह आकांक्षा होने पर अभाव उसका निरूपक होता है, तथा प्रतियोगिता निरूपित होती है। उसी प्रकार ज्ञान को भी नित्य विषय की आकांक्षा होती है। अतः उसका विषय निरूपक तथा ज्ञान निरूप्य होता है। परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा होने से प्रायः सर्वत्र परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, तथा जो निरूप्य होता है उसमें निरूपकता होती है। निरूप्यता और निरूपकता की स्थिति प्रत्यय पर अवलंबित है। प्रत्यय के आधार पर ही कौन निरूपक है और कौन निरूप्य है इसका निर्धारण होता है।

पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि घट का अभाव ज्ञात होने पर अभाव से निरूपित प्रतियोगिता घट में तथा उक्त प्रतियोगिता की निरूप्य या निरूपक अवच्छेदकता घटत्व में ज्ञात होती है। इस प्रकार घटत्व में रहने वाली अवच्छेदकता की निरूपक या निरूप्य प्रतियोगिता होती है। घट अवच्छेदकता का निरूपक नहीं है।

वस्तुतः अवच्छेदकता से निरूप्य अवच्छेद्यता होती है। प्रतियोगिता उसकी निरूपक होती है। परन्तु चूंकि अवच्छेद्यता प्रतियोगिता में रहती है अतः अवच्छेदकता के साथ होने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव प्रतियोगिता के साथ भी होता है। निरूपकता और निरूप्यता के सम्बन्ध में कुछ और बातों पर अग्रिम अध्याय में विचार किया जायेगा।

पूर्व अध्याय में कहा गया था कि प्रतियोगितावच्छेदक धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता और प्रतियोगिता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। जिस प्रकार प्रतियोगितावच्छेदक धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता से भी निरूपित प्रतियोगिता होती है उसी प्रकार संसर्ग में रहनेवाली अवच्छेदकता से भी प्रतियोगिता निरूपित होती है। उदाहरण के लिये 'घटाभाव' की प्रतियोगिता घटत्व में रहने वाली अवच्छेदकता तथा घट से घटत्व जिस समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है उस समवाय सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता से भी निरूपित होती है। दोनों ही अवच्छेदकताओं का प्रतियोगिता के साथ निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

घटाभाव के विषय में सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि उक्त अभाव घट में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक होता है। अतः न्याय परिभाषा में घटाभाव का अर्थ इस प्रकार किया जाता है.. "घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव"। प्रतियोगिता और अनुयोगिता या विशेष्यता और प्रकारता में आम तौर पर परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाता है। प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता जैसे होती है वैसे ही अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगता भी होती है। अथवा जैसे प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होती

है उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। परन्तु अभाव का प्रतियोगिता के साथ परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं होता है। उसी प्रकार और विशेष्यता का भी आम तौर से परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। तथापि यह आत्यन्तिक नियम नहीं है। कुछ नैयायिक अभाव और प्रतियोगिता में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। उनके मत से प्रतियोगिता का निरूपक जैसे अभाव होता है उसी प्रकार प्रतियोगिता भी अभाव का निरूपक होती है। अतः प्रतियोगिता में भी निरूपकता और अभाव में भी निरूप्यता रहती है।[१७]

पूर्व अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि प्रतियोगिता, अनुयोगिता, कार्यता, कारणता, उद्देश्यता, विधेयता आदि परस्पर सापेक्ष पदार्थों में निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाता है। यदि उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध न माना जाय, अर्थात् निरूपकता और निरूप्यता पदार्थ न स्वीकार किया जाय, तो क्या हानि है ?

''तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः'' इस प्रकार से तर्कसंग्रहकार ने प्रमा का लक्षण किया है। न्यायबोधिनीकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है ''तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वम्'' और निष्कर्ष निकाला है ''तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारताशालित्वम्''।[१८] तथापि उन्हें ऐसा निष्कर्ष निकालने की क्या आवश्यकता थी ? यदि तद्वन्निष्ठ विशेष्यता से निरूपित तन्निष्ठ प्रकारता न कहें तो ''रंगजतयोरिमे रजतरंगे''-रंगा और रजत ये दोनों क्रमशः रजत और रंगा हैं-इस भ्रम में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि उस भ्रम में भी रजतत्ववद् विशेष्यकत्व और रजकत्व प्रकारत्व तथा रंगत्ववद् विशेष्यकत्व और रंगत्व प्रकारकत्व है। इस भ्रम में यथार्थ ज्ञान की तरह ही रजतत्ववद् विशेष्यकत्व और रजत्व प्रकारकत्व है। उसी तरह उक्त भ्रम में रंगत्ववान् विशेष्य है और रंगत्व प्रकार है। परन्तु यह यथार्थ ज्ञान नहीं है। तथापि प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त ज्ञान की रजतत्व में रहने वाली प्रकारता रजतत्ववान् में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। उसी प्रकार रंगत्व में रहने वाली प्रकारता रजतत्ववद् विशेष्यता से निरूपित नहीं है। अतः तद्वन्निष्ठ प्रकारता रजतत्व से निरूपित तन्निष्ठविशेष्यता का प्रमा के लक्षण में समावेश करना आवश्यक है।

उसी प्रकार 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान' यह परामर्श का जो लक्षण किया जाता है वह लक्षण भी प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव न मानने पर शुद्ध लक्षण नहीं होगा। क्योंकि व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान से हम ''धूमो वह्निव्याप्यः आलोकवान् पर्वतः'' यह ज्ञान भी ले सकते हैं और उस ज्ञान से पर्वत पर अग्नि की अनुमिति अतिव्याप्त होगी। अतः 'पक्ष में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित हेतु में रहने वाली प्रकारता से निरूपित व्याप्ति में रहने वाली प्रकारता वाले 'ज्ञान' को परामर्श कहना पड़ेगा। 'धूम अग्निव्याप्य है और पर्वत आलोकवान् है' इस ज्ञान की धूम में रहने वाली प्रकारता पक्ष (पर्वत) पर रहने वाली प्रकारता से निरूपित व्याप्ति में रहने वाली प्रकारता नहीं है।[१९]

कुछ नैयायिक निरूपकता और प्रकारता में भेद मान कर ही उपलक्षण और विशेषण का भेद करते हैं। प्रकारता का नियामक होते हुए जो निरूपकता का नियामक नहीं होता है वह उपलक्षण है, और प्रकारता का अवच्छेदक होते हुए जो निरूपकता का भी अवच्छेदक होता है वह विशेषण कहलाता है। विशिष्ट सत्ता को उपलक्षण मान कर 'विशिष्टसत्तावान् गुणः' इस प्रतीति में विशिष्टसत्तात्व प्रकारतावच्छेदक होने पर यह निरूपकता का नियामक (अवच्छेदक) नहीं है।[२०]

अभाव जैसे प्रतियोगिता का निरूपक होता है उसी तरह अभावत्व भी प्रतियोगिता का नियामक होता है। यही कारण है कि मथुरानाथ ने व्याप्तिपंचक पें 'साध्यवदन्यत्व' का अर्थ 'अन्योन्याभावत्वनिरूपित साध्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिकाभावत्व' किया है। क्योंकि 'वह्निमत्वावच्छिन्न' प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव भी 'स्वावच्छिन्नभिन्नभेदरूप' होने से उसके अधिकरण पर्वत पर धूम के विद्यमान होने से अव्याप्ति होती है। वह्निमान् का अत्यन्ताभाव स्वावच्छिन्नभिन्नभेद के कारण अन्योन्यभावरूप होने पर भी उसकी प्रतियोगिता अत्यन्ताभावत्व से ही निरूपित होती है, अन्योन्याभावत्व से नहीं।[२१]

दीधितिकार ने भी सिद्धान्तलक्षण में इसी बात को ग्रहण किया है। उन्होंने 'अत्यन्ताभावत्वनिरूपिकप्रतियोगिता' का निवेश लक्षण में किया है।[२२]

'पर्वतो अग्निमान्' इस ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व की व्याख्या भी ज्ञान और विषयता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। ज्ञान विषयता का निरूपक होता है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। यही कारण है कि 'स्वव्यधिकरण प्रकाराच्छिन्ना या विषयता तन्निरूपकत्व' को गदाधर ने सर्वांश में प्रमात्व कहा है। 'पर्वतो अग्निमान्' यह ज्ञान प्रमा है और 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' यह ज्ञान प्रमा नहीं है। उक्त लक्षण में स्व पद से पर्वतो वह्न्यभाववान् इस ज्ञान की पर्वत में रहने वाली जो विशेष्यता है उसका व्यधिकरण प्रकार है वह्न्यभाव। उससे अवच्छिन्न जो पर्वत में रहने वाली विशेष्यता है उसकी अनिरूपकता उक्त बाधा-निश्चय में नहीं है। अतः उक्त ज्ञान प्रमा नहीं है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि अधिकरणता, वृत्तिता, विषयता, विषयिता आदि धर्म सापेक्ष हैं। क्योंकि अधिकरण के बिना कौन वृत्ति होगा और आधेय के बिना किसका अधिकरण होगा ? अतः वृत्तिता को अधिकरण की अपेक्षा रहती है, तो आधेय को अधिकरणता की। जिसको जिसकी अपेक्षा होती है वह उससे निरूपित होता है। घट कहाँ पर है-भूतल पर है या अन्यत्र ? इस सन्देह का निवारण घट में भूतल की वृत्तिा स्वीकार करने से होता है। 'भूतल पर' कहने से वृत्तिा कैसे है इसका विशेषरूप से निर्धारण होता है। उसके फलस्वरूप भूतलरूपी अधिकरण तथा उसमें रहने वाली अधिकरणता दोनों ही आधेयता के निरूपक होते हैं। इसी प्रकार आधेयता भी अधिकरणता की निरूपक होती है। अतः इनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। इसी युक्ति के आधार पर प्रकारता, विशेष्यता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि यदि प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है तो प्रकारता में निरूपकता एवं निरूप्यता है और विशेष्यता में निरूपकता और निरूप्यता है। ऐसी अवस्था में प्रकारता में रहने वाली निरूपकता का और विशेष्यता में रहने वाली निरूप्यता का क्या सम्बन्ध है ? नैयायिक निरूपकता और निरूप्यता में भी निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। अतः परिष्कारों में "निरूपकतानिरूपितनिरूप्यता" ऐसा कहा जाता है। इसका अर्थ है कि निरूपकता और निरूप्यता भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भावमात्र हैं। इस प्रकार निरूपकता में पुनः निरूपकता, इसमें भी पुनः निरूपकता इस तरह से अनवस्था दोष उपस्थित होता है और यह चिन्तनीय है। इस आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि यह एक प्रामाणिकी अनवस्था होने से दोषास्पद नहीं है। निरूपकता को स्वतंत्र पदार्थ न मान कर निरूपक रूप मानने पर अनवस्था नहीं रहती है।

दूसरा प्रश्न यहाँ यह है कि जिस प्रकार प्रतियोगिता या प्रकारता धर्मावछिन्न और सम्बन्धावच्छिन्न होती है उसी प्रकार निरूपकता सम्बन्ध-विशेष तथा धर्म-विशेष से नियंत्रित होती है या नहीं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि प्रतियोगिता आदि की तरह ही निरूपकता को स्वतंत्र पदार्थ माना जाय तो निरूपकता को संबंध तथा धर्म से नियंत्रित मानना अनिवार्य है।

जब हम घटाभाव कहते हैं तो घट में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक अभाव होने से अभाव में निरूपकता आती है तो वह निरूपकता अभावत्व रूप धर्म से नियंत्रित होती है तथा घट में रहने वाली प्रतियोगिता में रहने वाली निरूप्यता/निरूपकता प्रतियोगितात्व धर्म से नियमित होती है। अतः घटाभाव को हम "घटत्वावच्छिन्न निरूपकतावान् अभावः" कह सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जिस प्रकार अभाव में रहने वाली निरूपकता अभावत्व-रूप धर्म से अवच्छिन्न होती है उसी प्रकार वह अभाव में रहने वाली अनुयोगिता से भी अवच्छिन्न होती है। इसी प्रकार चूंकि अभाव स्वरूप संबंध से अपने आश्रय में रहता है अतः अभाव में रहने वाली निरूपकता स्वरूप संबंध से भी नियमित होती है।

प्रतियोगिता और अभाव में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होने से प्रतियोगिता में रहने वाली निरूपकता भी स्वरूप संबंध से नियमित होती है क्योंकि प्रतियोगिता नामक स्वतंत्र पदार्थ को नैयायिक स्वरूप संबंध से वृत्ति मानते हैं।

'घटज्ञानम्' ऐसा प्रत्यय होने पर घट में रहने वाली विषयता का निरूपक ज्ञान होने पर ज्ञान में रहने वाली निरूपकता ज्ञानत्व रूप धर्म से नियमित होती है तथा ज्ञान में विषयिता होने से उसी विषयिता से भी निरूपकता अवच्छिन्न होती है।[२३] ज्ञान आत्मा में समवाय संबंध से रहता है। अतः ज्ञान में रहने वाली निरूपकता भी समवाय संबंध से नियमित होती है, तथा भूतल पर घट संयोग संबंध से रहता है; अतः उसमें रहने वाली निरूप्यता/निरूपकता संयोग संबंध से नियमित होती है।

परन्तु जब विषयिता और विषयता या वृत्तिता अथवा अधिकरणता आदि में

निरूप्य-निरूपक-भाव प्रदर्शित किया जाता है तो उसमें रहने वाली निरूप्यता/निरूपकता विषयतात्व या विषयितात्व धर्म से नियमित मानी जाती है। तथा चूंकि विषयता आदि सभी पदार्थ स्वरूप संबंध से रहते हैं अतः उनमें रहने वाली निरूप्यता/निरूपकता स्वरूप संबंध से ही नियमित होती है।

कुछ नैयायिक समानाकारक विषयताओं में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। जैसे, 'संयोगेन अभावो नास्ति' इस प्रत्यय में भासित होने वाली नञ् पद से उत्पन्न होने वाले अभाव-ज्ञान की विषयता और अभाव पद से उत्पन्न होने वाली अभाव-ज्ञान की विषयता दोनों परस्पर निरूप्य-निरूपक-भावमात्र हैं। इसमें विशेष बात यह है कि विषयता और विषयिता में तो निरूप्य-निरूपक-भाव होता ही है, परंतु विषयताओं में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है यह विशेष बात है।[२४]

निरूपकता नामक पदार्थ को लेकर विषयिता आदि पदार्थों की व्याख्या कर के विषयिता आदि पदार्थों को स्वतंत्र पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे, विषयता-निरूपकत्व को विषयित्व कह सकते हैं। विषयता आदि के समान ही निरूपकता का भी संबंध और धर्म दोनों ही रूप में प्रयोग नैयायिक अनेकत्र करते हैं।

निरूपकता का सम्बन्ध के रूप में कैसे और धर्म के रूप में कैसे प्रयोग होता है और क्यों होता है इसका विवेचन आगे अध्याय में किया जायेगा।

टिप्पणियाँ

१. शिवदत्त मिश्र; ह्रदोजात्यभाववान् इत्यादौ जातिमज्जातिमत्वावच्छिन्न विषयता: विशेष्यितारूपत्वेन संसर्गानवच्छिन्नतया संसर्गनिवेशे जातिमान् जातिमानित्यादि ज्ञानावारणाच्चेति वाच्यम्। सामान्यनिरूक्तिटीकायाम्।

२. विश्वनाथ; न्यायसिद्धान्तमुक्तावली; प्रामाण्यवादप्रकरणे

३. शिवदत्त मिश्र; अभावप्रतियोगित्वयोः परस्परनिरूप्य निरूपक भावदिति। जागदिशी, सिद्धान्तलक्षरस्य टीकायाम्।

४. गदाधार; एवं संसर्गतया समं प्रकारताया विशेषतायाश्च निरूप्यनिरूपकभावाख्य सम्बन्धविशेषोऽभ्युपगन्तव्यः। स च सम्बन्धः कार्यत्व कारणत्वाधेयत्वाधारत्व-प्रतियोगित्वानुयोगित्वादीनां मिथः यादृशसम्बन्धः इव स्वरूपविशेषः पदार्थान्तरमेव वा। गादाधरी, विषयतावादे

५. रघुनाथ; दीधिति, सामान्यनिरूक्तिप्रकरणे।

६. गदाधर; निरूपत्वञ्चात्र यदि प्रतियोगित्वं तदा कार्यस्य कार्यताप्रतियोगित्वा-भावादनुमित्यसंग्रहः। गादाधरी, सामान्यनिरूक्ति प्रकरणे।

७. शिवदत्त मिश्र; निरूपकत्वं यद्यनुयोगित्वरूपं तदा परामर्शाऽसंग्रहेण व्यभिचारादावव्याप्तिर्बोध्या। सामान्यनिरूक्ति टीकायाम्।

८. गदाधर; सम्बन्धिपदं सम्बन्धिद्वयसाधारणस्य तत्साक्षात्कारजनक साक्षात्कार-विषयतात्मक निरूपकत्वस्य लाभाय। गादाधरी, सामान्यनिरूक्ति प्रकरणे।

९. शिवदत्त मिश्र; तादृश्य निरूपकत्वं च न विषयतारूपं किन्त्वरिक्तमेव। सामान्यनिरूक्ति टीकायाम्।
१०. यन्निरूपितत्वं यस्य तदाश्रयनिरूपितत्वमपितस्येति। वहीं
११. विषयितयोः परस्परनिरूप्यनिरूपकभावः। वहीं
१२. शिवदत्त मिश्र; इदमत्रतत्त्वम्। अन्तराभासमानपदार्थनिष्ठ विशेष्यताप्रकारतयोः भट्टाचार्यमतेऽवच्छेद्यावच्छेदकभावः। तेषामयमाशयः-पुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यक दण्डाभावत्वावच्छिन्न प्रकारक बुद्धि प्रति पुरुषत्वावच्छिन्न दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वम्। तयोरभेद स्वीकारे तु सुन्दरपुरुषदण्डवान्देश इत्यस्यापि प्रतिबन्धकत्वापत्तिः। अत्रापि सुन्दरत्व प्रकारता निरूपिता या पुरुषे विशेष्यता सैव पुरुषत्वावच्छिन्न प्रकारता इति तस्या दण्डत्वावच्छिन्न विशेष्यतात्मक प्रकारता-निरूपितत्व सत्त्वात्। जगदीशस्तु दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारत्वावच्छिन्न निरूपकता निरूपित निरूप्य-तावत्पुरुषतात्वावच्छिन्न विशेष्यताशालिनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धक-तामभ्युपैति। सामान्यनिरूक्ति टिप्पण्याम्।
१३. यादवाचार्य; अत्र प्रतियोगित्वं निरूपकत्वम्। न्यायसिद्धान्तञ्जर्याः टीकायाम्।
१४. गदाधर; यत्र प्रकारताविशेष्यत्वयोर्निवेशः तत्र संसर्गस्याप्यवश्यं निवेशात् तयो-र्निरूप्यनिरूपक भावानभ्युपगमेऽपि गौरवानवकाशादिति। गादाधरी, विषयतावादे
१५. शिवदत्त मिश्र; विनिगमनाविरहादेव तयोरपि साक्षान्निरूप्यनिरूपकभावसिद्धिरिति। विषयतावाद टिप्पण्याम्
१६. गदाधर; वस्तुतस्तु..... तत्र घटादिनिष्ठायाः भूतलादिनिष्ठ विशेष्यतानिरूपित प्रकारताया एव घटत्वादिप्रकारतानिरूपित विशेष्यतात्मकत्वात् तादृश प्रकारता-योर्निनिरूपकभावोपपत्तौः। गादाधरी, विषयतावादे
१७. शिवदत्त मिश्र; अभाव प्रतियोगित्वयोः परस्परनिरूप्यनिरूपकभावात्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणटीकायाम्।
१८. गोवर्धन मिश्र; न्यायबोधिन्याः प्रत्यक्षपरिच्छेदे।
१९. न्यायबोधिनी, अनुमानपरिच्छेदे।
२०. उपलक्षणत्वञ्च प्रकारतावच्छेदकत्वे सति निरूपकतावच्छेदकत्वम्, विशेषणत्वं प्रकारतावच्छेदकत्वे सति निरूपकतावच्छेदकत्वम्।
२१. मथुरानाथ; व्याप्तिपञ्चकरहस्ये।
२२. रघुनाथ शिरोमणि; दीधिति, सिद्धान्तलक्षणे
२३. शिवदत्त मिश्र; तादृशनिश्चयनिष्ठविषयितानिरूपकतावच्छेदकत्वात्। सामान्यनिरूक्ति टीकायाम्।
२४. बच्चा झा; तत्र नञ् यदाभावपदजन्योपस्थित्योः समानाकारकत्वेन तदीय विषयतो-निरूप्यनिरूपकभावेनाभावविषयतानिरूपितविषतया प्रयोज्यत्वं सैवाभाव-विषयताया सत्त्वात्। व्युत्पतिवादटीकायाम्।

❑❑❑

अध्याय ९

कार्यता-कारणता

पूर्व अध्याय में कार्यता और कारणता के बीच होने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव की चर्चा की गयी थी। कार्यता, जन्यता, उत्पाद्यता आदि शब्दों का प्रयोग नव्य-न्याय में अनेक बार किया गया है। कार्यता, जन्यता, उत्पाद्यता आदि शब्द समानार्थ हैं। विषयता आदि के समान ही कार्यता भी पारिभाषिक पदार्थ है। कार्य में रहने वाली शक्ति, या धर्म या सम्बन्ध कार्यता कहलाता है। कार्य के स्वरूप के बारे में नैयायिकों में मतभेद है।

कार्यता यह कार्य के साथ रहने वाला कारण का स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है या प्रागभाव की प्रतियोगिता ही कार्यता है,[१] या कारण की उत्तरभाविता ही कार्यता है ? उदाहरण के लिये धूम यह अग्नि का कार्य है। धूम में अग्नि की कार्यता है, तो अग्नि में धूम की कारणता है। इसी प्रकार धूम की उत्पत्ति के पूर्व धूम का अभाव होने से और धूम उस प्राक् अभाव का प्रतियोगी होने से कार्य कहलाता है। उसी प्रकार कारणोत्तर-भाविता का अर्थ है कारणाभाव से प्रयोज्य अभाव की प्रतियोगिता। जैसे, अग्नि का अभाव होने पर धूम का अभाव अवश्यंभावी है। अग्नि के अभाव से प्रजोज्य धूम के अभाव का प्रतियोगी होने से धूम कार्य है।

सकल उपयुक्त सामग्री उपस्थित होने पर जो नियम से पश्चात्वर्ति होता है उसे कार्य कहते हैं। कार्य में रहने वाली कार्यता भी सम्बन्ध से तथा धर्म से नियमित होती है।[२] जिस सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वही कार्यता का नियामक सम्बन्ध अर्थात् कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। जैसे, पट तन्तुओं पर समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अतः पट में रहने वाली कार्यता का नियामक सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध होता है और यहाँ की कार्यता समवाय सम्बन्ध से नियमित (याने अवच्छिन्न) मानी जाती है। तन्तुओं पर समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला पट कालिक सम्बन्ध से काल में उत्पन्न होता है और दिशा में दैशिक विशेषणता सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अतः कालिक और दैशिक सम्बन्ध भी कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध होते हैं। इसलिये पट में रहने वाली कालनिरूपित कार्यता कालिक सम्बन्ध से तो दिक्-निरूपित कार्यता दैशिक सम्बन्ध से नियमित याने अवच्छिन्न होती है।

कार्यता सम्बन्ध की तरह धर्म से नियमित होती है। जिस असाधारण धर्म से युक्त कार्य उत्पन्न होता है वह असाधारण धर्म उस कार्यता का अवच्छेदक धर्म होता है और कार्यता उस धर्म से नियमित मानी जाती है। जैसे, घट घटत्वरूप असाधारण धर्म से युक्त के रूप में उत्पन्न होता है। अतः घटत्व यह घट में रहने वाली दण्डदि से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक होता है। यद्यपि घट में घटत्व के समान ही पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व जैसे धर्म भी होते है और घट पृथ्वीत्व-युक्त तथा द्रव्यत्व-युक्त के रूप में भी उत्पन्न होता है, तथापि

पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व असाधारण धर्म न होने से घट में रहने वाली कार्यता के अवच्छेदक नहीं होते हैं। अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्म ही अवच्छेदक होता है यह बात अवच्छेदकता का स्वरूप स्पष्ट करने वाले अध्याय में पहले ही बतायी जा चुकी है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कार्यता का स्वरूप क्या है ? प्रागभाव प्रतियोगिता को कार्यता मानना उचित नहीं है। पूर्व अध्याय में यह बताया जा चुका है कि ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता किसी धर्म या सम्बन्ध से नियमित (अवच्छिन्न) नहीं होती है। परन्तु कार्यता तो सम्बन्ध और धर्म इन दोनों ही से अवच्छिन्न होती है। अतः प्रागभाव-प्रतियोगिता को कार्यता के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि प्रागभाव का अस्तित्व विवादग्रस्त है।[३] जो लोग प्रागभाव स्वीकार नहीं करते उनके मत के अनुसार कार्यता की उपर्युक्त व्याख्या सम्भव नहीं है।

कुछ अन्य नैयायिक स्व(कार्य) के अधिकरण के ध्वंस का अधिकरण न होने वाले क्षण के अनुयोगिक सम्बन्ध की प्रतियोगिता को कार्यता के रूप में परिभाषित करते हैं। परन्तु उनकी भी उक्त परिभाषा समीचीन नहीं है। क्योंकि सम्बन्ध की प्रतियोगिता भी सम्बन्धावच्छिन्न न होने से उक्त रूप में परिभाषित कार्यता भी सम्बन्धावच्छिन्न नहीं हो सकेगी। 'कारणाभावप्रयोज्य अभावप्रतियोगित्वं' यह कार्यता का लक्षण कुछ लोग करते हैं, क्योंकि कारणाभाव होने से कार्याभाव होता है ऐसा व्यवहार होता है। दण्डाभाव प्रयुक्त घटाभाव होता है, अतः दण्डाभाव प्रजोज्य अभाव घट का अभाव हुआ। उसकी प्रतियोगिता घट में है। अतः वही घट में रहने वाली कार्यता है। यह मत भी सयुक्तिक नहीं है। व्यापक का अभाव रहने पर व्याप्य का भी अभाव रहना है। जैसे, द्रव्यत्व का अभाव रहने पर पृथ्वीत्व का अभाव रहता है। परन्तु द्रव्यत्वाभाव से प्रयोज्य पृथ्वीत्व के अभाव का प्रतियोगी पृथ्वीत्व द्रव्यत्व का कार्य नहीं है। अतः उक्त प्रतियोगित्व भी कार्यता का उचित लक्षण नहीं है।

यहाँ यह कह सकते हैं कि व्याप्याभाव में जो व्यापकाभाव का प्रयोज्यत्व है वह ज्ञाप्यता-रूप है, तथा कार्याभाव में जो कारणाभाव का प्रयोज्यत्व है वह ज्ञाप्यता-रूप न हो कर स्वतंत्र और भिन्न है। परन्तु यह कथन भी बलवान् नहीं है। क्योंकि कारणाभाव से कार्याभाव और व्यापकाभाव से व्याप्याभाव इन दोनों ही व्यवहारों में अन्तर करने लायक कोई विशेष नहीं है। अतः व्यवहारों के आधार पर ज्ञात होने वाली प्रयोज्यताओं में भी वैलक्षण्य खोजना सुकर नहीं है।

कार्यता कार्य के साथ कारणता के सम्बन्ध से जुडी हुई होने के बावजूद कार्य से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। वह कार्य का स्वरूप होने से स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है। इसलिये घट में रहने वाली दण्ड की कार्यता घट ही है। वह कार्यतात्व से अवच्छिन्न होती है और घटत्व धर्म कार्यता का अवच्छेदक (नियामक) कहलाता है। कुछ लोगों का मत है कि कार्यत्व अखण्डोपाधि सामान्य है।[४] सामान्य को जाति और अखण्डोपाधि भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया गया है। दण्ड से घट उत्पन्न होता है, तन्तुओं से पट निर्मित होता है इन प्रतीतियों के आधार पर घट तथा पट में विशेषण के रूप

में क्रमशः दण्ड-जन्यता और तन्तु-जन्यता को बोध होता है। कार्यता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? कं 'यह वस्तु का कार्य है' इस प्रामाणिक प्रत्यय के आधार पर कार्यता के सामान्य स्वरूप को स्वीकार करना आवश्यक है।

इसका तात्पर्य यह है कि विशिष्ट प्रतीति के नियामक तीन होते हैं-[५] विशेषण (प्रकार), विशेष्य, और संसर्ग। जैसे, दण्डी पुरुष के प्रतीत होने पर विशेषण के रूप में दण्ड, विशेष्य के रूप में पुरुष सम्बन्ध के रूप में दण्ड और पुरुष का संयोग उक्त प्रतीति के नियामक होते हैं। उसी प्रकार 'यह उसका कार्य है' यह प्रतीति भी एक विशिष्ट प्रतीति है। इस प्रतीति का विषय कार्यता भी है। अतः कार्यता को भी प्रतीति का नियामक मानना आवश्यक है। यदि कार्यता को विशेषण या विशेष्य के रूप में उक्त प्रतीति का नियामक मानेंगे तो उक्त प्रतीति में उनके सम्बन्ध के रूप में अतिरिक्त सम्बन्ध की खोज करनी पड़ेगी। क्योंकि विशेषणता तथा विशेष्यता सर्वदा संसर्गता से निरूप्य होती है। अतः कार्यता को संसर्ग के रूप में ही नियामक मानना उचित है। उसे संसर्ग के रूप में स्वीकार करने पर संसर्ग के संसर्ग की खोज करने की आवश्यकता नहीं होती है। प्रतीति में संसर्ग ही विषय के रूप में अवगत होता है, सम्बन्ध का सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार उक्त प्रतीति में संसर्ग के रूप में प्रतीति होने वाली कार्यता कार्य-स्वरूप से भिन्न होने से इतर स्वरूप सम्बन्धों से विलक्षण स्वरूप सम्बन्ध के रूप में सिद्ध होती है।

उक्त प्रतीति में कार्यता को सम्बन्ध न मान कर विशेषण नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर उक्त प्रत्यय-बोधक वाक्य 'यह उसका कार्य है' में कार्यता के बोधक शब्द का प्रयोग असंगत माना जायगा। संसर्ग को व्यक्त करने वाले वाक्य में कही भी सम्बन्ध-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है। सम्बन्ध-वाचक शब्द के बिना ही सम्बन्ध का भाव प्रतीत होता है। दण्ड पुरुष का संयोग, तन्तु और पट का समवाय, या भूतल और घटाभाव का स्वरूप सम्बन्ध क्रमशः दण्डी पुरुष, तन्तुओं पर पट, और भूतल पर घट का अभाव आदि वाक्यों से प्रतीत होता है। अतः उक्त प्रत्यय में कार्यता का सम्बन्ध के रूप में भान होता है यह मानना अनुचित है। यदि कार्यता यह सम्बन्ध होता तो अन्य प्रत्ययों की तरह उक्त प्रत्ययों में भी इसका उल्लेख न होता।अतः कार्यता को विशेषण के रूप में ही उक्त प्रतीति का विषय स्वीकार करना उचित है। कार्यता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है।

तथापि यह स्वीकार करना भी उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि द्वयणुक का परिणाम अणुओं के द्वित्व से उत्पन्न होता है, अणु परिणाम से नहीं। इस प्रतीति में प्रतीत होने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध के रूप में कार्यता को मानना आवश्यक है। उक्त प्रतीति के द्वारा द्वयणुक परिमाण में अणुपरिमाणजन्यत्व का अभाव प्रतीत होता है ऐसा नहीं मान सकते। क्योंकि नैयायिकों के अनुसार अणु का परिमाण किसी का कारण नहीं होता। अतः अणुपरिमाण की जन्यता अप्रसिद्ध वस्तु है।[६] अतः जन्यता (कार्यता) का अभाव भी प्रसिद्ध है। अतः उक्त प्रत्यय जन्यत्व सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले अणुपरिमाण के अभाव के विषय में ही होना चाहिये। अतः

जन्यता याने की कार्यता अभाव की प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध के रूप में निर्विवाद सिद्ध होती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कार्यता (जन्यता) सम्बन्ध वृत्यनियामक सम्बन्ध होने से यह अभाव की प्रतियोगिता का नियामक कैसे हो सकता है ? क्योंकि वृत्यनियामक सम्बन्ध को अभाव की प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) नहीं माना जाता। परन्तु यह आशंका उचित नहीं है। नैयायिक भी कुछ स्थलों में वृत्यनियामक सम्बन्ध को भी प्रतियोगितावच्छेदक मानते हैं।[७] क्योंकि उक्त प्रतीति की व्याख्या करना अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है।

"द्वयणुक का परिमाण अणु के द्वित्व से उत्पन्न होता है, परमाणु के परिमाण से नहीं" इस प्रतीति से निरूपितत्व सम्बन्ध से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला अणुपरिमाण का अभाव ही प्रतीत होता है। अतः जन्यता को सम्बन्ध मानने की कोई आवश्यकता नहीं है यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि "मन अणु परिमाण से उत्पन्न नहीं होता है" इस प्रतीति में मन नित्य होने के कारण अणुपरिमाण-जन्यता उसमें सम्भव न होने से उक्त प्रतीति से जन्यत्व सम्बन्ध से नियमित प्रयियोग्रिता वाला अणुपरिमाण का अभाव ही भासित होता है। अतः जन्यता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करना भी अनिवार्य है।

कारण का जो नियमपूर्वक उत्तरकालीन होता है वह कार्य कहलाता है उसमें रहने वाला धर्म कार्यत्व है। सभी प्रकार की सामग्री उपस्थित रहने पर नियम से उस सामग्री का उत्तरवर्ती कार्य कहलाता है।

कुछ विद्वान् कार्यतात्व को अखण्डोपाधि (अनिर्वचनीयो धर्मः) मानते हैं, तो कुछ नियतपश्चात्वर्तित्व धर्म को ही कार्यतात्व मानते हैं।

कार्यता से जो अन्वित होता है उसमें भाट्ट मीमांसक पद शक्ति मानते हैं।[८] उनके अनुसार घटादि पदों की कार्यता से अन्वित घट में ही शक्ति होती है, क्योंकि व्यवहार से जो बालक को शक्तिज्ञान सब से पहले होता है वह कार्यता से अन्वित घट में शक्तिज्ञान होता है। "घट लाओं और घट ले जाओ" कहने पर समीप बैठे बालक को घट पद का अर्थबोध होता है। परन्तु वह केवल 'घट' के अर्थ का बोध न हो कर लाने (आनयन), ले जाने (नय) की क्रियाओं से युक्त घट का ही अर्थ-बोध होता है। आनयन व्यवहार से अनुमित घटानयन रूपी कार्यता का ज्ञान पद से होता है ऐसा मीमांसक मानते हैं। इसलिये कार्यता में लिङ् पद की शक्ति मानना उनकी दृष्टि से उचित है। कार्यता में शक्ति मानने पर कार्यता घट आनयन में प्रकार के रूप में मालूम पड़ती है। अतः घट का लाना (आनयन) कार्य है इस प्रकार का बोध है। अनन्त कार्यों में शक्ति मानने में गौरव होता है।

यद्यपि नैयायिक वेदस्थ लिङ् की कार्यता में शक्ति मानते हैं तथा लौकिक लिङ् पद की कार्यता में निरूढ लक्षणा मानते हैं तथापि मीमांसक सर्वत्र ही लिङ् पद की कार्यता में शक्ति मानते हैं। यही कारण है कि भाट्ट इष्टसाधनज्ञान को प्रवर्तक मानते हैं। नैयायिक बलवदनिष्ट अननुबन्धित्व विशिष्ट इष्ट साधनता ज्ञान तथा कृतिसाध्यता ज्ञान को प्रवर्तक मानते हैं, जबकि गुरू-मतानुयायी कार्यताज्ञान को ही प्रवर्तक मानते

हैं।[९] उनके मत में कार्यता का अर्थ है कृतिसाध्यता। इस प्रकार का कृतिसाध्यता ज्ञान प्रवृत्ति का जनक है। अतः कार्यता और कृतिसाध्यता एक ही है।

कार्यता सम्बन्ध के समान धर्म से भी नियमित होती है। परन्तु कार्य में रहने वाले तथा नित्य में रहने वाले धर्म से नियमित नहीं होती है। अतः नित्य और अनित्य दोनों में रहने वाला साधारण धर्म कार्यता का अवच्छेदक नहीं होता है। परन्तु नित्य साधारण धर्म को भी कार्यतावच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं है ऐसा दिनकरीकार का विचार है।[१०]

पूर्व अध्याय में कार्यता के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। कार्यता और कारणता परस्पर सापेक्ष होने से उनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। कारणता, जनकता, हेतुता ये पर्यायवाची शब्द हैं। कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त प्रायः सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। नैय्यायिकों के मतानुसार संसार में जितने भी लौकिक और वैदिक कर्म या घटनाएँ हैं उनका फल के साथ सम्बन्ध निश्चित कर के ही मनुष्यमात्र- या कहें प्राणिमात्र-उन-उन कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। कर्म और उसके फल के बीच होने वाले कार्य-कारण-भाव को जाने बगैर कोई भी व्यक्ति किसी भी कर्मानुष्ठान को संपन्न नहीं करता है। अतः यह सिद्ध है कि कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त यह एक सर्वव्यापक तथ्य है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कारणत्व या कारणता क्या है ? कुछ नैयायिकों का मत है [११] कि कारणत्व माने तत् फलाव्यवहितपूर्वसत्त्व है, अर्थात् विवक्षित फल के पूर्व में रहना ही कारण में रहने वाली कारणता है। परन्तु यह मत उचित नहीं है। क्योंकि अनेक पदार्थ विवक्षित फल के पूर्व विद्यमान होते है और कारणता के उक्त लक्षण के अनुसार उन सभी पदार्थों को विवक्षित फल का कारण मानना पड़ेगा। दूसरे, कई उदाहरणों में कारण विवक्षित फल के अव्यवहित पूर्व में नहीं भी रहता है ऐसा दिखायी देता है। फिर भी उनमें कारणता का व्यवहार होता है। जैसे, 'वृष्टि से सुभिक्ष होता है' यहाँ वृष्टि सुभिक्ष के अव्यवहित पूर्व में न हो कर भी वह सुभिक्ष का कारण कहलाती है। वैसे ही याग स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान न होने पर भी स्वर्ग का कारण माना जाता है। उसी प्रकार आकाश कार्यमात्र के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान होने पर भी उसे हरेक कार्य का कारण नहीं माना जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण अव्याप्त तथा अतिव्याप्त दोनों ही रूप में प्रस्तुत हो जाने से स्वीकार्य नहीं हो सकता।

तदभाव प्रयोजकीभूताभाव प्रतियोगित्व [१२] माने उस विवक्षित वस्तु के अभाव के लिये प्रयोजक होने वाले अभाव का प्रतियोगी होना भी कारणता का स्वरूप है ऐसा कुछ मानते हैं। जैसे, सुभिक्ष के अभाव का प्रयोजनक है वृष्टि का अभाव। अतः उस अभाव की प्रतियोगी वृष्टि सुभिक्ष का कारण है। परन्तु यह लक्षण भी दोषरहित नहीं है। कारणता का ऐसा स्वरूप मानने पर घट के उत्पादक संयोग का कारण घट है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि घट के उत्पादक संयोगाभाव का व्यापक (प्रयोजक) अभाव घट का अभाव भी है। और उसका प्रतियोगी घट होने से घट स्वयं घट के उत्पादक संयोग का कारण बन जायेगा।

कुछ नैयायिक कारणता माने कारण का कार्य के साथ होने वाला विशेष प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध मानते हैं।[१३] इस मत में भी संबंध दो संबंधियों से निरूप्य होने से कारणता कार्य और कारण इन दोनों से ही निरूप्य (प्रदर्श्य) होती है। परंतु कारणता को स्वरूप संबंध का एक प्रकार मानने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह स्वरूप सम्बन्ध कारण-स्वरूप है या कारणातावच्छेदक धर्म-स्वरूप है यह भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि वह कारण-स्वरूप हो तो वस्तु (दण्ड) आदि का ज्ञान होते ही उस में (घट की) कारणता का ज्ञान होना चाहिये। उसी प्रकार कारणता कारणतावच्छेदक दण्डत्व स्वरूप हो तो दण्डत्व का ज्ञान होते ही दण्ड में घट-कारणता का ज्ञान होना चाहिये। कारणता को कारण-स्वरूप मानने पर 'दण्ड कारण है'' यह व्यवहार नहीं होना चाहिये, क्योंकि दण्ड और कारणता एक होने से ''दण्ड कारण है'' इसका अर्थ होगा ''दण्ड दण्ड है'' और ''दण्ड दण्ड है'' ऐसा प्रयोग कहीं भी कभी भी सार्थकतया नहीं होता है।

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार अन्यथासिद्ध से भिन्न नियतपूर्ववृत्तिजातीय होना ही कारणता है।[१४] जैसे, दण्डमात्र घट के पूर्व नियम से रहता है तथा वह अन्यथासिद्ध से भिन्न होने से घट का कारण माना जाता है। जिस धर्म से जो वस्तु जिस कार्य की पूर्ववृत्ति मालूम पडती है वह धर्म उस कार्य की दृष्टि से अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, घट-स्वरूप कार्य के लिये दण्ड में रहने वाला दण्डत्व धर्म अन्यथासिद्ध है। क्योंकि दण्ड दण्डत्व धर्म से नियमित हो कर घट का कारण होता है। उसी प्रकार इतर कारण के साथ जिस रूप (धर्म) से युक्त (पदार्थ) जिस कार्य के पूर्व में विद्यमान रहता है उस (रूप धर्म) से युक्त पदार्थ उस के कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। उसी प्रकार गदाधर के मत में [१५] दण्डसमवहित चक्रत्वावच्छिन्न चक्र भी द्वितीय अन्यथासिद्ध है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ पंचानन ने [१६] घट के लिये दण्ड-रूप को द्वितीय अन्यथासिद्ध माना है, दण्डसमवहित चक्र को नहीं माना है। चक्र घट के लिये दण्ड के समान ही स्वतन्त्र कारण है। जब कि गदाधर चक्र को दण्डसमवहित के रूप में नियतपूर्व में विद्यमान मान कर उसे अन्यथासिद्ध मानते हैं।

दूसरे किसी पदार्थ के पूर्व में विद्यमानता का ज्ञान होने पर ही जिस धर्म से युक्त पदार्थ प्रकृत कार्य के पूर्व में विद्यमान के रूप में ज्ञात होता है वह उस कार्य के लिये तृतीय अन्यथासिद्ध माना जाता है।[१७] जैसे, ज्ञान आदि के लिये आकाश। क्योंकि आकाश की शब्द के समवायि कारण के रूप में स्थापना होने पर ही ज्ञान आदि के पूर्व में उसकी विद्यमानता अवगत होती है। ज्ञान का पूर्ववर्ति होने के लिये आकाश को पहले शब्द का पूर्ववर्ति होना पड़ता है। चूंकि शब्द की उत्पत्ति सर्वत्र होने से आकाश सर्वव्याप्त है, अतः वह ज्ञानादि का भी पूर्ववर्ति है। उसी प्रकार घट के लिये कुम्हार का पिता भी अन्यथासिद्ध है। कुम्हार का पिता कुम्हार का पूर्ववर्ति होने से घटका पूर्ववर्ति है। अतः घट का पूर्ववर्ति होने के लिये उसे पहले कुम्हार के पूर्व में रहना आवश्यक है। अतः कुलाल का पिता घट के लिये तृतीय अन्यथासिद्ध है।

विश्वनाथ पंचानन ने कुलाल के पिता को चुतर्थ अन्यथासिद्ध के रूप में प्रस्तुत किया है।[१८] उनके मतानुसार जिस कार्य के जनक के पूर्व में जो रहता है वह उस कार्य के लिये अन्यथासिद्ध है। कुलाल घट कार्य का जनक होने से कुलाल का पिता घट कार्य के जनक कुलाल के पूर्व में रहने से घट के पूर्व में रहता है। अतः वह घट की दृष्टि से अन्यथासिद्ध है।

यहाँ एक बात यह ध्यातव्य है कि याग अपूर्व का पूर्ववृत्ति हो कर ही स्वर्गादि का पूर्ववृत्ति होने पर भी अन्यथासिद्ध नहीं है। कारण याग अपूर्व के पूर्ववृत्ति के ग्रहण के बिना ही स्वर्गादि पूर्ववृत्ति का ग्रहण होता है। अपूर्व यह याग से जन्य व्यापार होने से व्यापरेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः [१९] के नियमानुसार वह अन्यथासिद्ध नहीं है। परन्तु कुम्भकार का पिता कुम्भकार का जनक (व्यापारक) होने पर भी अन्यथासिद्ध ही है। अवश्यतया स्वीकृत नियतपूर्ववृत्ति पदार्थ के रहने से ही कार्य उत्पन्न होता है। उसके साथ रहने वाला जो भी हो वह उस कार्य की दृष्टि से वहाँ अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, पाकज गन्ध के लिये रूप का प्रागभाव अन्यथासिद्ध है। वह चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध है। क्योंकि जहाँ पाकज गन्ध के प्रागभाव का अभाव है तथा रूप का प्रागभाव है वहाँ सुरभि और असुरभि गन्धयुक्त अवयवों से उत्पन्न घट में गन्धोत्पति के लिये नियमपूर्ववृत्ति रूप प्रागभाव को कारण न मान कर अन्यथासिद्ध ही मानना पड़ेगा। क्योंकि पाकज गन्ध के अवश्यरूप से स्वीकृत नियतपूर्ववृत्ति अग्नि-संयोग है और उसी मं कार्योत्पादकता सिद्ध होती है, नियतपूर्ववृत्ति-रूप प्रागभाव में नहीं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ पंचानन ने[२०] 'अवश्यक्लृप्त' यह लक्षण पंचम अन्यथासिद्ध का बताया है। जब कि गदाधर पंचम अन्यथासिद्ध का ऐसा लक्षण करते हैं कि प्रकृत कार्य के लिये जिस धर्म का गुरूभूत होने वाला व्याप्यधर्म कारणता का अवच्छेदक होता हो उस धर्म से अवच्छिन्न (पदार्थ) घट आदि प्रकृत कार्य की तो जो कारणता है उसका अवच्छेदक धर्म दण्डत्व आदि हैं। दण्डत्व यह द्रव्यत्व-व्याप्त-धर्म है। अतः कारणतावच्छेदक दण्डत्व द्रव्यत्व-व्याप्त होने से द्रव्यत्वावच्छिन्न (द्रव्य) अन्यथासिद्ध है, जब कि वही दण्ड दण्डत्वावच्छिन्न के रूप में घट का कारण है।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो नियतपूर्ववृत्तिता के नियामक जिस धर्म से युक्त के लिये जिस कार्य की दृष्टि से कारणता का व्यवहार नहीं होता है उस धर्म से युक्त वस्तु उस कार्य के लिये अन्यथासिद्ध होती है।[२१] इसलिये शब्द के पूर्व में विद्यमानता का बोध न होने पर भी शब्द के समवायिकारण आकाश में ज्ञान आदि वस्तुओं की पूर्ववृत्तिता गृहीत होने पर आकाश अन्यथासिद्ध होता है। उसी तरह पूर्वसंयोग के नाश की पूर्ववृत्ति का ज्ञान न होने पर भी विभाग में उत्तरसंयोग की पूर्ववृत्तिता का ज्ञात होने पर विभाग उत्तरसंयोग की दृष्टि से अन्यथासिद्ध ही है। घट-निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार कपाल (घट का अर्धाभाग) द्वय के संयोग से घट उत्पन्न होता है। सब से पहले कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है। उसके बाद क्रिया से पूर्वस्थान से कपाल का विभाग होता है। उसके पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश होता है। पूर्वसंयोग के नाश के बाद उत्तर-संयोग (कपालद्वय

का संयोग) होता है। तब घट उत्पन्न होता है।

यही कारण है कि लघुधर्म से समनियत गुरूधर्म से युक्त कारण नहीं होता।[२३] क्योंकि उसमें प्रामाणिकों का कारणत्व व्यवहार नहीं है। कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति प्रमेय दण्ड को घट का कारण नहीं मानता है। प्रमेय दण्डत्व से दण्डत्व लघुधर्म है। अतः वह दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) घट का कारण है, प्रमेय दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) नहीं। प्रमेय दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) अन्यथासिद्ध है। उसी प्रकार प्रतिबन्धकाभाव भी तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न के रूप में कारण नहीं गिना जा सकता। प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र के लिये प्रतिबन्धकाभाव के रूप में ही कारण होता है, तद्व्यक्ति के रूप में नहीं। तद्व्यक्ति में कारणता का व्यवहार न होने से तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न के रूप में वह अन्यथासिद्ध है।

एक ही वस्तु किसी रूप से कारण होती है तो दूसरे रूप से अन्यथासिद्ध होती है। इसलिये 'अन्यथासिद्ध से भिन्न' यह विशेषण कारणता के लक्षण में लगाना उचित नहीं है।[२४] अपितु जिस रूप से कुछ (वस्तु) अन्यथासिद्ध है उससे अन्य रूप से युक्त होना ही कारण का स्वरूप है। नियतपूर्ववृत्ति का अर्थ है नियतपूर्ववृत्तिजातीय होना। क्योंकि अतीत, अनागत ऐसा अरण्यस्थ दण्ड भी घट का नियत पूर्ववृत्ति न होने पर भी नियतपूर्ववृत्ति वर्तमान दण्ड का सजातीय होने से उसमें भी स्वरूपयोग्यता-रूप कारणता रहती है। अतः अन्यथासिद्धनिरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तद्धर्मवत्त्व [२५] अर्थात् अन्यथासिद्ध को प्रदर्शित न करने वाली नियतपूर्ववृत्तितारूप नियामक धर्म में कारणता है। उस नियामक धर्म से युक्त जो कुछ हो वह कारण कहलाता है।

लेकिन उक्त लक्षण में प्रविष्ट 'नियतपूर्ववृत्ति' शब्द का क्या अर्थ है? उसका कार्य के ठीक पूर्व (अव्यवहित) काल में रहना ऐसा अर्थ करने पर स्वर्ग के लिये याग कारण नहीं होगा। क्योंकि स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में याग नहीं रहता है। याग की क्रिया स्वर्ग के कई क्षणों के पूर्व में ही घटित हो चुकी होती है। यदि कालिक या व्यापार इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से कार्य के ठीक पूर्वक्षण में रहना ऐसा अगर 'नियतपूर्ववृत्ति' का अर्थ करें तो उक्त दोष का परिमार्जन हो जाता है। क्योंकि याग स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में कालिक सम्बन्ध से न रहने पर भी अदृष्ट-रूपी व्यापार सम्बन्ध से स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में रहता है। परन्तु ऐसा कहने पर विशिष्टबुद्धि और विशेषण-ज्ञान में जो कार्यकारणभाव है उसका विशिष्ट-स्मृति में व्यभिचार होने पर विशिष्ट अनुभव के लिये विशेषण ज्ञान को कारण मान कर उत्पन्न होने वाले व्यभिचार का निराकरण अप्रामाणिक हो जायगा। कालिक और व्यापार अन्यतर (इन दोनों में से एक) सम्बन्ध ठीक पूर्वकाल में वृत्ति है ऐसा कहने पर उक्त कार्यकारण-भाव का स्मृति में व्यभिचार नहीं होता। अनुभवात्मक विशिष्ट ज्ञान के ठीक पूर्वक्षण में विशेषण-ज्ञान कालिक सम्बन्ध से तथा स्मृत्यात्मक विशिष्ट-ज्ञान के ठीक पूर्व में विशेषण-ज्ञान संस्कार-रूप व्यापार सम्बन्ध से रहता है। अतः विशेषण-ज्ञान की विशिष्ट-स्मृति का भी कारण उक्त दोनों में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

परन्तु उक्त अन्यतर सम्बन्ध से अव्यवहित (ठीक) पूर्ववृत्तिता का कारणता के

लक्षण में समावेश करने पर तन्तु एवं तन्तु-संयोग को भी घट का कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि तन्तु भी स्थानविशेष से घट के ठीक पूर्व में विद्यमान हो सकता है। अतः कार्य के ठीक पूर्व (अव्यवहित) क्षण में कार्य के आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी जो न हो वह कारण है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा।[२६]उदाहरण के लिये घट के ठीक पूर्वक्षण में दण्ड का अभाव नहीं रहता है तन्तु आदि का अभाव रहता है। अतः उस अभाव का प्रतियोगी तन्तु घट का कारण नहीं है। उस अभाव का अप्रतियोगी दण्ड ही घट का कारण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

वैसे ही कारण के लक्षण में 'कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में' इस अंश का समावेश न करने पर घट के आश्रय कपाल (अर्धभाग) में कपाल की उत्पत्ति के काल में घट की उत्पत्ति के लिये कारणीभूत कपालद्वय के संयोग का अभाव रहता है (क्योंकि नियम यह है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं एकं अगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति'।) उस अभाव का प्रतियोगी उक्त संयोग होने से वह घट का कारण नहीं होगा।[२७] कार्य के ठीक पूर्व में" इस अशं का समावेश उक्त लक्षण में करने पर कपाल की उत्पत्ति के काल में न रहने वाला संयोग घट की उत्पत्ति के ठीक पूर्वक्षण में कपाल में रहता है। अतः वहाँ (कपाल में) उसका अभाव नहीं है। तथापि वहाँ (कपाल में) जल आदि जिसका अभाव है उसका अप्रतियोगी कपालद्वय का संयोग होता है। अतः वह घट का कारण होता है।

पूर्व में कारणता का लक्षण बतलाते हुए यह कहा गया था कि "कार्याव्यवहित पूर्वक्षणाववच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिर्यः कारणतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता-काभावः तत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्व" ही कार्यनिय-तपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वरूप कारणता के लक्षण का घटक है।[२८] कार्याव्यवहित पूर्वक्षण से नियमित (अवच्छिन्न) यह विशेषण लगाने की आवश्यकता को पूर्व में स्पष्ट किया गया है। परन्तु किसी एक वस्त्र के अव्यवहित पूर्व-क्षण में अन्य वस्त्र के आश्रय तन्तु में विजातीय तन्तु का अभाव (जो कि वस्त्र का कारण है) रह सकता है। उस अभाव की प्रतियोगिता ही उक्त विजातीय तन्तु-संयोग में होने से उक्त विशिष्ट तन्तु-संयोग वस्त्र का कारण नहीं होगा। अतः उक्त अभाव को पूर्वक्षण से नियमित स्व अर्थात् विशेष कार्य के आश्रय में वृत्ति होना चाहिये। उपर्युक्त विशिष्ट तन्तु-संयोग का अभाव विवक्षित वस्त्र के आश्रय तन्तु में नहीं है, अन्य वस्त्र के आश्रय तन्तु में है। अतः उक्त तन्तु-संयोग का अभाव वहाँ न होने से उक्त विशिष्ट तन्तु-संयोग उक्त आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी न होने से विवक्षित पट का कारण है ऐसा कहा जा सकता है।

यहाँ एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूर्वक्षणावच्छेदेन' इस शब्दप्रयोग में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ 'अवच्छिन्नत्व' होता है। अतः 'पूर्वक्षणावच्छेदेन' का अर्थ होता है 'पूर्वक्षणावच्छिन्न', माने जो पूर्वक्षण से अवच्छिन्न हो। जो अभाव कार्य के पूर्वक्षण में रहता है उसमें रहने वाली वृत्तिता पूर्वक्षणावच्छिन्न होती है। ऐसा होने पर पूर्वक्षण उस वृत्तिता का अवच्छेदक होता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि व्याप्यवृत्तिता का तो कोई अवच्छेदक नहीं

होता है। ऐसी स्थिति में घट-मात्र के लिये कोई एक विशिष्ट कपाल कारण हो जाएगा। क्योंकि घट के आश्रय कपाल में उस विशिष्ट कपाल का व्याप्यवृत्ति होने वाला भेद तो होगा, लेकिन उस भेद का अवच्छेदक कार्य का पूर्वक्षण नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उस कपाल का अन्योन्याभाव वहाँ न होने से वहाँ रहने वाले अन्य के अभाव का प्रतियोगी वह विशिष्ट कपाल होने से वह विशिष्ट कपाल-घट-मात्र का कारण है ऐसा माना जाने लगेगा। इसके लिये 'पूर्वक्षणवच्छिन्नत्व' के स्थान में 'अवच्छिन्नत्व पूर्वक्षणावच्छिन्नत्व' इन दोनों का अभाव या वृत्तिता में निवेश करना चाहिये ऐसा गदाधर का मत है[२९] उक्त कपाल के भेद की वृत्तिता में अवच्छिन्नत्व न होने से उपर्युक्त उभयाभाव विद्यमान है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

तथापि याग में स्वर्ग की कारणता का सम्पादन करने के लिये कारणता के लक्षण में 'नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक' का ही केवल निवेश न कर के नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तथा नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदककावच्छिन्ननियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक अन्यतर का निवेश करना चाहिये।[३०] अर्थात् या तो जो नियतपूर्ववृत्ति (हमेशा काये के पूर्व में रहने वाला) हो वह या जो नियतपूर्ववृत्ति का नियतपूर्ववृत्ति हो वह कारण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि याग स्वर्ग का नियतपूर्ववृत्ति न होने पर भी नियतपूर्ववृत्ति जो अपूर्व है उसका नियतपूर्ववृत्ति होनें से स्वर्ग का कारण है। (कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ग तो हमेशा होता ही है। वह याग से उत्पन्न नहीं होता। याग से अपूर्व उत्पन्न होता है और अपूर्व से याग करने वाले का स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।) इस प्रकार याग का स्वर्ग के कारण के रूप में अन्यतर में समावेश हो जाता है और याग की कारणता अबाधित रहती है।

घट के अव्यवहित पूर्व-क्षण में घट के आश्रय कपाल में उस कपाल के किसी एक अवयव में विजातीय कपाल-संयोग का अभाव रहता है। क्योंकि संयोग का अभाव अव्याप्यवृत्ति होता है। संयोग के रहने पर भी संयोग का अभाव उसी वस्तु में अन्य स्थान से नियमित हो कर रहता है। जैसे, वृक्ष की शाखा के साथ उस पर बैठे हुए वानर का संयोग होने पर भी वृक्ष के मूल से नियमित वानर का अभाव भी उसी वृक्ष में रहता है। उसी प्रकार कपाल-संयोग का अभाव भी कपाल में कपाल के किसी अवयव से नियमित हो गर रह सकता है। ऐसी स्थिति में कपाल में रहने वाला उक्त विशिष्ट कपाल-संयोग के अभाव का प्रतियोगित्व ही कपाल-संयोग में है, और अप्रतियोगित्व न होने से कारणता का लक्षण उसमें घटित नहीं होता है। कार्यसमानाधिकरण अभाव में प्रतियोगी वैयधिकरण का निवेश करने पर उक्त दोष का निवारण तो सम्भव है[३१] कारण उक्त अभाव दैशिक अव्याप्यवृत्ति होने से प्रतियोगी के आश्रय में रहता है। अतः वह प्रतियोगी-व्यधिकरण नहीं है। जो अभाव अपने प्रतियोगी के साथ उसी के आश्रय में नहीं रहता है उसे ही प्रतियोगी-व्यधिकरण कहते हैं। अतः कार्य के आश्रय में रहने वाला प्रतियोगीव्यधिकरण-अभाव विशिष्ट कपाल-संयोग का अभाव नहीं है। अतः वहाँ पर रहने वाले अभाव का अप्रतियोगी कपाल-संयोग होने से अव्याप्ति

नहीं है। परन्तु ऐसी स्थिति में घट के लिये घट और तन्तुसंयोग-अन्यतर कारण बन जायेगा। क्योंकि घट और तन्तुसंयोग-अन्यतर का अभाव भी प्रतियोगिसमानाधिकरण होने से घट और तन्तुसंयोग-अन्यतर प्रतियोगी व्यधिकरण-अभाव का अप्रतियोगी है।

अतः उपर्युक्त समस्या का विचार करते हुए गदाधर ने सिद्धान्तरूप से ''स्वाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्न स्वसमानाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्धेन कार्यविशिष्ट योऽभाव तदीय सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितानवच्छेदक'' को नियतपूर्ववृत्तिता-वच्छेदक कहा है।[32] इसका तात्पर्य यह है कि कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में कार्य के आश्रय में रहने वाले अभाव की सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता का नियामक जो न हो वह नियतपूर्ववृत्तिता का नियामक होता है। यद्यपि घट-कार्य के अधिकरण कपाल में तत्कपालिकत्व से नियमित अव्याप्यवृत्ति होने वाला कपाल-संयोगाभाव रहता है, तथापि उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से नियमित होने से ही वह अव्याप्यवृत्ति है। परन्तु सामानाधिकरण सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित होने पर वह कार्य के आश्रय में नहीं रहता है। इसलिये उक्त अभाव सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला नहीं है। अतः वहाँ रहने वाला अभाव उक्त प्रतियोगिता का अप्रतियोगी होने से कार्यनियतपूर्ववृत्ति है।

नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक की उपर्युक्त व्याख्या के पश्चात् ''अन्यथासिद्ध्यनिरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक धर्मवत्व'' इस कारणता के लक्षण के अन्तर्गत आनेवाले अन्यथासिद्धनिरूपकत्व का भी विचार करना आवश्यक है। क्योंकि 'अन्यथासिद्धि का अनिरूपक' इसका अर्थ है' अन्यथासिद्धिनिरूपक धर्मभेदसमुदाय-विशिष्ट'।[33] अन्यथा-सिद्धिनिरूपक धर्मभेद- समुदाय के अन्तर्गत आने वाले धर्मों को पृथक् रूप से सहस्र युग में भी ज्ञात करना सम्भव नहीं है। (क्योंकि वे अगणित हो सकते हैं और किसी भी अगणित की गिनती सीमित समय में करना असंभव है।) ऐसी स्थिति में कारणता की पहचान करना भी अशक्य है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि उक्त कारणता कार्यतावच्छेदक धर्म से घटित होने से कार्यतावच्छेदक धर्म के ज्ञान के बिना कारणता का ज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वेदवाक्य से याग में जो स्वर्ग की कारणता ज्ञात होती है वह नहीं होगी। क्योंकि याग की कार्यता नियामक धर्म 'स्वर्ग' में रहने वाला जातिविशेष है और वह (मृत्यु के) पूर्व में (अनुभवतः) ज्ञात (होने की संभावना) नहीं है। क्योंकि उक्त विधिवाक्य से स्वर्ग और याग के बीच में होने वाले कार्यकारण-भाव का ज्ञान होने पर ही उक्त प्रकार का ज्ञान होगा। परन्तु कार्यता हमेशा किसी (न किसी) धर्म से नियमित होती है। अतः याग की कार्यता भी किसी धर्म से नियमित होती चाहिये। अन्य धर्मों का यहाँ बाध होने से स्वर्गत्व-रूप जाति-विशेष से वह नियमित होनी चाहिये, इस प्रकार के अनुमान के आधार पर स्वर्गत्वादि जाति-विशेष का ज्ञान होता है। अतः कार्यतावच्छेदक धर्म के घटित स्वर्गकारणता का ज्ञान यागादि में सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार कारणता का पूर्वोक्त लक्षण करने पर प्रवृत्ति के लिये मीमांसक जो

इष्टभेदाग्रह को कारण मानते हैं उनके मत में कारणतावच्छेदक धर्म गुरूभूत होने से विशिष्ट ज्ञान को कारण मानना उचित है। क्योंकि विशिष्टज्ञानत्व भेदाग्रहत्व की अपेक्षा लघुधर्म है ऐसा कह कर नैयायिक जो मीमांसक मत का खण्डन करते हैं वह भी समीचीन नहीं होगा। क्योंकि उक्त गुरूभूत धर्म ने नियतपूर्ववृत्तिता दोनों को ही मान्य है, तथा अन्यथासिद्धि-भिन्नत्व भी उसमें है। अतः उक्त गुरूधर्म युक्त को भी कारण मानने में कोई बाधा नहीं है प्रवृत्ति की कारणता के लक्षण में उक्त गुरूभूत धर्म-भेद के निवेश का कोई प्रयोजन न होने से उसका भी निवेश नहीं कर सकते। अतः इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों को हृदयंगम करके कुछ नैयायिक स्वरूपसम्बन्ध विशेष को ही कारणता का स्वरूप मानते हैं।[३४]

परन्तु अधिक विचार करने पर उपर्युक्त कथ्य के बारे में पूछा जा सकता है कि क्या इसे भी ठीक कहा जा सकता है ? क्योंकि कारणता को कारण-स्वरूप मानने पर कारण और कारणता में जो आधार-आधेय-भाव-सम्बन्ध होता है वह सिद्ध नहीं होगा। उदाहरण के लिये, घट की जो दण्ड में कारणता है वह दण्ह-स्वरूप होने पर ''दण्ड में घट की कारणता है'' इस प्रकार का आधार-आधेय-मूलक प्रयोग सम्भव नहीं होगा। कारण और कारणता में अभेद मानने पर 'दण्ड घट-कारण का आश्रय है' ऐसा प्रयोग होने लगेगा। क्योंकि जब कारणता और कारण एक ही हैं तो 'दण्ड घट-कारणता का आश्रय है' इसका अर्थ होगा दण्ड घट-कारण का आश्रय है।[३५]

यदि स्वरूप-सम्बन्ध-रूप कारणता को कारणावच्छेदक दण्डत्वादि-रूप मानें तो कारणता स्नत्प्रतियोगिक नहीं होगी। कारणता यह कार्यता-प्रतियोगिक होती है। दण्डत्व यह जाति होने से दण्डत्व-रूप कारणता कार्यता-प्रतियोगिक नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि दण्ड में रहने वाली कारणता को दण्डत्व-रूप धर्म से अवच्छिन्न (नियमित) मानी जाती है। जब कारणता ही दण्डत्व रूप है, तो 'स्व' का अवच्छेदक 'स्व' नहीं हो सकता। अभिन्न वस्तुओं में अवच्छेद्य-अवच्छेद्यक भाव नहीं होता। अभेद होने पर भी अवच्छेद्यावच्छेदक-भान स्वीकार करने पर 'दण्ड दण्डत्व-रूप से घट का कारण है' यह व्यवहार जैसे होता है, वैसे ही 'दण्डत्व घट का कारण है' यह व्यवहार भी सार्थक होना चाहिये। परन्तु दूसरे प्रकार का व्यवहार सार्थक है ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता। अतः दण्ड में रहने वाली कारणता दण्ड-रूप है और न दण्डत्व-रूप। इसलिये कारणता यह पदार्थन्तर है ऐसा मानना ही उचित है और वह दण्डत्वादि-रूप अवच्छेदकों के भिन्न होने पर भिन्न-भिन्न होती है। कारणताओं का अनुगमक धर्म कारणात्व भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। उसी प्रकार कार्यता और कार्यतात्व भी भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं।[३६]

कुछ नैयायिकों का मत है कि कारणता का नियामक दण्डत्व ही दण्ड में रहने वाली कारणता है।[३७] परन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दण्डत्व जाति होने से निष्प्रतियोगिक है तो वह घटादि-रूप कार्य का प्रतियोगिक कैसे होगा ? इसके विषय में उन नैयायिकों का मत है कारणतात्व से नियमित जाति भी सप्रतियोगिक होती है। जाति स्वरूपतः निष्प्रतियोगिक होती है (क्योंकि वह नित्य होती है)। परन्तु वह किसी धर्म से नियमित होने पर (सन्दर्भ-वशात्) सत्प्रतियोगिक हो जाती है। दूसरा प्रश्न यह

उठता है कि यदि कारणता और दण्डत्व में अभेद है तो फिर उनमें अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव कैसे हो सकता है ? दण्ड की कारणता दण्डत्व से अवच्छिन्न होती है यह सर्वानुभवसिद्ध है। इस विषय में भी उन नैयायिकों का उत्तर यह है कि दण्डत्व में स्वरूपतः अवच्छेदकता है और उसी से कारणता-रूप से अवच्छेद्यता है। अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न रूप से अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होने में कोई आपत्ति नहीं है।[३८]

इस पर कारणता को पदार्थान्तर मानने वालों का कहना है कि सामान्य रूप से कारण के रूप में निश्चित वस्तु में यह किसका कारण है इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। यदि कार्यता का कारणता के लक्षण के अन्तर्गत समावेश किया जाय तो उपरोक्त जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। अतः कारणता का उपर्युक्त अन्यथासिद्धयादि घटित लक्षण करने की अपेक्षा उसे पदार्थान्तर मानना ही उचित है।[३९]

पदार्थान्तर-रूप कारणता कारणतावच्छेदक के भेद से जैसे भिन्न होती है वैसे ही काणतावच्छेदक सम्बन्ध के भेद से भी भिन्न होती है। क्योंकि जिस प्रकार दण्ड चक्र (या चक्र के साथ असम्बन्धित के) रूप में घट का कारण है यह प्रतीति अप्रमा है, उसी प्रकार दण्ड समवाय सम्बन्ध से घट का कारण है यह प्रतीति भी अप्रमा है।[४०]

परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि कारणता अवच्छेदक तथा सम्बन्ध के भेद से भिन्न-भिन्न है तो समवायि, असमवायि और निमित्त कारण में अनुगत कारणता की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसके विषय में उन नैयायिकों का मत यह है कि घटवान् भिन्न-भिन्न होने पर भी घटत्व-रूप से उनका अनुगम तो होता है। उसी प्रकार कारणतायें भिन्न-भिन्न होने पर भी कारणतात्व-रूप अखण्ड-धर्म के एक होने से उनका भी उक्त धर्म के आधार पर अनुगम होता है।[४१]

दूसरा प्रश्न यहाँ यह उपस्थित हो सकता है कि जैसे कारणातावच्छेदक के भेद से कारणता भिन्न-भिन्न होती है उसी प्रकार क्या कार्यतावच्छेदक के भेद से भी भिन्न होती है ? क्योंकि कारणता कार्यता निरूपक होती है। इस विषय में नैयायिकों का उत्तर यह है कि कार्यतावच्छेदक का भेद कारणता के भेद का सर्वत्र नियामक नहीं है। भिन्न-भिन्न धर्मों से नियमित कार्यताप्रतियोगिक एक धर्म तथा एक सम्बन्ध से नियमित कारणता को एक मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं है। सुख की आत्मा में रहने वाली कारणता और दुःख की आत्मा में रहने वाली कारणता को एक मानने में कोई बाधा नहीं है।[४२]

यह भी एक प्रश्न है कि कारणता कार्यता-प्रतियोगिक होती है इसके विषय में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि 'पट के लिये तन्तु कारण हैं, कार्य-मात्र के लिये नहीं' यह प्रत्यय ही इस विषय का प्रमाण है। परन्तु इस पर यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रतीति से पट-प्रतियोगिकत्व प्रतीत होता है, कार्य (मात्र) प्रतियोगिकत्व नहीं ऐसा कह सकते है। क्योंकि कार्यता का उल्लेख न होने पर भी समवाय सम्बन्ध से पट के लिये तादात्म्य सम्बन्ध से तन्तु कारण हैं ऐसा कहने से ही कार्यता-प्रतियोगिकत्व (तन्तु) कारण में सिद्ध होता है।[४३]

कारणता को अतिरिक्त पदार्थ मानने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि दण्डत्व में

घट-नियतपूर्ववृत्तितानवच्छेदक का ज्ञान होने पर भी दण्डत्व रूप से दण्ड घट का कारण है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होनी चाहिये। इसका उत्तर यह है कि दण्डत्व रूप से कारणता के ज्ञान के लिये उसमें नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकता का निश्चय कारण है। इस प्रकार की नियत-पूर्ववृत्तितावच्छेदकता का निश्चय न रहने पर उक्त रूप से कारणता का भी निश्चय नहीं होता है।[४४] परन्तु ऐसा भी कहा जा सकता है कि घट-नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकता को ही कारणता नहीं मान सकते। क्योंकि घट-रूप कार्य के उपस्थित न होने पर भी 'दण्ड कारण है' या 'दण्ड कारण नहीं है' यह प्रत्यय होते हैं ऐसा अनुभव है।[४५]

कारणता के समान कारणतावच्छेदकता भी अतिरिक्त पदार्थ है, या स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। "सम्भवति लघौ धर्मे गुरौ तदभावात्" इस सामान्य नियम के आधार पर प्रमेय दण्डत्व घट की कारणता का अवच्छेदक नहीं है। उसी प्रकार व्याप्य-धर्म यदि कारणतावच्छेदक हो सकता है तो व्यापकधर्म कारणतावच्छेदक नहीं होता। दण्डत्व को घट कारणता का अवच्छेदक मानने में कोई बाधा न हो तो द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व कारणावच्छेदक नहीं हो सकते।[४६]

फलानुपधायक (फल को उत्पन्न न करने वाले) में भी कारणता नहीं रहती है। क्योंकि फलानुपधायक को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। फलानुपधायक को भी यदि कारण मानें तो 'अरण्यस्थ दण्ड घट को उत्पन्न नहीं करता है' यह प्रश्न अप्रमा होने लगेगा। जननयोग्यत्व ही कारणत्व है। कारणता का ज्ञान प्रत्यक्ष स्थल में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है। घट की कारणता का दण्डविषयक ज्ञान होने के लिये दण्ड और घट में होनेवाले अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान अपेक्षित होता है। दण्ड रहने पर घट उत्पन्न होता है, दण्ड न रहने पर घट उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान रहने पर ही दण्ड में घट की कारणता का ज्ञान उत्पन्न होता है।[४७]

कारणता को पदार्थान्तर मानने में एक तर्क यह भी है कि यदि कारणता को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानेंगे तो 'स्वर्गकामो यजेत्' यह इष्ट-साधनता-बोधक विधिवाक्य अप्रमाण हो जायेगा। क्योंकि स्वर्गाव्यवहितपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक अन्यथासिद्ध-निरूपक धर्म अप्रसिद्ध है। विजातीय स्वर्गनियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक अन्यथासिद्ध-निरूपक धर्म अप्रसिद्ध है। विजातीय स्वर्गनियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक अश्वमेधत्वादि होने पर भी स्वर्ग में रहने वाला वैजात्य पूर्व में उपस्थित न होने से उसका ज्ञान भी सम्भव नहीं है। उसके बिना विजातीय स्वर्गत्वावच्छिन्न नियतपूर्ववृत्तिता का ज्ञान भी सम्भव नहीं होगा। अतः उक्त विधिवाक्य अप्रमाण होगा।[४८]

कारणता के समान कार्यता भी स्वतन्त्र पदार्थ है यह कार्यता के वर्णन के प्रसंग में बतलाया जा चुका है। इस प्रकार की कारणता नैयायिकों के मतानुसार समवायि-कारणता, असमवायि कारणता और निमित्त कारणता भेद से तीन प्रकार की होती है। उनकी चर्चा अग्रिम अध्याय में की जायेगी।

पिछले अध्याय में यह बतलाया गया था कि कारणता नव्य-न्याय में तीन प्रकार की स्वीकार की गयी है समवायिकारणता, असमवायिकारणता तथा निमित्त-कारणता

कतिपय अन्य दर्शनों में दो ही कारण स्वीकार किये गये हैं- उपादान कारण (समवायि कारण) तथा निमित्त कारण। परन्तु नैयायिकों ने समवायि कारण और निमित्त कारण से भिन्न एक और कारण असमवायि कारण के रूप में स्वीकार किया है। असमवायि कारण को पृथक् कारण के रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है इसकी चर्चा हम असमवायि कारणता के विवेचन के अवसर पर करेंगे।

समवायि कारण को उपादान कारण के रूप में प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत समवायि कारण तथा अन्य दार्शनिकों के द्वारा स्वीकार किया हुआ उपादान कारण यह एक ही है या उनमें कुछ भेद है इसकी चर्चा यथास्थान पर इसी अध्याय में आगे की जायगी।

जहाँ समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसे समवायि कारण कहते हैं। जैसे, वस्त्र समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में उत्पन्न होता है। अतः तन्तु वस्त्र के समवायि कारण होते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि नैयायिकों के अनुसार अवयव और अवयवी में समवाय सम्बन्ध होता है। (समवाय सम्बन्ध के विषय में जानने के लिये देखिये न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, समवाय प्रकरण) अवयवी की उत्पत्ति अवयवों के मिलने से होती है। अतः अवयव अवयवी के समवायि कारण होते हैं। अवयव अनन्यथासिद्ध नियत पूर्ववृत्ति होने से कारणता अन्य कारणों से भिन्न प्रकार की होती है। उदाहरण के लिये, वस्त्र के लिये तन्तु, तन्तुवाय, करघा इत्यादि सभी कारण हैं। परन्तु उन सब में रहने वाली कारणता का स्वरूप एक जैसा नहीं है। कारणता की भिन्न-रूपता के आधार पर नैयायिकों ने कारण के उपर्युक्त तीन प्रकार स्वीकार किये हैं।

समवाय सम्बन्ध से जो कार्य जहाँ उत्पन्न होता है वह वस्तु उस कार्य के लिये समवायि कारण है ऐसा मानने पर घड़े का अर्धभाग (कपाल-प्राचीन काल में घडे के दो अर्धभाग पहले बना कर उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ कर घड़ा बनाया करते थे। इसको ध्यान में लेते हुए घट के कपाल याने अर्धभाग की बात आती है।) घट के लिये द्रव्य के रूप में समवायि कारण मानना पड़ेगा। कपाल घट के लिये कपाल के रूप में समवायि कारण हैं, द्रव्य के रूप में नहीं। अतः यह कहना पड़ेगा कि जिस स्वरूप से युक्त जो वस्तु अपनी कारणता के नियामक धर्म से युक्त वस्तु में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है उस स्वरूप से युक्त पदार्थ के लिये उस स्वरूप से नियमित वस्तु समवायि कारण होती है।[४१] उदाहरण के लिये, घटत्व स्वरूप से युक्त घट वस्तु अपने कारण (कपाल) के स्वरूप कपालत्व से युक्त में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। अतः घटत्व से युक्त वस्तु के लिये कपालत्व धर्म से युक्त कपाल-वस्तु कारण होती है। कपाल द्रव्यत्व से युक्त वस्तु होने पर भी उस रूप में घट के कारण नहीं हैं। अन्य पदार्थों का भी वह (द्रव्यत्व) रूप होने से ऐसे अन्य पदार्थ भी घट के कारण हैं ऐसा मानना पड़ेगा। अतः कपाल कपालत्व से युक्त-स्वरूप होने से ही घट का कारण है। इसी बात को गदाधर ने इस प्रकार परिकृष्त किया है। समवाय सम्बन्ध से नियमित कार्यता जिसका प्रतियोगी (निरूपक) है ऐसी तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित होने वाली कारणता

ही समवायि कारणता है।[५०]

इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ जहाँ समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वहाँ वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से रहने वाली वस्तु समवायि कारण होती है। समवाय सम्बन्ध से कार्य जिस द्रव्य में उत्पन्न होता है वहाँ उस द्रव्य का उसी द्रव्य के साथ तादात्म्य होने से द्रव्य वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। सभी कार्य समवाय सम्बन्ध से किसी न किसी द्रव्य में उत्पन्न होते हैं। अतः कार्य का कोई भी रूप हो, समवायि कारण द्रव्य ही होता है। इसलिये कहा गया है- ''समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्''।[५१]

अतः जहाँ कार्यता का नियामक सम्बन्ध समवाय हो और कारणता का नियामक सम्बन्ध तादात्म्य हो वह समवायि कारण होता है।[५२] यद्यपि प्रत्यक्ष के लिये उसका विषय भी तादात्म्य सम्बन्ध से उसका कारण होता है, परन्तु वह उसका समवायि कारण नहीं है। क्योंकि विषय में रहने वाली कारणता समवाय सम्बन्ध से नियमित कार्यता से निरूपित नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष-रूप कोई विषय में समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं है। प्रत्यक्ष और विषय का सम्बन्ध विषय-विषयीभाव माना जाता है। उसी प्रकार इच्छा आदि गुणों के लिये ज्ञान समवायि कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान में रहने वाली इच्छा की कारणता तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित नहीं है। सिद्धान्तः वह माना जाता है कि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उस वस्तु के विषय में इच्छा उत्पन्न होती है। जिस वस्तु का हमें किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है उसके प्रति हमारी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। अतः इच्छा और ज्ञान में कार्य-कारण-भाव तो है, तथापि उनमें कार्य समवायि कारण-भाव नहीं है। क्योंकि ज्ञान में समवाय सम्बन्ध से इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इच्छा जिस आत्मा (जीव) में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है वहाँ ज्ञान तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता है। ज्ञान और जीव का तादात्म्य नहीं है। और ज्ञान इच्छा का समवायि कारण नहीं है।

उस धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) का समवायी होते हुए, भी जो कारण हो वह समवायि कारण है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ''जन्यानां जनकः कालः'' इस नियम के अनुसार सभी जन्य वस्तुओं का कारण काल है। वह समवायि होने से जन्यमात्र का कारण होने से समवायि कारण हो जायगा। अतः उपर्युक्त परिभाषा समीचीन नहीं है।[५३] क्योंकि काल जन्यमात्र का निमित्त कारण मात्र है, समवायि कारण नहीं है। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि काल को जन्य मात्र वस्तु का समवायि कारण मानने में क्या आपत्ति है ? इसका उत्तर यह हो सकता है कि नैयायिकों के मतानुसार समवायि कारण या असमवायि कारण के नष्ट होने पर कार्य का नाश होता है। जैसे, तन्तुओं या तन्तु-संयोगों के नष्ट होने पर कार्य पट का नाश होता है। परन्तु काल नित्य होने से काल के नाश से जन्य वस्तु मात्र का नाश हो जाना चाहिये यह आपत्ति नहीं की जा सकती है। परन्तु काल समवायि कारण मानने पर असमवायि कारण के लक्षण के अनुसार काल-संयोग को असमवायि कारण मानना पड़ेगा। तथापि काल-संयोग वस्तु के नष्ट

हुए बिना नष्ट हो सकता है। अतः समवायि कारण का नाश या असमवायि कारण का नाश वस्तु का नाशक न होने से वस्तुमात्र का नाशक भी नहीं होगा। अतः काल को जन्य वस्तुमात्र का समवायि कारण नहीं मान सकते।

जन्य भाव पदार्थ के लिये गुणवान् के रूप में द्रव्य को समवायि कारण नहीं मान सकते क्योंकि रूपादि पदार्थों की उत्पत्ति के पूर्व गुणविशिष्ट पदार्थ न होने से रूपादि पदार्थों की उत्पत्ति ही सम्भव न होगी। अतः द्रव्य को द्रव्य के रूप में ही समवायि कारण मानना उचित है। यही कारण है कि विश्वनाथादि नैयायिकों ने समवायि कारणता के नियामक के रूप में द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि घट के लिये कपाल समवायि कारण है या वस्त्र के लिये धागा समवायि कारण है इस प्रकार के विशेष उदाहरणों के आधार पर उस वस्तु-विशेष की समवायि कारणता मानना ही उचित है। लेकिन सामान्य समवायि कारणता स्वीकार करने में क्या आधार है ? सामान्य समवायि कारणता स्वीकार करने में कोई आधार न होने से भिन्न भिन्न विशेष समवायि कारणताएँ मानें, सामान्य समवायि कारणता मानना उचित नहीं है। परन्तु यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि सामान्य समवायि कारणता न मानने पर स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि वर्ण स्वाश्रय में विद्यमान अन्य गुणों में होने से कारण-गुण-पूर्वक उत्पन्न होने वाले नीलादि वर्ण उन गुणों में भी उत्पन्न होने चाहिये। अतः द्रव्यत्व धर्म से नियमित सामान्य समवायि कारणता मानना आवश्यक है। नीलादि वर्ण में द्रव्यत्व न होने से द्रव्यत्व धर्म से नियमित होने वाली समवायि कारणता उनमें नहीं है।

उपादान कारण और समवायि कारण

उपादान कारण और समवायि कारण में न्याय की दृष्टि से भेद नहीं है। आरंभवादी नैयायिक परमाणुओं को उपादान कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। परमाणुओं से द्वयणुक, द्वयणुक से त्रसरेणु (त्र्यणुक) इस क्रम से घटादि पदार्थों की उनके मतानुसार उत्पत्ति होती है। जो परमाणु द्वयणुक के समवायि कारण हैं वे ही उपादान कारण भी है। परन्तु वेदान्तियों की उपादान कारण की व्याख्या भिन्न है। वेदान्त मत में कार्य और कारण में अभेद सम्बन्ध है, जबकि न्याय मत में उनमें समवाय सम्बन्ध है। वेदान्त मत में समवाय सम्बन्ध के लिये कोई स्थान नहीं है।[५४] अतः नैयायिकों की समवायि कारण की व्याख्या के अनुसार वेदान्तियों का उपादान कारण नैयायिकों का समवायि कारण नहीं हो सकता।

वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार जो कार्य जिस द्रव्य में विलीन होता है वह द्रव्य उस कार्य का उपादान कारण है। उपादान कारण सर्वदा कार्य में अनुस्यूत रहता है। वेदान्त के मतानुसार ''कार्यान्वितं कारणं उपादानकारणम्''। अर्थात् कार्य के साथ तादात्म्यापन्न कारण उपादान कारण है। मिट्टी से निर्मित घट का मिट्टी के साथ तादात्म्य होता है, इसलिये मृत्तिका घट का उपादान कारण होता है। हम मृत्तिका को घट से अलग नहीं कर सकते। इसीलिये कहा गया है ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव

सत्यम्''। मृत्तिका से भिन्न रूप में घट, शरावादि पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार तन्तु(धागा) वस्त्र का उपादान कारण हैं क्योंकि तन्तुओं से भिन्न वस्त्र कुछ नहीं है। वेदान्तियों के मत में वस्त्र तन्तुओं का अवस्थान्तर है या घट मृत्तिका का अवस्थान्तर है, जबकि नैयायिक मानते हैं कि वस्त्र तन्तुओं से समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होने वाला भिन्न पदार्थ है। अतः तन्तु वस्त्र के समवायि कारण हैं।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सर्व प्रपंच का उपादान कारण है, समवायि कारण नहीं क्योंकि वेदान्तियों के मतानुसार जो जिससे उत्पन्न हो कर जिसमें विलीन होता है वह उसका उपादना कारण होता है। सर्व प्रपंच ब्रह्म से प्रादुर्भूत हो कर ब्रह्म में लीन होता है। अतः वह (ब्रह्म) उसका (प्रपंच का) उपादान कारण है। नैयायिक यह नहीं मानते कि पदार्थ का विनाश होने पर पदार्थ सर्वदा अपने कारण में लीन हो जाता है। एक वस्तु का विनाश होने पर दूसरे वस्तु की भी उत्पत्ति हो सकती है। जैसै, पट के जलने पर राख हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि नैयायिकों के समवायि कारण और वेदान्तियों के उपादान कारण की व्याख्या में पर्याप्त भेद है।

वेदान्त मत तथा न्याय मत में उपादन कारण के सम्बन्ध में एक अन्तर और भी स्पष्ट है कि न्याय मत में उपादान कारण और कार्य में किसी भी प्रकार का अभेद नहीं है, परन्तु वेदान्त मत में कार्य और कारण में अनन्यत्व होते हुए भी कार्य कारणात्मक है, परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है।[५५]

सांख्य मतानुसार भी उपादान कारण समवायि कारण से भिन्न है। सांख्य मत में भी उपादान और उपादेय में तादात्म्य ही स्वीकार किया गया है। समवाय नामक सम्बन्ध सांख्यों को भी स्वीकारार्ह नहीं है। वे भी कार्य और कारण में अभेद मानते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य मतानुसार कार्य और कारण में अभेद सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण उपस्थित किये है।[५६] इससे स्पष्ट है कि सांख्यों की उपादान कारणता की संकल्पना न्याय की समवायि कारण की संकल्पना से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र ने कार्य और कारण के बीच अभेद सिद्ध करने के लिये चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। तन्तु पट से भिन्न नहीं हैं क्योंकि पट तन्तु-धर्म है। अर्थात्, तन्तुओं का ही अवस्था-विशेष है। यहाँ यह व्याप्ति प्रदर्शित की गयी है कि जो वस्तु जिससे भिन्न होती है वह उसका धर्म नहीं होती। जैसे, गौ अश्व से भिन्न होने से उसका धर्म नहीं हो सकती। पट तन्तुओं का धर्म है। इसलिये वह उनसे भिन्न नहीं है। सांख्य मानते हैं कि जहाँ उपादानो-पादेयभाव होता है वहाँ अभेद होता है। तन्तु और पट में उपादानोपादेयभाव है। इसलिये उनमें अभेद है। जिनमें भिन्नता होती है उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता है, जैसे घट और पट में।

संयोग और अप्राप्ति न होने से भी तन्तु और पट में भेद नहीं है। भिन्नता होने से ही कुण्ड और बैरफल में संयोग देखा जाता है, तथा अप्राप्ति होने से हिमालय और विन्ध्याचल में भेद होता है। परन्तु तन्तुओं और पट में बैरफल और कुण्ड की तरह संयोग भी नहीं, न हिमाचल विन्ध्याचल की तरह अप्राप्ति भी नहीं है। अतः दोनों में अभेद है। पट और तन्तुओं के गुरूत्व में भी समानता होने से उनमें अभेद सिद्ध होता है। अतः सांख्य

उपादान कारण और कार्य में अभेद सम्बन्ध मानते हैं। अतः उपादान कारण की सांख्य संकल्पना नैयायिकों की समवायि कारणता की संकल्पना से नितान्त भिन्न है।

पूर्व में बतलाया गया था कि कार्यमात्र के लिये तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य कारण होने से समवायि कारणता द्रव्यत्व रूपी धर्म से नियमित हो कर समवायि कारणता सामान्य के रूप में जानी जाती है। उपर्युक्त सामान्य कार्यकारणभाव के स्वीकार न करने पर नील रूप में नील रूप की उत्पत्ति क्यों नहीं होती यह समस्या उत्पन्न होती है।

दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त कार्यकारणभाव मानने में एक कठिनाई है। कार्य भावाभाव साधारण होता है। भाव कार्य कभी भी असमवेत नहीं होता है, परन्तु अभाव कार्य असमवेत होता है। अतः कार्यमात्र के लिये द्रव्य समवायि कारण है यह मानना उचित नहीं है। अभाव (ध्वंस) भी जन्य होने से कार्य है, परन्तु उसका कोई समवायि कारण नहीं होता है। अतः कार्यमात्र के लिये द्रव्य कारण है यह कार्य-कारण-भाव समीचीन न होने से उसके आधार पर द्रव्यत्व से नियमित एक सामान्य समवायि कारणता सिद्ध नहीं होती है। यही कारण है कि मुक्तावलीकार ने कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति''[५७] कहा है। संयोग या विभाग के लिये द्रव्य को द्रव्यत्वेन ही कारण मानना आवश्यक है। अन्यथा कार्यमात्र में रहने वाली जाति समवाय से नियमित कार्यता की नियामक होती है इस नियम की उपपत्ति सम्भव नहीं होगी।

संयोग या विभाग की समवायि कारणता के अवच्छेदक के रूप में जैसे द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है, उसी प्रकार गन्धसमवायिकारणता के अवच्छेदकत्व के रूप में पृथ्वीत्व, तथा स्नेहसमवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में जलत्व, और उसी प्रकार अन्य तेजस्त्व, वायुत्व आदि जातियों की सिद्धि होती है।

समवायि कारणता को स्वीकार किये बिना उपर्युक्त जातियों की सिद्धि सम्भव नहीं है। विभिन्न प्रकार के समवायि कारणों के विषय में नैयायिकों में जो विवाद है उसकी चर्चा आगे की जायेगी।

ऊपर कहा गया था कि विभिन्न प्रकार के समवायि कारणों के विषय में विवाद की चर्चा आगे की जायगी। संयोग और विभाग के लिये द्रव्यत्व से विशिष्ट द्रव्य कारण होने से द्रव्य में कारणता का नियामक द्रव्यत्व जाति होती है। परन्तु जन्य द्रव्य मात्र के लिये स्पर्शवान् समवायि कारण है ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं।[५८] परन्तु यह मत ठीक नहीं है। स्पर्शवान् को समवायि कारण मानने में गौरव है। क्योंकि स्पर्शवान् को कारण मानने पर कारणता का अवच्छेदक (नियामक) स्पर्शवत्व होगा जो गुरूभूत धर्म है। दूसरी बात यह है कि स्पर्श उद्भूत (व्यक्त) और (अव्यक्त) भेद से दो प्रकार का होता है ऐसा कुछ नैयायिक मानते हैं।[५९] परन्तु अनुद्भूत स्पर्श स्वीकार करने में कोई प्रमाण नही है। ऐसी स्थिति में पिशाच के अवयवों में उद्भूत स्पर्श न होने से वे (अवयव) जन्य द्रव्य के आरम्भक (उत्पादक) नहीं होंगे। अतः जन्य द्रव्य के लिये स्पर्शवान् (वस्तु) को समवायि कारण नहीं मान सकते।

उसी प्रकार वेग और स्पन्द के लिये कारण होने वाले मूर्त द्रव्य में रहने वाली जो मूर्तत्व जाति है उस जाति सेयुक्त द्रव्य भी जन्य द्रव्य मात्र का समवायि कारण मानने पर मन से भी जन्यद्रव्य की उत्पत्ति होने लगेगी। क्योंकि मन भी मूर्त द्रव्य माना गया है। यहाँ यह कहना उचित नहीं होगा कि मन में जन्य द्रव्य की समवायि कारणता तो है, परन्तु सहकारि कारण के न होने से, मन से किसी जन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि नित्य वस्तु स्वरूप-योग्य होने पर वहाँ फलावश्येभाव होता है। अतः जन्यद्रव्य के लिये पृथ्वी इत्यादि चार द्रव्यों को ही समवायि कारण मानना उचित है। पृथ्वी इत्यादि चार द्रव्य ही द्रव्यारंभक अर्थात् द्रव्य के समवायि कारण होते हैं। उनमें रहने वाली भिन्न प्रकार की जाति ही समवायि कारणता की नियामक होती है। उसी को कारणता के अवच्छेदक के रूप में उक्त चार द्रव्यों में एक भिन्न जाति सिद्ध होती है।

परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि जन्यद्रव्य की क्षमवायि कारणता के नियामक धर्म के रूप में पृथिव्यादि चार पदार्थों में रहने वाली एक स्वतन्त्र जाति सिद्ध होती है तो उसी न्याय से जन्य संस्कार की समवायि कारणता के नियामक के रूप में आत्मा में भी अ-विभु में रहने वाली एक अतिरिक्त जाति सिद्ध होगी।[६०] उस जाति का सांकर्य सुख की समवायि कारणता के नियामक के रूप में सिद्ध आत्मत्व जाति के साथ नहीं होगा। क्योंकि वह जाति ईश्वर (परमात्मा) में नहीं है। तथापि यह प्रतिपादन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वेग, स्थिति-स्थापक और भावना ये जो संस्कार के तीन भेद हैं उनमें अनुगत रूप से विद्यमान कोई संस्कारत्व नामक जाति है इसके विषय में कोई प्रमाण नहीं है। और उस संस्कारत्व से विशिष्ट की समवायि कारणता के नियामक के रूप में किसी स्वतन्त्र जाति को सिद्ध करना काक-दन्त-दर्शन के समान है। अनुगत धर्म से नियमित कार्यता से निरूपित कारणता ही जाति की साधक होती है।[६१]

मूर्त द्रव्य को मूर्त द्रव्य के रूप में भी द्रव्य का समवायि कारण माना जा सकता है। मन में मूर्तत्व होने पर भी विलक्षण संयोग के न रहने से उससे किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है। नित्य स्वरूप-योग्य होने पर उसमें फलावश्यंभाविता रहती है इस नियम को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है।[६२] परन्तु ऐसा मानने पर प्रश्न यह होता है कि स्पन्द के लिये भी द्रव्य को द्रव्य के रूप में ही कारण मानेंगे, मूर्त के रूप में नहीं, तो मूर्तत्व जाति जो स्पन्द की समवायि कारणता के नियामक के रूप में सिद्ध होती है वह अब सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदिः द्रव्यत्वेन स्पन्द की समवायि कारणता मानें तो गगन में स्पन्द क्यों नहीं उत्पन्न होता है इस प्रश्न का समाधान भी उपर्युक्त सहकारि के न रहने से नहीं उत्पन्न होता है यह कह कर भी किया जा सकता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। स्पन्द के लिये कारण होने वाला दण्ड आदि का आघात गगन में भी है। अतः वहाँ सहकारी का अभाव है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि दण्ड का अभिघात जो शब्द का असमवायि कारण है आकाश में है और उसके बिना आकाश में दण्डाभिघात से होने वाले विलक्षण शब्द की उत्पत्ति संभव नहीं होगी।

यदि शब्द के लिये असमवायि कारण होने वाले संयोग को अभिघात मानने में कोई प्रमाण नहीं है तथा शब्द भेरी और दण्ड के अभिघात-रूप निमित्त कारण से उत्पन्न होता है, अतः स्पन्द का असमवायि कारण अभिघात न होने से गगन में स्पन्द उत्पन्न नहीं होता है ऐसा कहें तब भी स्पन्द के लिये द्रव्यत्वेन द्रव्य समवायि कारण नहीं है, अपितु मूर्तत्वेन ही मूर्तद्रव्य समवायि कारण है।

नील रूप, तिक्त रस, तथा गन्ध के लिये पृथ्वी ही समवायि कारण है। उसी कारणतावच्छेदक के रूप में पृथ्वीत्व जाति सिद्ध होती है। या मूर्तद्रव्य को समवायि कारण मानने पर जल में गन्ध की, तेज में तिक्त रस की तथा वायु में नील रूप की उत्पत्ति होने लगेगी। अतः पृथ्वीत्वेन पृथ्वी ही गन्धादि का समवायि कारण होती है।

यह कहना उचित नहीं होगा कि पाकज गन्ध (पृथ्वी में अग्नि-संयोग से पाकज गन्ध की उत्पत्ति मानी गयी है।) के लिए विशेष प्रकार का तेजःसंयोग तथा अपाकज गन्ध के लिये स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से गन्ध कारण है। वायु में दोनों विशेष कारण विद्यमान न होने से वायु में गन्धादि की उत्पत्ति नहीं होती है। क्योंकि विलक्षण प्रकार का तेज का संयोग पाकज गन्ध (अग्निसंयोग से उत्पन्न गन्ध) पाकज रस के लिये असमवायि कारण होने से वह विलक्षण तेज का संयोग तेज में भी रहता है, क्योंकि संयोग दो वस्तुओं में होता है और वहाँ पर भी गन्ध की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। अतः पृथ्वीत्वेन पृथ्वी को ही पाकज गन्ध और पाकज रस का समवायि कारण मानना आवश्यक है। यदि तेज जिसका प्रतियोगी है ऐसे विलक्षण संयोग को पाकज गन्धादि का कारण मानें तो प्रश्न उपस्थित होता है कि विलक्षण संयोगत्व विशिष्ट तेज प्रतियोगी क्यों कारण नहीं है। दोनों में से एक में कारणता स्वीकार करने के लिये कोई युक्ति न होने से विलक्षण संयोगत्व विशिष्ट तेज-प्रतियोगी तथा तेजःप्रतियोगीत्व विशिष्ट विलक्षण संयोग इन दोनों को ही पाकज गन्धादि का असमवायि कारण मानना पड़ेगा। और इस प्रकार दोनों को कारण मानने में गौरव नामक दोष होता है।[६३]

यहाँ यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि पाक से भिन्न विलक्षण संयोग सम्बन्ध से तेज ही पाकज गन्धादि का निमित्त कारण है। तेज में उक्त सम्बन्ध से तेज न होने से तेज में पाकज गन्धादि की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि पाक होने के पूर्व में गन्धादि में कोई वैलक्षण्य नहीं है। पाक होने के बाद ही पाकज गन्ध इतर गन्ध से विलक्षण सिद्ध होता है। अतः विलक्षण संयोग सम्बन्ध से तेज को कारण मानना संभव नहीं है। इसलिये उक्त सम्बन्ध से पृथ्वी को ही गन्ध और नील रूपादि का समवायि कारण मानना उचित है।

यद्यपि नींबू और नीम के जल (रस) में खट्टापन तथा कड़ुआपन उपलब्ध होता है तथापि आम्ल रस तथा कड़ुआपन के लिये जल को समवायि कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि नींबू के जल में नींबू का स्वाद ही प्रतीत होता हैं। वह जल का स्वाद नहीं है। अन्यथा चम्मच भर नींबू के रस में घड़ा भर जल मिलाने पर जो महाजल बनता है उसमें कारण-गुण के क्रम से आम्ल रस की उत्पत्ति होने पर अनुभव सबको होना

चाहिये। परन्तु ऐसा घटित नहीं होता है। अतः आम्लादि रस (स्वाद) की समवायि कारणता पृथ्वी द्रव्य में ही सिद्ध होती है।

निबिड संयोग के लिये जिस प्रकार पृथ्वी ही समवायि कारण होती है उसी प्रकार कोमल और कठिन स्पर्श के लिये भी पृथ्वी ही समवायि कारण है। तथा अनुष्णा-शीतस्पर्श सामान्य के लिये पृथ्वी समवायि कारण नहीं है, अपितु पार्थिव स्पर्श के लिये तथा वायवीय स्पर्श के लिये वायु पृथक् रूप से समवायि कारण है।[६४]

तथापि कोमल और कठिन ये संयोग के भेद हैं ऐसा मानना उचित नहीं है। कोमल और कठिन ये स्पर्श के ही भेद हैं। उन्हें संयोग के प्रकार मानने पर त्वगिन्द्रिय के समान चक्षुरिन्द्रिय से भी उनका प्रत्यक्ष होने लगेगा।

स्वर्ण तथा पद्मराग (पन्ना) के लिये उनके रूप-वाले विलक्षण पदार्थ के रूप में पृथ्वी कारण है। पृथ्वी आदि के रूप में पृथ्वी आदि कारण नहीं हैं। क्योंकि सामान्य और विशेष पदार्थ एक ही धर्म-विशिष्ट से उत्पन्न नहीं होते हैं। परन्तु कुछ लोगों का कथन है कि स्वर्णादि की समवायि कारणता भी पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों से नियमित मानने में कोई बाधा नहीं है। सामान्य और विशेष में एकधर्मावच्छिन्न प्रयोज्यता नहीं रहती है। अर्थात्, सामान्य और विशेष पदार्थ के लिये एक ही धर्म से युक्त वस्तु कारण नहीं होती है यह गाथा मात्र है। इसमें कोई युक्ति नहीं है। रूप विशेष के लिये समवायि कारण में रहने वाला रूप-विशेष निमित्त कारण मानने पर सर्वत्र रूप-विशेष की उत्पत्ति नहीं होती है।[६५]

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि स्वर्णादि के रूप के लिये स्वर्णत्व जाति-विशिष्ट को कारण मानें तो स्वर्ण के उत्पादक परमाणु में रूप की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि स्वर्ण के परमाणु में स्वर्णत्व जाति नहीं रहती है। द्रव्यत्व व्याप्य व्याप्य-जाति परमाणु में नहीं रहती है। द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जो पृथ्वीत्वादि जातियाँ हैं वे ही नित्य पदार्थ में रहती हैं इस आपत्ति को इष्ट नहीं माना जा सकता। क्योंकि स्वर्ण के द्व्यणुक में रूप उत्पत्ति के लिये उसके परमाणु में रूप का होना आवश्यक है। अतः स्वर्णादि के रूप के लिये तेजस्त्वेन तेज को तथा पद्म-रागादि के रूप के लिये पृथ्वीत्वेन या द्रव्यत्वेन पृथ्वी या द्रव्य को कारण मानना आवश्यक है। परन्तु उक्त विलक्षण रूप के लिये द्रव्य या पृथ्वी आदि को कारण मानने पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पृथ्वीत्व तो घट में भी है। तो वहाँ उक्त विलक्षण रूप क्यों उत्पन्न नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त विलक्षण रूप के उक्त विलक्षणरूप (कारण का) तथा विलक्षण अग्नि-संयोग (पाक) कारण है यह उक्त रूप की विशेष सामग्री केअन्तर्गत आते हैं। अतः घटादि में उक्त विशेष के न रहने से विलक्षण प्रकार के (स्वर्णादि के) रूप की उत्पत्ति नहीं होती है।[६६]

जल के विलक्षण माधुर्य तथा शीतस्पर्श के लिये सांसिद्धिक द्रव्यत्व के आश्रय के रूप में जल समवायि कारण है, तथा स्नेह गुण के लिये जन्य जल के रूप में जल समवायि कारण है। जल में माधुर्य अनुभव से अप्राप्य है ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि हरीतकी (हरड़ा) के भक्षण से उसका माधुर्य अभिव्यक्त होता है। हरीतकी में रहने वाले

माधुर्य का प्रकर्ष जल-संयोग से व्यक्त होता है ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। क्योंकि हरीतकी और आमले में कषाय (कसैला) स्वाद सर्वानुभव-सिद्ध है और वहाँ माधुर्य का होना संभव प्रतीत नहीं होता। 'षड्रसा हरीतकी' यह आयुर्वेदीय व्यवहार षड्रस के उत्पादक के रूप में हरीतकी स्वीकार करने से भी संभव है। हरीतकी में ही जल तथा शरीर की उष्णता के संसर्ग के कषाय रस का विनाश हो कर मधुर रस की उत्पत्ति होती है ऐसा क्यों न मानें ? ऐसा इसलिये नहीं मान सकते क्योंकि कषाय रस के जिन खण्डों में दांत से उन्हें चबाने पर जल के संपर्क से माधुर्य प्रतीत होता है उन्हीं में बाद में जल के सम्पर्क के बिना भी मधुर रसास्वाद प्रतीत होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यह भी नहीं मान सकते कि पाक के उत्पन्न कषाय्य द्रव्य (हरीतकी) का मधुर रस जल से ही अभिव्यक्त होता है। क्योंकि उस समय हरीतकी में विद्यमान कषाय रस का आस्वादन क्यों नहीं होता है जब प्रत्यक्ष कारणीभूत कषाय रस वहाँ विद्यमान है ? यदि कषाय रस वहाँ नहीं है तो बाद में जब जल का सम्पर्क नहीं है उस समय भी कषाय रस की प्रतीति नहीं होती चाहिये। अतः जल में ही माधुर्य की कल्पना करना उचित है, जो कि हरीतकी के सम्पर्क से अभिव्यक्त होता है।

घिसे हुए चन्दन में विलक्षण शीतस्पर्श का अनुभव होता है। उस शीत स्पर्श का समवायि कारण कौन है ? जल ही समवायि कारण है। जिस जलमें चन्दन घिसा जाता है वही जल उस शीत स्पर्श का समवायि कारण है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त जल के शीतस्पर्श की अपेक्षा विलक्षण अधिक शीतस्पर्श चन्दन में अनुभूत होता है। अतः वह जल का शीत स्पर्श है ऐसा नहीं मान सकते। यह भी स्वीकार करना कठिन है कि चन्दन के घिसे जाने पर चन्दन से बाहर आये भिन्न जल का विलक्षण शीतस्पर्श वहाँ उपलब्ध होता है। जलान्तर की कल्पना करने की अपेक्षा चन्दन को ही शीतस्पर्श का समवायि कारण मानने में लाघव है। यह कहना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि जिस जल में चन्दन घिसा जाता है उसी में रहनेवाले शीतस्पर्श का प्रकर्ष चन्दन के द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्योंकि इसके विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि चन्दन का ही शैत्य घिसे जाने वाले जल के संयोग से अभिव्यक्त होता है।

परन्तु उपर्युक्त युक्तिवाद कोई मायने नहीं रखता।[६७] क्योंकि चन्दन में उलपब्ध अनुष्णाशीत स्पर्श के अनुरोध से उसी चन्दन के घिसे जाने पर बनने वाले द्रवीभूत चन्दन में भी वही स्पर्श होना चाहिये। याने उसमें शीतस्पर्श का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि अवयवी में शैत्य के लिये अवयव का शैत्य आवश्यक है। "कारणगुण कार्यगुणान् आरभन्ते" यह नियम है। अतः घिसे हुए चन्दनमें शैत्य गुण भी आ सकता है जब उसके कारण चन्दन के खण्ड में भी वह गुण हो। पर ऐसा नहीं है। जिस जल में चन्दन घिसा जाता है उसके संपर्क से चन्दन का पूर्व में जो अनुष्णाशीत स्पर्श था वह नष्ट हो कर नया शीत स्पर्श उत्पन्न होता है यह कहना भी महत्त्वहीन है। क्योंकि अनंत स्पर्शो की उत्पत्ति तथा नाश की कल्पना करने की अपेक्षा चन्दन को ही घिसे जाने वाले जल में छिपे शैत्य का अभिव्यञ्जक मानने में ही लाघव है। अतः चन्दन में रहने वाले शीत स्पर्श की समवायि

कारणता उसके अन्दर होने वाले जल में होती है ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है।[६८]

समवायि कारणता के विषय में होने वाले कुछ और मतभेदों की चर्चा आगे की जायगी।

पूर्व में यह कहा गया था कि चन्दन जिस जल में घिसा जाता है जल का सम्पर्क ही चन्दन में जो स्वाभाविक अनुष्णशीत स्पर्श है उसको नष्ट करके विशेष प्रकार के शीतस्पर्श को उत्पन्न करता है। यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि अनन्त स्पर्श तथा उनका विनाश, उनके कारण आदि की कल्पना करने की जगह चन्दन के चूर्ण को ही घर्षकजलमें उत्पन्न होने वाले शीतस्पर्श का अभिव्यञ्जक स्वीकार करने में लाघव है।[६९]

यह नहीं कहा जा सकता कि घर्षक जल में शैत्य-प्रकर्ष रहता है। चन्दन के घर्षण के पूर्व यह जल शीत ही है, शीततर नहीं है, इस स्पार्शन-प्रत्यक्ष की व्याख्या नहीं होगी, क्योंकि चन्दन घिसने के पूर्व शैत्य-प्रकष को अभिव्यक्ति देनेवाले चन्दन का सम्पर्क न होने से उस शीततर स्पर्श के वहाँ रहने पर भी उसका बोध नहीं होता है। पूर्व में जल केवल शीत या शीततर नहीं, इस प्रत्यय को यदि भ्रम माने तो पूर्व में चन्दन के शैत्यातिशय को अभिव्यक्ति देने वाले जल का सम्पर्क न होने से उसमें उक्त शीततर स्पर्श रहते हुए भी ज्ञात नहीं होता है। ऐसा माने तो चन्दन शीत नहीं है किन्तु अनुष्णशीत है, यह प्रत्यय भी भ्रम होगा।

यह कहना भी ठीक नहीं है घर्षक जल पूर्व में शीततर नहीं था। इसी प्रतीति के प्रामाण्य के लिये चन्दन के अन्दर रहनेवाला जल घर्षण से बाहर निकलकर शीततर हो जाता है। क्योंकि ऐसा मानने पर घिसे जाने वाले चन्दन के विषय यह चन्दन शीत नहीं अपितु अनुष्णशीत है यह बुद्धि असत्य हो जाने के भय से जल सम्पर्क से चन्दन का अनुष्णशीत स्पर्श नष्ट होता है, शीत स्पर्श उत्पन्न होता है यह भी मानना उचित होगा। इस प्रकार से कल्पना गौरव दोनों ही मतों में समान रूपसे विद्यमान है।[७०]

सांसिद्धिक द्रवत्व के लिये जल समावायिकारण है।[७१] परन्तु ऐसा मानने पर तैल में सांसिद्धिक द्रवत्व होने तथा वहाँ जलत्व न होने से व्यभिचार दोष कार्यकारण भाव में होता है। ऐसा नहीं कह सकते कि तैल में मालूम पडनेवाली द्रव्य स्वरूपता उसके अन्दर के जल का ही परिणाम है। तैल के अन्दर जल होने का कोई प्रमाण नहीं है। दूध में जल मानना आवश्यक है, नहीं तो दूध में पकने वाले चावल जल जायेंगे। अतः दाह के प्रतिबन्ध के लिये दुग्ध में जल का अस्तित्व मानना आवश्यक है। अन्यथा दुग्ध के समान तैल से भी पकने वाली वस्तु का तैल में रहने वाले जल से प्रतिबन्ध होने से दाह नहीं होना चाहिये। ऐसा नहीं मान सकते कि तैल में मिले हुए जल से भिन्न जल ही दाह का विरोधी होता है, क्योंकि दुग्ध में पकने वाले चावल जलते नहीं हैं, क्योंकि दुग्ध में मिला जल उसका विरोधी है।

परन्तु उपरोक्त कथन युक्ति युक्त नहीं है। तिल के लिये कारणीभूत परमाणुओं से ही तिल के नष्ट होने पर तैल बनता है। उसमें स्वाभाविक द्रवत्व मानने पर उन्हीं परमाणुओं से उत्पन्न तिलों में भी स्वाभाविक द्रवत्व मानना पड़ेगा। यह नहीं कहा जा

सकता कि तिल की उत्पत्ति के पूर्व पाक के द्वारा जिनका द्रवत्व नष्ट हो गया है ऐसे तिल परमाणुओं से दूसरे प्रकार के पाक से जिन में द्रवत्व उत्पन्न हुआ है, तैल उत्पन्न होता है। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है। ऐसी कल्पना करने में कल्पना गौरव दोष है।[७२] दूसरी बात यह है कि साक्षात् या परम्परा से जिसमें पाक का उपयोग नहीं होता है उसेही सांसिद्धिक द्रवत्व कहा जाता है।[७३] पाक का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध होने पर वह सांसिद्धिक द्रवत्व न होकर नैमित्तिक द्रवत्व हो जाता है। इसलिये उक्त प्रकार से उत्पन्न तैल का द्रवत्व सांसिद्धिक द्रवत्व नहीं है। यदि पाक से उत्पन्न द्रवत्व को भी सांसिद्धिक द्रवत्व मानेंतो घृतादि में भी सांसिद्धिक द्रवत्व मानना पड़ेगा। परन्तु पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार से तैल में जल का अंश स्वीकार करेंगे तो तैल से दाह नहीं होना चाहिये, क्योंकि जल दाह का विरोधी है। इसका उत्तर यह है कि स्निग्धतम जल ही दाह-विरोधी होता है। तैल में होने वाला जलांश स्निग्धतम नहीं है, अतः वह दाह विरोधी नहीं है।

इसी प्रकार तेल और घृत में स्नेह होने से समवायिकारणता की नियामक जलत्व जाति उसमें होनी चाहिये ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि तेल या घृत में यदि समवाय सम्बन्ध से स्नेह रहता है ऐसा मानें तो तेल के परमाणुओं से ही उत्पन्न तिल और दधि में भी स्नेह होना चाहिये, जो कि पाक-प्रक्रिया से विनष्ट हुए स्नेह वाले परमाणुओं से तिलादि की उत्पत्ति होती है, और उन्हीं परमाणुओं से तैल उत्पन्न होता है। परन्तु उसके कारण तिलो में स्नेह का अभाव है। उनका यह कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पाक स्नेह और उसके विनाश, दोनों का कारण नहीं हो सकता। उसे दोनों के लिये कारण मानने की कल्पना में गौरव प्रतीत होता है।[७४]

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जन्य भास्वररूप तथा उष्ण स्पर्श के लिये तेज समवायिकारण होता है। निदाघ और ऊष्मा में भी भास्वर और धवलरूप रहता है, परन्तु अनुद्भूत होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। वन्हि के संयोग से जल में भी उष्ण स्पर्श प्रतीत होता है। अतः उष्ण स्पर्श का समवायिकारण जल भी है। केवल तेज नहीं, यह कहना उचित नहीं है। अग्निगत उष्ण स्पर्श ही परम्परा सम्बन्ध से जल में प्रतीत होता है। समवाय सम्बन्ध से जल में उष्ण स्पर्श रहता है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि स्पर्श मात्र के लिये सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से स्पर्श विरोधी होने से उष्ण स्पर्श का विरोधी शीत स्पर्श जल में विद्यमान होने से वहाँ उष्ण स्पर्श की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[७५]

यह कहना कि अग्नि के संयोग से जल का शीतस्पर्श नष्ट होकर नया उष्ण स्पर्श उसमें उत्पन्न होता है समीचीन नहीं है। क्योंकि शीत स्पर्श के विनाश और उष्ण स्पर्श उत्पत्ति की कल्पना गौरवास्पद है।

उष्णस्पर्श और शीतस्पर्श दोनों ही जल के स्वाभाविक गुण हैं। शीतजल और उष्णजल यह काल भेद से होने वाले प्रत्ययों को एक ही जल में प्रमाके रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। ये दोनों स्पर्श क्रमशः तेज संयोग और तेज संयोगाभाव से अभिव्यक्त

होते हैं। अतः एक समय में दोनो प्रत्यय नहीं उत्पन्न होते यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जल मेंउष्णस्पर्श और उसके प्रत्यक्ष के तेज संयोग के कारण मानने की कल्पना भी अपेक्षा 'उष्णजल' प्रत्यक्ष में तेज की उष्णता की ही परम्परा प्रतीत होती है, यही मानना लघुभूत है। क्योंकि तेज (अग्नि) के नष्ट हो जाने पर होने वाली यह प्रतीति, जल उष्ण नहीं है, अप्रमा हो जायेगी। अतः तेज को ही उष्णस्पर्श की समवायिकारण मानना उचित है।

असमवायिकारणता

समवायिकारण में आसन्न अर्थात सन्निहित कारण असमवायिकारण कहलाता है।[७६] समवायिकारण में प्रत्यासन (रहनेवाला) कारण असमवायिकारण होता है। यह प्रत्यासत्ति (रहना) दो प्रकार की होती है। एक को कार्येकार्थ प्रत्यासित्त कहते हैं तो दूसरी को कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति कहते हैं। कार्येकार्थ प्रत्यासत्ति का अर्थ होता है, कार्य के साथ एक अर्थ (अधिकरण) में रहना, तथा कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति का अर्थ है कारण के साथ एक अर्थ में रहना, पहले का उदाहरण है, घटरूपी कार्य के साथ कपाल-संयोगरूपी कारण एक अर्थ (अधिकरण) कपाल कें रहता है। अतः घटरूपी कार्य के लिये-कपालसंयोगरूपी कारण, असमवायिकारण है।

दूसरे का उदाहरण है घट के रूप (रंग) के लिये कपाल का रूप असमवायिकारण है। अपने (घट के) रूप के लिये समवायिकारण घट है। घट और कपाल रूप दोनों ही समवाय सम्बन्ध से कपाल में रहते हैं। अतः दोनों का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य या एकार्थ समवाय है।

घट के लिये जो कपालद्वय का संयोग असमवायिकारण होता है, उसमें रहनेवाली असमवायिकारणता का नियामक सम्बन्ध समवाय है, क्योंकि संयोग गुण है वह कपाल पर जहाँ घट समवाय सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से ही रहता है। परन्तु घट के रूप के लिये असमवायिकारण जो कपाल का रूप है, उसमें रहनेवाली असमवायि-कारणता का नियामक सम्बन्ध है, वह एकार्थ समवाय है। क्योंकि कपाल रूप (रंग) अपने कार्य (घटरूप) के समवायिकारण घट के साथ एक ही अर्थ अर्थात कपाल में समवाय सम्बन्ध से रहता है, अतः वह घटरूप का असमवायिकारण कहलाता है। कपाल के रंग का कार्य घट का रंग है, उसका समवायिकारण घट है, घट चूँकि समवाय सम्बन्ध से कपाल पर रहता है, और वही कपाल का रूप है। इसलिये उनमें एकार्थ समवाय सम्बन्ध है।

अतः समवाय सम्बन्ध से नियमित होनेवाली कार्यता से संकेतित समवाय या स्वाश्रय-समवाय-सम्बन्ध से नियमित कारणताही असमवायिकारणता कहलाती है।[७७] इसलिए द्रव्य या द्रव्य समवेत वस्तु के प्रत्यक्ष के रूप में रहने वाली कारणता या महत्त्व में रहनेवाली कारणता, असमवायिकारणता नहीं है। द्रव्य या द्रव्यसमवेत गुण आदि के प्रत्यक्ष के लिए रूप एवं महत्त्व समवाय तथा स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध से कारण होते हैं। रूप एवं महत्त्व गुण होने से समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहते हैं, तथा स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले पदार्थों में (गुण आदि) रहते हैं। उनमें

रहनेवाली कारणता समवाय सम्बन्धावच्छिन्न या स्वाश्रय-समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न तो है परन्तु वह समवाय सम्बन्धवाच्छिन्न कार्यता से संकेतित नहीं है। वह प्रत्यक्ष में रहनेवाली विषयता सम्बन्ध से नियमित होनेवाली कार्यता से संकेतित (निरूपित) है। उसी प्रकार कपाल में रहनेवाली घटकी समवायिकारणता या तन्तुओं में रहनेवाली पट की समवायिकारणता भी समवाय या स्वाश्रय-समवाय-सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। वह तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित होती है। समवाय सम्बन्ध से घट के लिए कपाल तादात्म्य सम्बन्ध से कारण होता है। अतः वह समवायिकारण है। असमवायिकारण नहीं है।

असमवायिकारण के लक्षण की अति व्याप्ति इच्छा को ज्ञान का कारण मानने पर होती है। समवायिकारण में जो कारण समवाय सम्बन्ध से रहता है उसे असमवायि-कारण कहते है।[५८] ज्ञान के लिए आत्मा समवायिकारण है, तथा इच्छा आत्मा में रह कर ही ज्ञान का कारण होती है, अतः उसे असमवायि-कारण मानना चाहिये। परन्तु किसी भी शास्त्रकार ने इच्छा को ज्ञान का असमवायिकारण नहीं माना है। इसलिए इच्छा में ज्ञान की असमवायिकारणता के निवारण के लिए असमवायिकारण के लक्षण में आत्म विशेष गुण में न रहने वाली कारणता यह कहना आवश्यक है। क्योंकि आत्मा का विशेष गुण किसी भी कार्य के लिए असमवायिकारण नहीं होता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा के विशेष गुण इच्छा आदि को ज्ञान आदि का असमवायिकारण मान लें तो क्या आपत्ति है ? इसके विषय में नैययिकों का उत्तर है, कि ''असमवायिकारणनाशात् कार्यनाशः'' यह नियम है। असमवायिकारण के नष्ट होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है, उदाहरण के लिए तन्तुओं के संयोग के नष्ट हो जाने पर पट नष्ट हो जाता है। या कपालद्वय संयोग के नष्ट होने पर घट नष्ट होता है। परन्तु इच्छा के द्वितीय क्षण में नष्ट होने पर भी ज्ञान नष्ट नहीं होता है। अतः इच्छा में रहनेवाली ज्ञान की कारणता को असमवायिकारणता नहीं माना जा सकता। इसलिए इच्छा को निर्मित नष्ट होने पर कार्य के नष्ट होने का कोई नियम नहीं है। दण्ड, चक्र, या कुम्भकार के नष्ट होने पर घट का नाश नहीं होता है। तन्तुवाय या तुरी आदि को नष्ट होने पर पट का नाश नहीं होता है। अतः वे उन कार्यों के निमित्त कारणमात्र है।

यहाँ मुक्तावलीकार विश्वनाथ ने यह प्रश्न उठाया है कि असमवायिकारणके पूर्वोक्त लक्षणानुसार तुरी तन्तु संयोग पट का असमवायिकारण होना चाहिए, तुरी (करधे का भागविशेष) तन्तु संयोग पट के समवायिकारण तन्तुओं पर समवाय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है, तथा वह कारण भी है।

उसी प्रकार वेग नामक गुण अभिघात नामक संयोग का असमवायिकारण हो जायगा। (जिस संयोग से आवाज उत्पन्न होती है उसे अभिघात-संयोग कहते हैं, जैसे दण्डे और नगाडे का संयोग) क्योंकि वेग, गुण अभिघात से समवायिकारण, दण्ड आदि में समवाय-सम्बन्ध रहता है। तथा वह अभिघात रूप संयोग का कारण भी है। जिस द्रव्य में वेग उत्पन्न होता है, वह उसी में अभिघात को उत्पन्न करता है। दण्ड को वेग से नगाडे पर पटकने से शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्द का कारण अभिघात रूप संयोग है।

उसी तरह स्पर्श-नोदन नामक संयोग का कारण होता है। वह भी असमवायि-कारणता के उक्त लक्षण के अनुसार-असमवायिकारण बन सकता है। परन्तु वेग, तुरी-तन्तु संयोग, ये असमवायिकारण नहीं है। अतः उनमें होनेवाली अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए जिस प्रकार असमवायिकारणता के सामान्य लक्षण में "आत्मवृत्ति-विशेष गुणभिन्नत्व" यह विशेषण जोड़ा गया है। उसी प्रकार पट के असमवायिकारण के लक्षण में "तुरी तन्तुसंयोगभिन्नत्व" यह विशेषण जोड़ना होगा। एवं अभिघाताख्य संयोग के असमवायिकारण के लिए लक्षण में 'वेगभिन्न' यह विशेषण जोडना होगा।[७८]

यहाँ यह भी शंका उपस्थित नहीं की जा सकती कि तुरी तन्तुसंयोग को भी पट का असमवायिकारण मानें तो क्या आपत्ति है ? इसका भी वहीं उत्तर है, कि असमवायिकारण के नाश से, कार्य नाश होता है। यदि तुरीतन्तु संयोगकों भी पट का असमवायिकारण मानें तो उसके नाश से पट नाश हो जाना चाहिये। पर पट के बनने के बाद तुरीतन्तु के संयोग का तो नाश होता है परन्तु पट का नाश नहीं होता है। इसलिए उसे पट के असमवायिकारण के लक्षण का लक्ष्य नहीं स्वीकार कर सकते। अतः पट के असमवायिकारणता के लक्षण में 'तुरी-तन्तु संयोग से भिन्न' यह विशेषण जोड़ना आवश्यक होता है। इस प्रकार से तन्तुओं में समवेत और तुरीतन्तु संयोगसे भिन्न पट का कारण, पट का असमवायिकारण न होने पर भी तुरी पट संयोग का असमवायिकारण होता ही है। उसी प्रकार वेग अभिघात का असमवायिकारण न होने पर भी स्पन्द (क्रिया) आदि का असमवायिकारण होता ही है। उसी प्रकार विभाग के लिए संयोग में जो कारणता है वह भी असमवायिकारणता ही है। यदि विभाग के लिए संयोग को है असमवायिकारण न मानें तो "विभागत्व से नियमित कार्यता से निरूपित संयोग में रहनेवाली कारणाता से भिन्न यह विशेषण असमवायिकारणता के लक्षण में जोड़ना होगा।[७९]

अभिघात आदि संयोगों के लिए वेगस्पर्श आदि जो एकार्थ समवाय सम्बन्ध से कारण हैं वे निमित्त कारण हैं। अतः उनके असमवायिकारण के लक्षण में "तदभिन्नत्व" विशेषण जोड़ा जाता है।[८०]

टिप्पणीयाँ

१. दिनकर; स्वरूप सम्बन्ध विशेषरूप कार्यत्वस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वात्, प्रागभाव प्रतियोगित्वरूप कार्यत्वस्य च हेतुत्वेन तयोरेक्याभावात्।

२. (क) कार्यमात्रवृत्ति जातेः कार्यतावच्छेदकत्व नियमेन
(ख) कार्यमात्रवृत्ति सम्बन्धतया समवायिसिद्धिः। तत्रैव

३. रामरूद; तत्तत्संयोगव्यक्तिनां हेतुत्वोपगमेन व्यर्थ प्रागभाव कल्पनमिति भावः। रामरुद्रयां, प्रत्यक्षखण्डे

४. ननु किमिदं द्रव्यत्वावच्छिन्नरूप कार्यतावच्छेदक कार्यत्वम् ? न जातिरूपं,

ध्वंससाधारण्यात; नाप्युपाधिरूपम्, वहीं

५. विश्वनाथ; गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसंबंधविषया। न्यायासिद्धान्त-मुक्तावल्यां, प्रत्यक्षखण्डे

६. अणुपरिमाणं न कस्यापि कारणम्। वहीं

७. जगदीश; तर्कालकार; जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

८. विश्वनाथ; घटादिपदानां कार्यान्विते शक्ति गृह्णाति। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां, शब्दखण्डे.

९. विश्वनाथ; कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरुः तत्रैव, गुणनिरूपणे

१०. दिनकर; नित्यसाधारणधर्मस्य कार्यतावच्छेदकत्वे दोषाभावात् जन्यपदं न देयमेव। दिनकर्यां, प्रत्यक्षखण्डे

११. उदयन; पूर्वाभावो हि हेतुत्वम्। न्यायकुसुमाञ्जल्याम्

१२. जगदीश; कारणतावादे

१३. स हि स्वरूपसम्बन्धविशेषो न कारणस्वरूपः तदवच्छेदकीभूत धर्मस्वभावो वा ? वहीं

१४. हरिदासी; व्यतिरेकत्वं न कारणत्वं किन्त्वन्यथासिद्धनियतपूर्वभावः। न्यायकुसुमाञ्जल्याः टीकायाम्

१५. गदाधर; यथा घटादिकं प्रति दण्डरूपत्वद्यवच्छिन्नम् दण्डसमवहित चक्रत्वाद्यवच्छिन्नञ्च। कारणतावादे

१६. न्यायसिद्धान्तुमक्तावल्याम्, प्रत्यणखण्डे

१७. गदाधर; अन्यं प्रतिपूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते एव यद्रूपावच्छिन्नस्य प्रकृतकार्य प्रति पूर्ववृत्तिताग्रहस्तद्रूपावच्छिन्नं तत्कार्यं प्रति अनन्यथासिद्धम, यथा ज्ञानादिकं प्रति आकाशत्वाद्यवच्छिन्नम्। कारणावादे

१८. न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां, प्रत्यणखण्डे

१९. गदाधर; अपूर्वादि पूर्ववृत्तित्वमगृहीत्वापि यागत्वाद्यवच्छिन्ने स्वर्गादि पूर्ववृत्तित्व-ग्रहसन्भवादपूर्वद्वारा न यागत्वाद्यावच्छिन्नस्य स्वर्गादि कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। एतादृशस्थल एव व्यापारेण व्यापरिणो नान्यथासिद्धिः। कारणतावादे

२०. न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यांम्, प्रत्यक्षखण्डे

२१. गदाधर; प्रकृतकार्यं प्रति यद्धर्मव्याप्यधर्मस्यागुरोः कारणतावच्छेदकत्व संभवस्तदवच्छिन्नञ्च प्रकृतकार्ये अन्यथासिद्धम्। कारणतावादे

२२. वहीं

२३. अत एव लघुधर्मसमनियतगुरूधर्मावच्छिन्नस्य प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ तद्व्यक्तित्वा-वच्छिन्नस्य च न कारणत्वम्। तत्रैव

२४. एकस्यैव केनचिद्रूपेणान्यथासिद्धत्वात् रूपान्तरेण जनकत्वाच्च अन्यथासिद्धान्यत्वेन न कारणं विशेषणनिष्ठम्। तत्रैव

२५. तथाचान्यथासिद्धच्य निरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तद्धर्मवत्वं तद्धर्मपुरस्कारेण

कारणत्वमिति समुदायार्थः। तत्रैव

२६. वहीं

२७. वहीं

२८. गदाधर; अथ कार्यव्यवहित पूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिर्यः कारणतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावः तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव तत्। गादाधरी, कारणतावादविचिकित्सायाम्

२९. स्वाव्यवहित पूर्वक्षणावच्छिन्नत्स्थलेऽवच्छिन्नत्वतादृशक्षणानवच्छिन्नत्वोभयाभावस्यैवनिवेशनीयत्वात् वहीं

३०. यागादेः स्वर्गादिकारणता निर्वाहाय च तन्नियत पूर्ववृत्तितावच्छेकतान्निय-पूर्ववृतितावच्छेदकावच्छिन्न नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदककान्यतरत्त्वमेव कारणावच्छेदकधर्मे निवेशनीयमम्। वहीं

३१. प्रतियागिवैयधिकरणस्याभाव विशेषणत्वोपगमे..... वहीं

३२. वहीं

३३. तद्घटकान्यथासिद्धिनिरूपक धर्मकूटस्य प्रातिस्विकरूपेण युगसहस्रेणापि ज्ञातुमाशक्यतया कारणत्वस्य दुर्ज्ञेयापत्तिः वहीं

३४. सिद्धान्तविरूद्धप्रवादकाः साम्प्रदायिकाः कारणत्व स्वरूपसम्बन्ध विशेष एवेति। वहीं

३५. अभेदेऽपि तदुपगमे दण्डो घटकारणवानित्यादि प्रतीत्यापतेः वहीं

३६. एवं कार्यत्वाकार्यतात्वे अपि.....। वहीं

३७. कारणतावच्छेदकदण्डत्वमेव कारणत्वम्। वहीं

३८. अभेदेऽपि भिन्नरूपेणावच्छेद्यावच्छेदक भावोपगमे ज्ञप्तिविरहात्। वहीं

३९. जगदीश; सामान्यतः कारणत्वेन निश्चिते वस्तुनि कस्येदं कारणमित्यवान्तर जिज्ञासानुरोधात् कारणत्वं नोन्यरूपं स्वार्थविशेषगभं किन्तु पदार्थान्तरम्। जागदीश्याम् कारणतावादे

४०. तत्त्वावच्छेदकीभूतस्य धर्मस्येव सम्बन्धस्यापि भेदाद् भिन्नमेव। वहीं

४१. कारणातात्वेन अखण्डधर्मान्तरेण वाऽनुगताकारत्वात्। वहीं

४२. सुखत्वावच्छिन्नं प्रति आत्मवेन समवायिकारणव्यक्तेरेव दुःखत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणत्वकल्पने बाधकाभावात्। वहीं

४३. तथापि समवायेन पटत्वावच्छिन्नं प्रति तादाम्येन तन्तुत्वेन हेतुत्वमित्यादि प्रतीत्यैव तत्सिद्धिः। वहीं

४४. तद्रूपेण कारणत्वग्रहं प्रति तद्रूपधार्मिक घटादिनियत पूर्ववर्तितावच्छेदकत्व निश्चयस्य हेतुत्वात्। वहीं

४५. जगदीश; घटादिकार्यस्यानुपस्थितावपि दण्डकारणं न वा दण्डः कारणमित्यादि प्रतीत्यनुरोधेनैव पदार्थान्तस्य तस्योपेतत्वात्। कारणतावादविचिकित्सायाम्।

४६. व्याप्यादिधर्मस्य तथात्वसम्भवे न व्यापकधर्मस्य तथात्वम्। वहीं

४७. घटत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वस्य ग्रहे दण्डघटयोरन्वयव्यतिरेक ज्ञानमपेक्षितम्। वहीं
४८. अन्यथासिद्धय निरूपकस्याश्वमेधत्वादेः सतोऽपि च स्वर्गगत वैजात्यानुपस्थितिं बोधायितुमशक्यत्वात् तादृशविधानामप्रामाण्यापत्तेः। वहीं
४९. दिनकर; यद्रूपावच्छिन्नं स्वकारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्ने समवाय सम्बन्धेनोत्पद्यते तद्धर्धावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नमसवायिकारणमित्यर्थः। प्रत्यक्षखण्डे
५०. जगदीश; समवायसंसर्गावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिकतादात्म्यसंसर्गावाच्छिन्न-कारणत्वं समवायि कारणत्वम्। जागदीशीं, कारणतावादे
५१. विश्वनाथ पञ्चानन; कारिकावल्यां प्रत्यक्षपरिच्छेदे
५२. गदाधर; तत्र समवायसम्बन्धावच्छिन्न कार्यतानिरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-कारणता समवायिकारणता यथा घटादिकं प्रति कपालदेः। गादाधर्यां, कारणतावदे
५३. जगदीश; तद्धर्मावच्छिन्नस्य समवायित्वे सति कारणत्वं तु न तद्धर्मावच्छिन्न-समवायिकारणत्वं जन्यत्वावच्छिन्नं प्रति कालत्वादिना निमित्तकारणतायामति-व्याप्त्यापत्तेः। कारणतावादविचिकित्सायाम्।
५४. देखिये, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, अध्याय २, पाद २, सूत्र १७
५५. अनन्यत्वेऽपिकार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मवं न तु कारणस्य कार्यात्मकम्। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये, --- ९
५६. वाचस्पति मिश्र; कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि प्रमाणानि (१) न पटः तन्तुभ्योभिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्। इह यत् यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति। यथा गौरश्वस्य धर्मश्च पटतन्तूनां तस्मान्नार्थान्तरम् (२) उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः। ययोरर्थान्तरत्वं न तयोरूपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः। उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः, तस्मान्नार्थान्तरत्वम्। (३) इतश्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः संयोगाप्राप्यभावात्। अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्-विन्ध्ययोः। न चेदसंयोगाप्राप्ती तस्मान्नार्थान्तरत्वम्।(४) इतश्च पटतन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरूत्वान्तरकार्याग्रहणात्। इह यद् यस्माद् भिन्नं तत् तस्मात् तस्य गुरूत्वान्तर कार्यं गृह्यते। सांख्यतत्वकौमुद्याम्, सत्कार्यवादनिरूपणे।
५७. विश्वनाथ पञ्चानन; न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यांम् प्रत्यक्षपरिच्छेदे
५८. जगदीश तर्कालंकार; जनकद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति च न स्पर्शवत्वेन समवायि-कारणत्वं, गौरवात्। कारणतावादविधिः, जागदीश्याम्
५९. एवं स्पर्शोऽप्युद्भूतानुदभूतभेदेन द्विविधः अज्ञातकर्तृक अनुद्भूतरूपादि खण्डनवादविधिः।
६०. जगदीश; नचैवं जन्मसंस्कारत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणतावच्छेदकत्वेना-त्मन्यविभुवृत्ति जात्यन्तरसिद्धिप्रसंगः। जागदीश्यां, कारणतावादे
६१. अनुगतधर्मावच्छिन्न कार्यतानिरूपितस्यैव कारणत्वस्य जातिव्यवस्थापकत्वात्। वहीं
६२. तेजःप्रतियोगित्वविशिष्टेन विलक्षणसंयोगत्वेन तादृश गन्धादि हेतुत्वे विलक्षण-

संयोगत्व विशिष्टेन तेजः प्रतियोगित्वेनापि तथात्वापतौ गुरूतर कार्यकारणभाव-द्वयापत्तेः। वहीं

६३. अनुष्णाशीत स्पर्शसामान्यं प्रति पृथ्वीत्वेन समवायिकारणत्वमिति तु रिक्तं वचः। वहीं

६४. जगदीश; सामान्यविशेषयोरेकधर्मावच्छिन्नाप्रयोज्यत्व प्रवादस्य गाथामात्रत्वात् रूपविशेषदेरेकार्य समवायेन निमित्तकारणत्व कल्पनयैवाति-प्रसन्नभजादित्यपि वदन्ति। कारणतावादविधिः, जागदीश्याम्।

६५. तथाविध विशेषसामग्री विरहादेव घटादौ न तादृश रूपसादेरू-त्पादापत्तिप्रसंगः। वहीं

६६. अवयविशैत्यं प्रति अवयवशैत्यस्य हेतुत्वात्। वहीं

६७. अनन्तस्पर्श तन्नाश तद्धेतुत्वादि कल्पनामपेक्ष्य स्वोपादानमेव घर्षकजलनिष्ठ शैत्यातिशयव्यञ्जकत्व कल्पनायां लाघवादिति। वहीं

६८. अनन्तस्पर्श तन्नाशतद्धेतुत्वादि कल्पनामपेध्य क्षोदानामेव घर्ष-कजलनिष्ठ-शैत्यातिशय व्यञ्जकत्व कल्पनायी लाघवादिति सम्प्रदायः। कारणतावाद विचिः जगदीशः।

६९. वहीं

७०. वहीं

७१. वहीं

७२. पाकाप्रयोज्यस्यववद्रवत्वस्य सांसिद्धिकत्वेनकारणताकारणतावादः जगदीश।

७३. पाकस्य स्नेह तद्विनाशौप्रत्यजनकत्वात् वहीं।

७४. स्पर्शसामान्यं प्रति एकार्थ समवायेन स्पर्शस्य विरोधितया शैत्यवतो जलस्य उषणतोत्पत्य सम्भवाच्य - वहीं।

७५. वहीं

७६. समवाय सम्बन्धावच्छिन्न कार्यताविरूपितं समवाय स्वाश्रय समवायानातर प्रत्यासत्या कारणत्वं असमवायिकारणता। वहीं

७७. एवं वेगाणादीनामभिघाताद्य समवायिकारणत्वं स्यात... तत्रकार्यासमवायिकारण-लक्षणे तद् भिन्नत्व देयम् न्या. सि. मुक्तावली प्रत्यक्ष खण्डम्।

७८. विभागत्वाध्वाच्छिन्त कार्यता प्रतियोगिक संयागोदि कृति कारणान्यत्वं वा विशेषणंदेयम्। कारणतावादः जगदीश

७९. अतएवाभिघातादिकं प्रति स्पर्शवेगादेरेकार्थसमवेतत्वप्रत्यासत्या निमित्तकारणतायामपि नातिव्याप्तिः। कारणतावाद जगदीश

❑❑❑

ग्रंथानुक्रमणिका

१) अद्वैत सिद्धिः
२) अवयवप्रकरणम् (गादाधरी)
३) अवच्छेदकत्वनिरूक्ति
४) अनुमानप्रमाण
५) उभयाभावादिवारकपरिष्कार
६) उद्भूतरूपादिखण्डनवाद विधि:
७) कारणतावाद
८) कारणद्वयवाद
९) काव्यप्रकाशव्याख्या
१०) काव्यादर्श
११) कारकचक्रम्
१२) कुमारसम्भवम्
१३) गूढार्थतत्वालोक
१४) गौतमसूत्रम्
१५) चित्सुखी
१६) जागदीशी व्यधिकरणम्
१७) जागदीशी सिद्धान्तलक्षणम्
१८) तत्त्व चिन्तामणि
१९) तर्कामृतम्
२०) तात्पर्यटीका
२१) दायभाग प्रबोधिनी
२२) दिनकरी
२३) दीधिति
२४) न्यायवार्तिक
२५) न्यायकुसुमाञ्जलि
२६) न्यायकोश
२७) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२८) न्यायमंजरी
२९) न्यायसिद्धान्तमंजरी व्याख्या

३०) न्यायबोधिनी

३१) Navya Nyaya System of Indian logic

३२) परिशुद्धि

३३) परिभाषेन्दुशेखर

३४) परिष्कार दर्पण

३५) पक्षता प्रकरणम्

३६) Brif notes 0n The Modern Nyaya system of Philosophycial and it's Technical terms

३७) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य

३८) भाट्ट चिन्तामणि

३९) मणिकण

४०) मंजूषा

४१) Materials for Study of Navya Nyaya logic

४२) रामरूद्री

४३) व्याप्तिपञ्चकम् माथुरी

४४) व्युत्पत्तिवाद

४५) व्युत्पत्तिवाददीपिका

४६) वाक्यदीयम्

४७) वात्स्यायनभाष्य

४८) वाचस्पत्यम्

४९) विषयतावाद

५०) शक्तिवाद

५१) शक्तिवादटीका

५२) शब्दशक्तिप्रकाशिका

५३) सत्प्रतिपक्षप्रकरणम्

५४) सामान्यनिरूक्ति

५५) सामान्याभावप्रकरणम्

५६) सांख्यतत्वकौमुदी

५७) सामान्यनिरूक्ति व्याख्या

५८) सिद्धान्तलक्षण टिप्पणी